Paramarsh

Voi 5 1983—84

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ५ अंक १

दिसम्बर, १९८३ / कार्तिक-मार्गशीर्ष, २०३९

सं पा द क

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

※ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका

※ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : **सुरेन्द्र बारलिंगे ※ राजेन्द्र प्रसाद ※ आनन्दप्रकाश दीक्षित**

कार्यकारी संपादक : **मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ※ सु. ए. भेलके**

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	**संस्थाओं के लिए**	रु. १६-००
(२)	**व्यक्तियों के लिए**	रु. १४-००
(३)	**छात्रों के लिए**	रु. १०-००
	एक प्रति	रु. ०५-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883 / 79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियां भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883 / 79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियां भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: बिशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883 / 79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

धर्मान्तरण का वह विवादास्पद प्रश्न

विवेचन का सही विषय

विवेचन का सही विषय निर्धारित करना यहाँ बहुत आवश्यक है। हम इस प्रश्न को उठाये जाने के योग्य नहीं समझते हैं कि अनुचित रीति से धर्मान्तरण कराना, जैसे अशिक्षित या दरिद्री लोगों को प्रलोभन देने से, क्या एक ऐसी क्रिया हो सकती है जो स्वीकार्य हो सकती है ?. जो अनुचित है उसे न केवल नहीं होना चाहिए, उसका विरोध भी करना आवश्यक होगा, विशेष करके धर्म जैसे पवित्र तत्त्व के प्रसंग में। यह बात वाद-विवाद के बिलकुल परे है। पर हमें तुरंत इस भ्रांतिपूर्ण पूर्वाग्रह पर ध्यान देना चाहिए कि धर्मान्तरण के सभी उदाहरण उस अनुचित प्रकार के होते हैं। धर्मान्तरण की एक अन्य, दोष-रहित धारणा भी हो सकती है। आशा है कि यह इस निबंध से सिद्ध प्रतीत होगी। अतः जिस प्रश्न का हम यहाँ विवेचन करना चाहेंगे वह यह : क्या धर्मान्तरण वास्तव में सार्थक हो सकता है ? दूसरे शब्दों में : बशर्ते कि वह स्वतंत्र रूप से हो, क्या अपना धर्म त्यागकर एक दूसरा धर्म अपनाना बौद्धिक दृष्टि से न्याय-संगत हो सकता है ? या, विरोधाभासी ढंग से, क्या अपना धर्म बदलना एक धर्मानुकूल व्यवहार माना जा सकता है ? सचमुच, प्रश्न स्वयं ही अंतर्विरोधी दिखाई पड़ता है।

प्रश्न को निर्धारित करने के अतिरिक्त यहाँ प्रयुक्त दृष्टिकोण के विषय में भी कुछ कहना ठीक होगा। धर्मान्तरण का विवेचन यहाँ ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं किया जायेगा। इसके दो कारण हैं : पहले, जहाँ धर्मान्तरण के एक विशेष उदाहरण की चर्चा होती है, वहाँ इस बात की जाँच की जाती है कि क्या वह उचित या अनुचित रीति से हुआ। अब, औचित्य के विपरीत हमारा प्रश्न सार्थकता के विषय में है। फिर, धर्मान्तरण की सार्थकता केवल एक या दो उदाहरणों के बल पर सिद्ध नहीं की जा सकती है। दूसरी ओर धार्मिक इतिहास के एक संपूर्ण युग का विश्लेषण करना यह एक विशेषज्ञ के लिए भी बहुत कठिन होगा, हमारे विषय में क्या कहें ? इसलिए तथ्यात्मक दृष्टि को छोड़कर जिस

दृष्टिकोण को हम यहां अपनाते हैं वह शुद्ध सैद्धांतिक है : विवेचन केवल एक विशेष उदाहरण का नहीं है, वह किसी धर्म-विशेष से संबंध भी नहीं रखता है। हमारा दृष्टिकोण यहाँ तक सामान्य, अर्थात् सभी धर्मों के विषय में प्रयोज्य माना जा सकता है कि इस्लाम, ईसाई, हिंदू-धर्म विशेष का उल्लेख करने के बदले अमूर्त रूप से ही 'धर्म' की चर्चा की जायेगी। यहाँ किसी भी धर्म का पक्ष नहीं लिया जाता है। इस तरह सैद्धांतिक दृष्टिकोण को अपनाने के फलस्वरूप जो कुछ सामान्य अर्थ में 'धर्म' के विषय में कहा जायेगा, उसका किसी भी धर्म विशेष के विषय में भी प्रयोज्य होना अनिवार्य है। इससे जो प्रथम निष्कर्ष निकलता है वह यह कि यदि लेखक धर्मान्तरण का समर्थक है (जैसे पाठकों को प्रारंभ से ही स्पष्ट हुआ होगा) तो वह धर्मान्तरण को एक धर्म-विशेष का विशिष्ट अधिकार नहीं मानता है; इसके विपरीत धर्मान्तरण को किसी भी धर्म का अधिकार मानना पड़ेगा।

'धर्म' से यहाँ तात्पर्य क्या है ?

यदि हम वास्तव में सैद्धांतिक रूप से धर्मान्तरण पर मनन करना चाहते हैं तो हमें 'धर्म' की एक ऐसी परिभाषा गढ़ना आवश्यक होगा जो सभी धर्मों के लिए उपयुक्त है। अब, जहाँ तक 'धर्म' का प्रश्न है, यह शब्द-प्रयोग कुछ द्व्यर्थक जान पड़ता है। द्व्यर्थकता इससे उत्पन्न होती है कि 'धर्म' शब्द आकार या रूप की दृष्टि से हिंदी भाषा का शब्द तो है, लेकिन अर्थ की दृष्टि से उसे प्रायः अंग्रेजी जैसी किसी यूरोपीय भाषा के शब्दप्रयोग के अनुसार समझा जाता है। आधुनिक हिंदी में शब्दावली की इस प्रकार की द्व्यर्थकता के बहुत उदाहरण मिलते हैं। इस तरह 'विमान' शब्द का संस्कृत रूप की दृष्टि से तात्पर्य है कुबेर का 'पुष्पक' नामक आकाश में चलने का अलौकिक रथ; दूसरी ओर, प्रचलित अर्थ की दृष्टि से वही शब्द दिल्ली जाने को उस तेज, मगर कीमती साधन की ओर संकेत करता है। अब ये दोनों भिन्न-भिन्न चीजें हैं। 'धर्म' शब्द में भी वही द्विविधता पहचानी जा सकती है। अंग्रेजों से प्रभावित दर्शन-साहित्य में ('दर्शन' भी उसी द्व्यर्थकता का स्पष्ट उदाहरण है!) 'धर्म' से तात्पर्य परंपरागत प्रयोग की अपेक्षा अधिक सीमित जान पड़ता है। मुख्य प्रभेद इसमें है कि हिंदू शब्दप्रयोग के विपरीत पाश्चात्य शब्दार्थ के अनुसार धर्म को नैतिकता एवं सांस्कृतिक परंपरा से भिन्न समझा जाता है। उस द्व्यर्थकता से दूर रहने के लिए यह कहना पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत लेख में 'धर्म' शब्द को परंपरागत हिंदू अर्थ में नहीं लिया जाता है, वरन् एक ऐसे अर्थ में जो अन्य धर्मों के विषय में भी प्रयोज्य है और जिसे हम अभी परिभाषित करने का प्रयास करेंगे।

प्रारंभ में यह कहा जा सकता है कि धर्म मानव संस्कृति का एक पहलू अवश्य है, किंतु इससे बढ़कर यह कहना कहीं अधिक उचित होगा कि धर्म स्वयं ही अनेक पहलुओं की एक समष्टि है। इस तरह धर्म में सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, या भावात्मक जैसे नाना प्रकार के पहलू पहचाने जा सकते हैं, यहाँ तक कि हमें संस्कृति की तुलना में धर्म को ही अधिक विस्तृत तत्त्व कहना पड़ेगा। फिर जिन्हें अभी सामान्य रूप से 'पहलू' कहा गया है, उन्हें 'मूल्य' कहना बहुत उपयुक्त होगा। मूल्य तो वास्तविकता के वे पहलू माने जाते हैं जो मानव से घनिष्ठ संबंध रखते हैं। अतः प्रारंभिक परिभाषा को और निश्चित करके धर्म को **मानव मूल्यों** की समष्टि कहा जा सकता है। पर प्रस्तुत परिभाषा तब तक अपूर्ण बनी रहेगी जब तक उसकी विशिष्टता व्यक्त रूप से नहीं दिखायी जाये सांस्कृतिक इतिहास में 'मूल्यों की समष्टि' के तो ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जो 'धार्मिक' कहलाने से इन्कार करते हैं: उनमें से कुछ 'धर्म निरपेक्ष' मात्र हैं, तो दूसरे व्यक्ति रूप से धर्मविरुद्ध समाज का आदर्श अपनाते हैं। उनके विपरीत धार्मिक समाज की विशेषता यह है कि इसमें प्रचलित दृष्टिकोण ऐहिक मात्र। न होकर आध्यात्मिकता को सभी मूल्यों का आधार मानता है। इस संदर्भ में 'आध्यात्मिकता' से तात्पर्य कुछ अस्पष्ट है: इसके अनुसार आधारभूत मूल्य को या तो ईश्वर या कोई अन्य परम तत्त्व, हां मुक्ति या निर्वाण जैसा कोई पारलौकिक आदर्श भी कहा जा सकता है। मूल्यों की संपूर्णता पर **आध्यात्मिक या पारमार्थिक** दृष्टिकोण को अपनाना, हम इसी को सभी धर्मों का सारतत्त्व मानते हैं।

प्रस्तुत परिभाषा में एक-दो निष्कर्ष निहित हैं जिन्हें यहाँ स्पष्ट करना वांछनीय जान पड़ता है। एक तो, यदि धर्म को परम मूल्य पर आधारित मूल्यों की समष्टि कहा जा सकता है, तो स्पष्ट है कि जैसे मूल्यों का समन्वय विविध दृष्टियों की समष्टि कहा जा सकता है, वैसे ही धर्मों की विविधता भी होगी। अब, धर्मों की अनेकता मात्र स्वीकार करने के अतिरिक्त (यह तो प्रत्यक्ष तथ्य ही है), कहने का सही तात्पर्य यह है कि पूर्ण या उपयुक्त धर्म एक नहीं, अनेक होंगे। कारण, मूल्यों के पारस्परिक संबंध या संघटन पर अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं। अब धर्म को मूल्यों की समष्टि पर विशिष्ट दृष्टिकोण कहा गया है। दूसरी ओर धर्मों की अनेकता, हाँ सार्थक एवं स्वीकार्य धर्मों की **अनेकता**, धर्मों की **समता** से भिन्न बात है। असमता के अभाव में तो अनेकता तक नहीं हो सकती है। फिर, शुद्ध अमूर्त दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मों की अनेकता, अतः विविधता की स्थिति में उनमें से किसी एक को चुनने की संभावना निहित है। इस तरह धर्मान्तरण को धर्म की धारणा से निष्कर्ष के रूप में निकाला जा सकता

है। इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि धर्मान्तरण की धारणा विविध धर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न भी होगी। कारण, धर्म जैसी समष्टि-विशेष में पृथक्-पृथक् अंगों का स्थान भिन्न-भिन्न होगा। अतः यह अपेक्षित ही है कि जो एक धर्म विशेष के अनुसार मान्य हो, उसे किसी दूसरे धर्म के लिए पूर्णतया धर्म-प्रतिकूल माना जायेगा। दूसरे शब्दों में, धर्मान्तरण एक ऐसा सिद्धांत नहीं है जो सभी धर्मों में समान रूप से स्वीकार किया जायेगा। इसके विपरीत मूल्यसमष्टि का एक अंग होने के कारण धर्मान्तरण की धारणा एक समष्टि-विशेष से संगत होते हुए भी किसी दूसरी समष्टि के संदर्भ में अंतर्विरोधी जान पड़ेगी। जो धर्मों की विविधता स्वीकार करता है, उसे धर्मान्तरण के विषय में भी मतभेद मानना होगा।

कुछ ऊपर यह कहा गया है कि अनेकता के साथ धर्मों की विविधता भी एक प्रत्यक्ष बात है। धर्मान्तरण के वर्तमान प्रसंग में यहां यह जोड़ना बहुत उपयुक्त है कि धर्मों का दो मुख्य वर्गों में वर्गीकरण किया जा सकता है। एक वर्ग ऐसे धर्मों का है जो अपने को ही अन्यों की अपेक्षा परम मानते हैं; दूसरे इस प्रकार का कोई दावा नहीं करते हैं। पहले वर्ग के उदाहरण हैं यहूदी, ईसाई एवं मुसलमानी धर्म। स्पष्ट है कि चरम होने का दावा करनेवाले धर्मों से अपेक्षित है कि वे अपनी मान्यता को सिद्ध करें। कहाँ तक उस प्रकार की प्रामाणिकता किसी अन्य धर्म के अनुयायियों के लिए स्वीकार्य होगी, यह दूसरी बात है। पर उक्त धार्मिक परंपराओं के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वे अपनी ओर धर्मान्तरण की संभावना, हां उसकी आवश्यकता भी मानें। वे तो अपने को परम, अतः श्रेष्ठ भी मानते हैं। फिर, प्रामाणिकता का प्रश्न छोडकर, श्रेष्ठता का दावा इस प्रकार के धर्मों में प्रचलित परम तत्त्व की धारणा से असंबंधित नहीं है। वास्तव में वे ही धर्म चरम होने का दावा करते हैं, जिनमें परम तत्त्व को शुद्ध एकेश्वरवादी रूप से माना जाता है। धार्मिक दृष्टिकोण समष्टि-स्वरूप होने के कारण यह अपेक्षित है कि धर्मान्तरण की धारणा धर्म-विशेष में स्वीकृत अन्य मान्यताओं से सहसंबद्ध होगी। फलतः उपर्युक्त प्रकार के एकेश्वरवादी धर्मों के विपरीत अन्य धर्मों में श्रेष्ठता-दावे के साथ-साथ धर्मान्तरण की धारणा का भी अभाव होगा।

धर्मान्तरण एवं धार्मिक स्वतंत्रता

इन प्रारंभिक विषयों के पश्चात् हम अब धर्मांतरण संबंधी अपने मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन करें। संक्षेप में : धर्मान्तरण दुगुने रूप में धार्मिक रूप में धार्मिक स्वतंत्रता से संबंधित है : पहले निष्कर्ष के रूप में, दूसरे शर्त के रूप में। पर प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार मनुष्य विविध मूल्यों, और विशेष करके परम

मूल्य के प्रति अपने संबंध को धर्म के संदर्भ में स्थापित करता है। अब, क्योंकि बात मूल्यों की है, और अंततः आध्यात्मिक परम मूल्य की, इसलिए यह आवश्यक होगा कि मानव स्वतंत्र रूप से ही उनके विषय में निर्णय करे। दूसरे शब्दों में, जहाँ धर्म का प्रश्न होता है व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं ही अपना धर्म अपनाये। इसका एक निष्कर्ष यह है कि धर्म-प्राप्ति के विषय में मात्र परंपरा द्वारा बाधित होना धर्म के विरुद्ध है। इससे यह दूसरा निष्कर्ष भी निकलता है कि अपने परंपरागत धर्म की अपेक्षा किसी दूसरे धर्म को चुनना असंगत नहीं जान पड़ता है। पर यहाँ तुरंत यह जोड़ना उचित होगा कि परंपरागत धर्म-गुरु जैसी पूजनीय एवं आदरणीय बात है। इसके अतिरिक्त, स्वतंत्रता को महत्त्वपूर्ण मानने पर भी हमें अति-व्यक्तिवाद से दूर रहना चाहिए। अब व्यक्ति समाज, अतः परंपरा से पृथक् तत्त्व नहीं है। इसलिए अपने लिए उपयुक्त धर्म के विषय में निर्णय करते समय व्यक्ति को परंपरा से प्राप्त धर्म का ध्यान जरूर रखना पडेगा। साथ ही साथ कोई भी परंपरा व्यक्ति की अन्य धर्म अपनाने की स्वतंत्रता को बाधित नहीं कर सकती है।

अब तक यह दिखाया गया है कि धर्मान्तरण की संभावना धार्मिक स्वतंत्रता में निष्कर्ष के रूप में सन्निहित है : जो एक को मानता है, वह दूसरे को भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। दूसरी ओर धार्मिक स्वतंत्रता एवं धर्मांतरण के इस संबंध में यह भी निहित है कि धर्म की प्राप्ति, चाहे वह अपने धर्म की हो या किसी पराये धर्म की, तभी सार्थक होगी जब वह स्वतंत्र रूप से होती है। या यों कहें कि धर्मान्तरण के लिए सार्थक और अस्वीकार्य होने की शर्त यह है कि वह स्वतंत्र रूप से किया जाये। जो दबाव से किसी दूसरे धार्मिक समाज में शामिल किया जाता है, वह उस धर्म को 'अपना' नहीं कह सकता है। ठीक उसी प्रकार जो मात्र परंपरा से विवश होकर जन्म से धर्म में शामिल रहता है, वह उसे 'अपना' नहीं मान सकता है। उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि यहाँ प्रस्तुत धर्मान्तरण की धारणा मानव-स्वतंत्रता की माँग पर आधारित है। इस दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में मानव व्यक्ति का आदर्श भी विद्यमान है : स्वतंत्रता तो, विवेक के साथ, मानव व्यक्ति का लक्षण कही जा सकती है।

यहाँ उस मूल-सिद्धांत का स्पष्टीकरण करना या कई अव्यक्त आक्षेपों का प्रत्युत्तर देना वांछनीय है। हमने यह कहा है कि सार्थक धर्मान्तरण की अनिवार्य शर्त व्यक्ति-विशेष का अपना स्वतंत्र निर्णय है। इसमें यह भी निहित है कि जो अपना धर्म चुनना चाहता है, वह अपने विवेक के बल पर ही ऐसा करता है। सिर्फ वही जो किसी अन्य (या अपने) धर्म की अपेक्षा एक धर्म-विशेष की

श्रेष्ठता पहचानता है, वही विवेक-पूर्ण रूप से इस धर्म को अपनाने का स्वतंत्र निर्णय कर सकता है। अब स्पष्ट है कि धर्मान्तरण के अधिकांश उदाहरण व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामूहिक ही हैं। इसके अतिरिक्त हम सब धर्मप्रचारकों के विरुद्ध लगाये उस आरोप से परिचित हैं कि वे अशिक्षित लोगों को अपने धर्म की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। अब, शिक्षा के अभाव में धर्म जैसी गंभीर समस्याओं के विषय में विवेक एवं स्वतंत्रता की संभावना कहाँ? प्रस्तुत लेख का तात्पर्य यह नहीं है कि वह 'जबरदस्ती धर्मपरिवर्तन' के आरोप का खंडन करता है। इसके विपरीत हमारा सही प्रश्न यह है कि क्या अशिक्षित वर्गों का सामूहिक धर्मान्तरण स्वतंत्र और सार्थक हो सकता है या नहीं? अब हम यह मानते हैं कि विवेकपूर्ण निर्णय न केवल पृथक् व्यक्ति का, बल्कि एक संपूर्ण वर्ग का भी हो सकता है। एक तो, किसी जनसमूह के अपने नेता होते हैं जिन्हें किसी अर्थ में जनसाधारण की आत्मा या बुद्धि माना जा सकता है। जहाँ तक वे प्रमुख व्यक्ति जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे उनकी अव्यक्त वाणी या निर्णय प्रकट करते हैं। फिर, कोई भी सामाजिक वर्ग, हम उसे कितना अशिक्षित क्यों न मानें, अपने हित से संबंधित बातों के विषय में विवेक या पहचान से रहित नहीं है। और यदि धर्म अपने स्वभाव से सामाजिक कल्याण से भी संबंध रखता है, तो एक सामाजिक वर्ग—सामूहिक रूप से भी— अपने हित की दृष्टि से एक धर्म की श्रेष्ठता पहचानने में असमर्थ नहीं है। उदाहरणार्थ, कोई भी वर्ग सूक्ष्म दृष्टि से यह पहचान सकता है कि किस धार्मिक परंपरा में उसे सामाजिक बातों में न्याय प्राप्त हो सकता है या नहीं। हम यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि बुद्धि के अभाव के बल पर सार्थक सामूहिक धर्मान्तरण के विरुद्ध जो दोष लगाये जाते हैं, वे वास्तव में निस्सार प्रतीत होते हैं।

धर्म का संस्कृति से संबंध

ऊपर धार्मिक स्वतंत्रता के बल पर धर्मान्तरण की संभावना सिद्ध की गयी है। किन्तु धर्म का संस्कृति से संबंध देखकर उस सिद्धांत के विरुद्ध गंभीर आक्षेप उठाये जा सकते हैं, जिनका हमें अब सामना करना है। विपक्षी का दृष्टिकोण इस अति प्रचलित मान्यता में व्यक्त है जिसके अनुसार वही धर्म अन्यों की अपेक्षा व्यक्ति-विशेष के लिए उपयुक्त है जो उसे जन्म से प्राप्त हुआ है। यदि किसी व्यक्ति का जन्मजात धर्म उसके स्वभाव से अभिन्न माना जा सकता है, तो कौन उस स्वधर्म के बदले कोई दूसरा, पराया धर्म— वह कितना श्रेष्ठ क्यों न हो— अपना सकेगा? इस संदर्भ में भगवद्गीता की चेतावनी बहुत उपयुक्त सुनाई

पड़ती है : 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' (३.३५)। भाषा इस बात का एक स्पष्ट उदाहरण है : हममें से कौन अपनी मातृभाषा से बढ़कर किसी दूसरी, सीखी हुई भाषा के माध्यम से अपना भाव अनायास प्रकट कर सकता है ? तो क्या दूसरी संस्कृति का धर्म भी किसी उधार ली हुई पोशाक के समान किसी के लिए कभी उपयुक्त हो सकेगा ?

आक्षेप निस्सार नहीं है। धर्म की परिभाषा गढ़ते समय हमने भी संस्कृति को धर्म का अंगभूत पहलू कहा है। अब, संस्कृति प्रकृति पर आधारित है; संस्कृति तो प्रकृति का सूक्ष्म रूप ही कही जा सकती है। तो संस्कृति-विशेष के संदर्भ में उत्पन्न हुआ धर्म उस प्रजा-विशेष का सांस्कृतिक स्वभाव ही मालूम पड़ता है। हम इस बात को इन्कार नहीं कर सकते हैं : धर्म का संस्कृति से बहुत घनिष्ठ संबंध है; अतः जैसे अपनी संस्कृति को छोड़ना अपने को उखाड़ने के समान लगता है— संस्कृति तो स्वभाव से अभिन्न है— वैसे ही संस्कृति के साथ-साथ परंपरागत धर्म को त्यागना आत्महत्या के बराबर ज़रूर होगा। सच, किन्तु यथार्थ प्रश्न यह है कि धर्म एवं संस्कृति का संबंध वास्तव में किस प्रकार का है ? अब उपर्युक्त आपत्ति से ऐसा जान पड़ता है कि दोनों का तादात्म्य मान लिया जाता है। धर्मान्तरण को इसलिए अस्वाभाविक कहा जाता है क्योंकि धर्म संस्कृति के समान जन्मजात स्वभाव से अभिन्न माना जाता है। इसके विपरीत हम धर्मान्तरण की संभावना का इसलिए मंडन करते हैं क्योंकि हम धर्म को संस्कृति से अभिन्न तत्त्व नहीं मानते हैं।

लेकिन भिन्नता से तात्पर्य संबंध का पूरा अभाव नहीं है। धार्मिक इतिहास में ऐसे बहुत उदाहरण उपलब्ध हैं जिनसे स्पष्ट है कि धर्मान्तरण के साथ-साथ संस्कृति का परिवर्तन भी हुआ है। हमारे देश की धार्मिक वास्तुकला उस दुगुने परिवर्तन का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करती है। इतना ही नहीं, वेश, भाषा प्रथाओं आदि की विविधता भी धर्म-विशेष की सदस्यता को स्पष्ट रूप से दिखाती है। इस बात का विस्तार करना अनावश्यक है, किंतु इससे बढ़कर उस प्रश्न का उत्तर देना बहुत अधिक उपयोगी होगा कि ऐसा क्यों होता है ? धर्मान्तरण के फलस्वरूप संस्कृति में भी परिवर्तन क्यों होता है ? एक तो, धर्म और संस्कृति एक दूसरे से असंबद्ध नहीं हैं : अतः एक का दूसरे पर प्रभाव अवश्य ही पड़ेगा। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप धर्म के क्षेत्र में भी लापरवाही या असंयम बढ़ता है। दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि संस्कृति धार्मिक मूल्यों का प्रत्यक्ष रूप प्रस्तुत करती है। मूल्यों का जो आदर्श धर्म-विशेष द्वारा प्रतिपादित किया जाता है, उसका साक्षात् रूप

संस्कृति विशेष में विद्यमान है। अतः यह स्वाभाविक है कि जो किसी दूसरे धर्म को अपनाता है, वह एक ऐसी संस्कृति को भी प्राप्त करने के लिए तत्पर होगा जिसमें उसका नया आदर्श मूर्त रूप से अस्तित्व रखता है। हाँ, धर्मप्रचार का ऐसा सिद्धांत प्रचलित भी है या था जिसके अनुसार संस्कृति का परिवर्तन धर्मान्तरण की अनिवार्य भूमिका माना जाता है।

धर्मान्तरण की संभावना के समर्थक होते हुए भी हम तथा-कथित संस्कृति-परिवर्तन की आवश्यकता पूर्णतया अस्वीकार करते हैं और उसका विरोध भी करते हैं। उसकी जड़ में वही भ्रांतिपूर्ण मान्यता है जिसपर जन्मजात धर्म का सिद्धांत भी आधारित है, और वह है संस्कृति एवं धर्म का अनुमानित तादात्म्य। यदि दोनों का संबंध वास्तव में अविच्छेद्य होता, तो अन्य धर्म-प्राप्ति के साथ दूसरी संस्कृति को भी अपनाना अनिवार्य होता। तादात्म्य के अभाव में धर्म एवं संस्कृति का पारस्परिक संबंध वास्तव में किस प्रकार का है? दोनों का घनिष्ठ संबंध अवश्य ही पहचानना पड़ता है, लेकिन उसमें संस्कृति की अपेक्षा धर्म की प्रधानता स्वीकार करनी होगी। कुछ सरल रूप में ऐसा कहा जा सकता है कि धर्म संस्कृति का परिणाम नहीं है; इसके विपरीत संस्कृति धर्म का परिणाम है। इस प्रधानता का कारण यह है कि धर्म सभी मूल्यों को— जिनमें सांस्कृतिक मूल्य भी सम्मिलित हैं— परम मूल्य के परिप्रेक्ष्य में स्थापित करता है। इस तरह धर्म को संस्कृति-विशेष का निदेशक माना जा सकता है। बात कुछ सैद्धांतिक या अमूर्त प्रतीत हो सकती है, लेकिन धर्मान्तरण के प्रसंग में उसकी उपादेयता तुरंत स्पष्ट हो जायेगी।

मान लीजिए कि कोई व्यक्ति या वर्ग स्वतंत्र रूप से किसी अन्य धर्म को अपनाने का निर्णय करे, तो उनकी परंपरागत संस्कृति की दृष्टि से धर्मान्तरण का परिणाम क्या होगा? क्या नव-दीक्षित को अब विदेशी ढंग भी अपनाना पड़ेगा? धर्म एवं संस्कृति के तादात्म्य की दृष्टि से दोनों का परिवर्तन अनिवार्य जान पड़ता है। लेकिन धर्म की प्रधानता की दृष्टि से? इस दूसरे दृष्टिकोण से धर्मान्तरण के साथ-साथ परंपरागत संस्कृति की मौलिकता को पूरा बचाया जा सकता है। निस्संदेह नये प्राप्त धर्म के संदर्भ में सांस्कृतिक मूल्यों का कोई-न-कोई परिवर्तन जरूर होगा। यह उपर्युक्त उस कथन में निहित है कि संस्कृति को धर्म का परिणाम माना जा सकता है। किंतु महत्त्व की बात यह है कि संस्कृति पर धर्म का प्रभाव उस संस्कृति के अंतर्गत ही रहेगा। अतः अन्य धर्म में दीक्षा लेने के फलस्वरूप किसी को दूसरी परायी संस्कृति को क्यों अपनाना पड़े? वह न तो आवश्यक है, न वांछनीय ही। इसके विपरीत यह अपेक्षित है कि नये प्राप्त धर्म

का प्रभाव परंपरागत संस्कृति पर अपना हितकारी प्रभाव डालेगा। पर यह बहुत उल्लेखनीय बात है कि संस्कृति पर धर्म का अनिवार्य प्रभाव संस्कृति विशेष का विकास है, न कि उसकी समाप्ति। नये प्राप्त धर्म के फलस्वरूप परंपरागत संस्कृति बदल सकती है; उसके स्थान पर कोई परायी संस्कृति नहीं आनी चाहिए।

बात काफी सूक्ष्म है और उसकी विकृति बहुत संभव। धार्मिक इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ धर्मप्रचारक के नाम से परंपरागत संस्कृति पर चोट लगायी गयी है। दूसरी ओर इतिहास में, हां हमारे दैनिक वातावरण में भी, ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जो यहाँ प्रस्तुत सिद्धान्त को सिद्ध करते हैं। भारतीयता का सिर्फ एक धर्म से समन्वय नहीं है; यह भारतीय संस्कृति का गौरव है कि उसकी गोद में विविध धर्मों के लिए अनूकूल वातावरण मिलता है। जैसे कोई भाषा अन्य भाषाओं की शब्दावली अपनाने से और समृद्ध होती है, वैसे ही संस्कृति की समृद्धि इसमें है कि वह अन्य परंपराओं से प्राप्त हुए तत्त्वों को आत्मसात् करने में सफल है। जहाँ तक धर्म का प्रश्न होता है यह कहा जा सकता है कि कोई धर्म जितनी अधिक सांस्कृतिक परंपराओं से मेल खा सकता है, वह उतना ही अधिक मानवीय धर्म भी जान पड़ता है। या यों कहें कि धर्म-विशेष तभी मानव धर्म होगा जब वह सभी सांस्कृतिक परंपराओं को आत्मसात् करने में समर्थ होगा। फिर, जितना अधिक कोई धर्म संस्कृति से स्वतंत्र संबंध रखता है, उतना अधिक वह किसी भी संस्कृति से असंगत नहीं होगा। अधिक सही रूप में : यदि संस्कृति की अपेक्षा धर्म की प्रधानता हो तो वही धर्म सच्चे अर्थ में धर्म होगा जो किसी भी संस्कृति को अपनाकर उसे उचित रीति से रूपान्तरित करने में समर्थ प्रतीत होता है। धर्म एवं संस्कृति के संबंध विषयक तर्कसंगत सिद्धांत के अभाव में धर्मान्तरण की संभावना का मण्डन करना बहुत कठिन होगा। आशा है कि ऊपर प्रस्तुत सुझाव उसका रास्ता प्रशस्त करने में उपयोगी होगें।

सभी धर्मों की समता ?

विपक्षी की धर्मान्तरण के विरुद्ध एक दूसरी आपत्ति यह है कि सभी धर्म अंततः समान ही हैं, तो एक धर्म-विशेष की अपेक्षा किसी दूसरे को अपनाने की जरूरत कहां ? यह मान्यता जन्मजात धर्म के उपर्युक्त सिद्धान्त से असंबद्ध नहीं है। यद्यपि सभी धर्मों को बराबर कहा जाता है, फिर भी धर्म को अपनाने की इसलिए छूट नहीं है क्योंकि प्रत्येक का परंपरागत धर्म अन्यों की अपेक्षा उसके लिए अधिक उपयुक्त कहा जाता है। अब, इस बात को छोड़ कर कि धर्मों की

समानता धर्मान्तरण से असंगत है, हमें ऐसा लगता है कि यह सिद्धान्त वास्तव में निराधार है। जैसे डॉ. भगवान् दास ने उसे प्रतिपादित किया है धर्म के बारे में इन दो बातों में प्रभेद करना पड़ता है, अर्थात् विभिन्न धर्मों का बाहरी रूप और उनका आंतरिक मर्म। पहले को विविध माना जाता है, तो दूसरे को समरूप। अब हम यह मानते हैं कि इसके विपरीत उलटी बात मानना अधिक उपयुक्त होगा : बाहरी दृष्टि से विविध धर्म उतने असमान नहीं हैं जितने कि आंतरिक दृष्टि से। उदाहरणार्थ, परम तत्त्व की अखंड एकता की जिस अंतर्दृष्टि पर इस्लाम आधारित है, उसे ईसाई धर्म जैसे अन्य एकेश्वरवादी धर्मों में नहीं पाया जा सकता है। ईसाई धर्म में तो एकेश्वरवाद के साथ त्रित्ववाद भी माना जाता है। दूसरी ओर बाहरी दृष्टि से इस्लाम में धर्मग्रंथ, सामूहिक प्रार्थना, उपवास, आदि ऐसी बातों की कमी नहीं है जो अधिकांश अन्य धर्मों में भी उपलब्ध प्रतीत होती हैं।

लेकिन हम यहाँ इस बात का विस्तार नहीं कर सकते हैं। धर्मों की समता का खंडन करने का मुख्य कारण यह है कि वह मान्यता सापेक्षवाद से अभिन्न है। अब, ऊपर धर्म की परिभाषा का यह एक मूलभूत अंग कहा गया है कि धर्म के संदर्भ में मानव का **परम तत्त्व** से संबंध स्थापित किया जाता है। धर्म-विशेष के अनुसार परम-तत्त्व को अवश्य ही विविध रूप में माना जा सकता है। इस तरह ईसाई भक्त के लिए ईश्वर प्रेम है, तो गांधीजी के लिए ईश्वर को सत्य कहा जाता है। (यह ऊपर कही हुई मूलभूत अंतर्दृष्टि की असमानता का एक और उदाहरण है)। पर महत्त्व की बात यह है कि यदि धर्म वास्तव में परम तत्त्व से संबंध रखता है (परम तत्त्व की पहचान में कितनी अधिक विविधताएँ क्यों न हो) तो उसमें सापेक्षतावाद के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। सत्य तो सत्य है ही। हाँ, परम तत्त्व या सत्य को **हमारी पहचान** समझ के अनुसार अवश्य ही नाना प्रकार की हो सकती है। पर उस विषयिनिष्ठ विविधता के बावजूद भी यह सिद्ध माना जा सकता है कि यदि धर्म वास्तव में परम तत्त्व से संबंध रखता है, तो धर्म के क्षेत्र में विषयनिष्ठ दृष्टि से निरपेक्षवाद को स्वीकार करना असंगत नहीं है। अब धर्म-समानता के अनुसार धर्म के क्षेत्र में सापेक्षता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। इस अति-सिद्धान्त का हम इसलिए विरोध करते हैं क्योंकि यह धर्म के परम तत्त्व से विषयनिष्ठ संबंध को नष्ट करता है।

जो विविध धर्मों की समानता स्वीकार करने से इन्कार करता है, उसे धर्मों की असमानता माननी पड़ेगी। अब धर्म जैसी भावनात्मक बात के विषय में एक को उच्चतर, दूसरे को निम्नतर स्तर का घोषित करना अवश्य ही अप्रिय और घृणास्पद सुनाई पड़ता है। उससे कहीं अधिक उदार दृष्टिकोण यह मालूम पड़ता है जिसके अनुसार हर धर्म उस जाति के लिए उत्तम कहा जाता है जिसकी संस्कृति से वह उत्पन्न हुआ। इसके अनुसार तो एक को नहीं, वरन् सभी धर्मों को श्रेष्ठ माना जा सकता है– जाति-विशेष की अपनी-अपनी दृष्टि से। किन्तु प्रश्न है कि धर्म के विषय में 'असमानता' से सही तात्पर्य क्या है? जब तक धर्म को संस्कृति से अभिन्न माना जायेगा अनिवार्य रूप से धर्म की असमानता के साथ संस्कृति की असमानता भी संयुक्त होगी। अब संस्कृति के क्षेत्र में हम इस सिद्धांत के दृढ़ समर्थक हैं कि प्रत्येक जाति के लिए वही संस्कृति अधिक उपयुक्त है जिसे उसने पैदा किया है। फिल्मी गीत के शब्दों में अपने विषय में कोई भी संस्कृति यह कह सकती है कि 'हम किसी से कम नहीं'।

तो स्पष्ट है कि **धर्मों** की असमानता को स्वीकार करने की एक माँग यह होगी कि हम धर्म को संस्कृति से विच्छिन्न करें। यह तत्संबंधी हमारे ऊपर प्रस्तुत सिद्धांत से पूर्णतया संगत भी है। आखिर धर्म की असमानता से तात्पर्य क्या? वह इतना ही कि जहाँ सही अर्थ में धर्म का प्रश्न है, वहाँ हमें इस बात की **संभावना** माननी होगी कि एक धर्म-विशेष, और वास्तव में सभी धर्मों में से केवल एक धर्म ही, अन्यों की अपेक्षा संपूर्ण हो सकता है। इस संदर्भ में 'संपूर्णता' का अर्थ यह है कि उस धर्म में परम तत्त्व को यथासंभव उसकी संपूर्णता में पहचाना जा सकता है। उस संभावना का आधार धर्म की परिभाषा में निहित है। कारण, यदि धर्म के माध्यम से मनुष्य परम तत्त्व से अपना संबंध स्थापित करता है, फिर, उपर्युक्त बातों के अनुसार परम तत्त्व के विषय में सापेक्षवाद अस्वीकार्य भी है, तो एक विशिष्ट धर्म में परम तत्त्व की प्राप्ति पूर्ण रूप से उपलब्ध है इसे हमें कम-से-कम **परिकल्पना** के रूप में मानना होगा। इसके विपरीत जहाँ परम तत्त्व को धार्मिक प्रयास के परे माना जाता है, वहाँ सापेक्षवाद के साथ धर्मों की समानता अर्थात् परम तत्त्व को प्राप्त करने में उनकी समान असमर्थता एक अनिवार्य निष्कर्ष होगी। या, जहाँ सभी धर्मों को अपूर्ण माना जाता है, वहाँ उन्हें सब-के-सब बराबर भी कहना स्वाभाविक है।

संपूर्णता की उक्त बात कुछ और स्पष्ट करना वांछनीय है। यदि धर्म को मनुष्य का परम तत्त्व से संबंध कहा जा सकता है तो हर संबंध के समान धार्मिक

संबंध में भी दो पक्ष विद्यमान होंगें। धर्म के विशेष उदाहरण में ये दो पक्ष क्रमशः मनुष्य एवं परम तत्त्व जान पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त दो पक्षों के बीच में जो गति है वह दोनों दिशाओं में भी हो सकती है, अर्थात् मनुष्य से परम-तत्त्व की ओर, और इसके विपरीत परम तत्त्व से मनुष्य की ओर। इस तरह धार्मिक संबंध में पारस्परिकता पहचानी जा सकती है। इतना ही नहीं, धर्म के उस आदान-प्रदान में प्राथमिकता परम तत्त्व को ही– वह तो परम है– देनी होगी। फिर, यदि ऐसा हो, तो यह मानना असंगत नहीं होगा कि परम तत्त्व मानव भक्त के हित के लिए अपने को प्रकट कर सके। वास्तव में परम तत्त्व की ओर से यह प्रकटन आवश्यक भी जान पड़ता है: उसके अभाव में मानव परम सिद्धि प्राप्त करने में असमर्थ ही रहेगा। बस, उपर्युक्त बातें ऊपर प्रस्तुत सुझाव को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं, अर्थात् कि कोई धर्म दूसरों की तुलना में संपूर्ण हो सकता है— अर्थात् वही जिसमें परम तत्त्व अपने को पूर्ण रूप से प्रकट करे। हमें तुरंत यह चेतावनी देनी है कि इस सिद्धांत से यह निष्कर्ष निकालना बिल्कुल अनुचित होगा कि उस चुने हुए धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म सब-के-सब व्यर्थ और निस्सार हैं। परम तत्त्व अपने को भिन्न-भिन्न रूप से विविध धर्मों में प्रकट कर सकता है, यद्यपि यह कहना स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता है कि वह अपने को **पूर्ण रूप से** मूलतः भिन्न धर्मों में प्रकट कर सके। लेकिन एक की संपूर्णता दूसरों की श्रेष्ठता से असंगत नहीं है। यह सच है कि धर्मान्तरण की संभावना तर्कसंगत रूप से नहीं बचायी जा सकती है जब तक धर्म-विशेष की संपूर्णता नहीं मानी जाये। किन्तु उस प्रधानता के बल पर अन्यों का अनादर करना, यह उस अनुमानित श्रेष्ठता के विरुद्ध प्रत्यक्ष आक्षेप होगा।

उपसंहार।

हम अपना लेख यहीं समाप्त करना उचित मानते हैं। इसका कारण यह नहीं कि समस्या का प्रस्तुत विवेचन हमें पूरा प्रतीत होता है। इसके विपरीत हमें यह ठीक से मालूम है कि समस्या को हल करने के बदले हमने अधिक और प्रश्नों को उठाया है। आशा है कि विपक्षियों के साथ संवाद करने के फलस्वरूप उन प्रश्नों पर कुछ प्रकाश अवश्य ही डाला जा सकेगा, बशर्ते वह शांतिपूर्ण वातावरण में किया जाये। हमें यह भी ठीक से मालूम है कि ऊपर प्रस्तुत हमारा (ईसाई) दृष्टिकोण दूसरों के लिए निर्णायक और प्रत्यायक नहीं प्रतीत होता है: धर्मान्तरण जैसी धारणा तो बहुत अधिक अन्य धार्मिक मान्यताओं के साथ गूथी हुई है। लेकिन पाठक इतना ही स्वीकार करने के लिए तत्पर जरूर होंगे कि धर्मान्तरण का समर्थन करनेवाले सब-के-सब कट्टर रूढ़िवादी नहीं हैं। वास्तव में उस प्रश्न पर धर्मशास्त्रीय स्तर पर बहुत गंभीर चिन्तन किया जाता है। कन्या कुमारी की संगोष्ठी में भाग लेने से और प्रस्तुत लेख की रचना करने से मैंने भी

काफी लाभ उठाया। यह कोई कम नहीं कि मेरी समझ में यह आने लगा कि अन्यों की दृष्टि से धर्मान्तरण का प्रश्न कितनी विवादास्पद बात जान पड़ती है। इस संदर्भ मेरा धर्मपरिवर्तन तो नहीं, मनपरिवर्तन जरूर हुआ।

संत अल्बर्ट कालेज
रांची, (बिहार)

– योहन फाईस

टिप्पणी

१. कन्याकुमारी में दिसंबर १९८२ में आयोजित अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २८ वें अधिवेशन में 'धर्मपरिवर्तन' विषय पर आयोजित संगोष्ठि में उपरोक्त लेख के लेखक महोदय ने धर्मपरिवर्तन संबंधी अपने विचार भाषण के रूप में प्रस्तुत किये थे। पत्रिका की ओर से उनसे प्रार्थना की गयी थी के वे उन्हें पत्रिका के पाठकों के सामने रखें। उन्होंने हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर प्रस्तुत लेख भेजा जिसे प्रकाशित किया जा रहा है। इस विषय पर पत्रिका के माध्यम से चर्चा हो ऐसी अपेक्षा है। इस लेख को सामने रखकर चर्चा का आरंभ अगले अंक से हो रहा है।

– कार्यकारी सम्पादक

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य और दर्शन

याज्ञवल्क्य-स्मृति में भारतीय संस्कृति, धर्म एवं दर्शन का सुन्दर समन्वय है। **याज्ञवल्क्य-स्मृति** के प्रायश्चित्ताध्याय के यति-धर्म प्रकरण में जीवात्मा की उत्पत्ति, जीवात्मा का स्वरूप, उसका गन्तव्य, जगत् का स्वरूप, जीवात्मा का जगत् के साथ संबंध, कर्म और पुनर्जन्म, मोक्ष तथा देवयान, पितृयान एवं अन्य दार्शनिक विषयों की चर्चा की गयी है। इस अध्याय में ब्रह्म और आत्मा से संबंधी विचारों का भी उल्लेख है। इस स्मृति में याज्ञवल्क्य के अद्वैतवादी विचारों का प्रतिपादन है। **बृहदारण्यक** में अतिकुशलता के साथ याज्ञवल्क्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है, किन्तु **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में इस सिद्धान्त का संक्षिप्त उल्लेख है। **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में प्रतिपादित प्रमुख दार्शनिक विचारों का अध्ययन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

तत्त्व विचार :

याज्ञवल्क्य-स्मृति में ब्रह्म या आत्मा को मूल तत्त्व स्वीकार किया गया है। यहां ब्रह्म एवं आत्मा शब्द का समानार्थक प्रयोग है।[१] यह इस कथन से प्रमाणित है कि जहां एक ओर ब्रह्म से अनेक जीवात्मा की उत्पत्ति बतायी गयी है[२] वहीं यह भी कहा गया है कि आत्मा ही अनेक शरीर धारण करता है। इस आत्मा से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न है।[३] आत्मा समग्र इकाई है, किन्तु यह अज्ञान के कारण या समष्टि-व्यष्टि भेद के कारण अनेक प्रतीत होता है, ठीक वैसे ही जैसे आकाश एक ही है किन्तु घट आदि पात्रों में पृथक्-पृथक् अनेक प्रतीत होता है, एवं जिस प्रकार सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न जलाशयों में अनेक प्रतीत होता है।

बृहदारण्यक में भी आत्मा को समग्र माना गया है।[४] तथा अविद्या के कारण इसे नाना रूपात्मक भी स्वीकार किया गया है। यह आत्मा ही उपाधि भेद से नानाविध प्रतीत होता है तथा यह आत्मा ही ब्रह्म है। इससे भिन्न किसी सत्ता

की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती है। **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में आत्मा की सिद्धि के लिए प्रमाण दिए हैं।[५] आत्मा सत्य है। यदि उसका अस्तित्व नहीं रहता तो अतीत काल के अनुभव की स्मृति नहीं हो पाती, तथा स्वप्न का ज्ञान कौन करता? जाति, रूप, आयु, वृत्त, विद्या का अहंकार कौन करता तथा भोगों के भोग के लिए उद्योग कौन करता? यह आत्मा वाणी, बुद्धि आदि से भिन्न तत्त्व है। **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में आत्मा के स्वयं प्रकाशस्वरूपता एवं स्वप्रमाण का उल्लेख नहीं मिलता। यहां लौकिक क्रियाओं, स्वप्न आदि के माध्यम से ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। जबकि **बृहदारण्यक**[६] के याज्ञवल्क्य इसे स्वयं-ज्योति स्वीकार करते हैं।

जीव-विचार :

आत्मा ही अज्ञान के कारण अनेक रूप में प्रतीत होती है। यह निमित्त है, अविनाशी है, कर्ता है, ज्ञाता है, ब्रह्म-रूप है, स्वतंत्र है तथा अजन्मा है, किन्तु शरीर धारण करने पर यह कहा जाता है कि आत्मा का जन्म हुआ।[७] सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा आकाश आदि पंच तत्त्वों की रचना करता है और जीवन बन कर उन सबको धारण करता है।[८] जीव की उत्पत्ति के सन्दर्भ में स्मृति में यज्ञ[९] द्वारा जीव की सृष्टि का विशेष उल्लेख मिलता है। **याज्ञवल्क्य-स्मृति** के अनुसार यजमान की आहुतियों से सूर्य पुष्ट होते हैं। सूर्य से वृष्टि होती है और वृष्टि से ओषधियां (अन्न) उत्पन्न होती हैं। और अन्न खाने से वीर्य बनता है तथा स्त्री और पुरुष के संयोगवश वीर्य और रज के मिलकर शुद्ध होने पर पंच तत्त्वों को आत्मा स्वयं ही एक साथ ग्रहण करता है।[१०] इस बात का ठीक इसी प्रकार उल्लेख **मनुस्मृति** में भी मिलता है।[११] **बृहदारण्यक** के पंचाग्नि-विद्या प्रकरण में[१२] यज्ञ के स्थूल शरीर (जीव) की उत्पत्ति का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म के अंगभूत से भी जीवात्मा की उत्पत्ति बतायी गयी है। ब्रह्म के मुख, बाहु, ऊरु, और पैर से चारों वर्णों की उत्पत्ति **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में बतायी गयी है। ब्रह्म की नासिका से प्राण, श्रोत्र से दिशाएं, स्पर्श से वायु, मुख से अग्नि, मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य, जंघों से अन्तरिक्ष एवं चर और अचर जगत् की उत्पत्ति का भी उल्लेख है।[१३] इसका उल्लेख **ऋग्वेद** के पुरुष सूक्त में भी मिलता है।[१४] जीव सुख, दुःख क्लेशादि का अनुभव करने वाला कर्ता तथा फल-भोक्ता है। यह जन्मान्तर पुण्य, पाप, स्वर्ग-नरक आदि का भागी होता है।

जगत्-विचार :

जगत् वह स्थली है जहाँ जीव कर्म करता है तथा अपने कर्मों के अनुरूप पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदि का अधिकारी बनता है। [illegible] से जगत् की

उत्पत्ति को बताया गया है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से जड़ जगत् की रचना होती है। जड़ शरीर की रचना में भी यही तत्त्व विद्यमान है। आत्मा सहित इन तत्त्वों के समुदाय से चर और अचर संसार की उत्पत्ति होती है।[१५] **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में इन्हें एक उपमा[१६] द्वारा समझाया गया है। जिस प्रकार कुम्भकार, मिट्टी, दण्ड और चक्र के संयोग से घड़ा बना देता है, घर बनाने वाला जैसे मिट्टी और लकड़ी से घर बना देता है, स्वर्णकार सोने से नानाविध आभूषण बना देता है, जिस प्रकार मकड़ी अपने लार से अपना जाला बना डालती है, उसी प्रकार आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों में भिन्न-भिन्न शरीर के रूप में अपना प्रकटीकरण करती है। आत्मा अनादि है, उसका शरीर से युक्त होना ही जन्म-ग्रहण कहा गया है। आत्मा से ही पृथ्वी आदि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है और पृथ्वी आदि प्रपंच से आत्मा स्थूल शरीर में उत्पन्न होती है। जगत् परिवर्तनशील, विकारी है तथा इसका लय होने पर यह आत्मा में ही विलीन हो जाता है। अग्नि और चिनगारी[१७] मकड़ा और उसके जाले के उदाहरण द्वारा **बृहदारण्यक** में सृष्टि की उत्पत्ति को बताया गया है।

मुक्ति-विचार :

मोचनार्थक अर्थ में मुच् धातु से मुक्ति शब्द बनता है जिसका शाब्दिक अर्थ छुटकारा पाना है। सांसारिक क्लेश, अविद्या एवं भोगों से छुटकारा पाना मुक्ति है। यह उदासीन, अहंरहित, अज्ञान रहित, इन्द्रिय जित, रागद्वेषादि रहित अवस्था है। यह सच्चिदानन्द की अवस्था है।[१८] इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति रहट के समान बार-बार भवचक्र में आने जाने से मुक्त हो जाता है। इस अवस्था को आत्म-ज्ञान या आत्म-साक्षात्कार की अवस्था कहा जाता है। मुक्त पुरुष आप्तकाम, आत्माराम होता है। वह व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि का दर्शन करता है। उसके लिए आकाश से कणपर्यन्त में एक ही तत्त्व का ज्ञान होता है। इसी अवस्था को प्राप्त करना जीव का लक्ष्य है।

मुक्ति के साधन :

साध्य की पुष्टि साधन के बिना सम्भव नहीं है। अज्ञानी जीव तब तक मुक्ति नहीं पा सकता जब तक मुक्ति के लिए आवश्यक साधनों पर आचरण नहीं करता। **याज्ञवल्क्य-स्मृति** के दार्शनिक विचारों का मुख्य प्रतिपाद्य जीव को उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराना है। मुक्ति के लिए **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में निम्नलिखित उपाय बताए गए हैं–

अ) **कर्म त्याग–** कर्म अकृत, विकृत और सुकृत होते हैं। ये सभी फल प्रदान करने वाले होते हैं और इनका फल स्वर्ग, नरक आदि की प्राप्ति होता है।

जब तक काम्य कर्मों का नाश नहीं होगा तब तक जीव का संसार-चक्र में आवागमन होता रहेगा। [१९] **याज्ञवल्क्य-स्मृति** स्पष्ट रूप से इस बात पर बल देती है कि (यज्ञ, दान, आदि न कर सकने पर) सभी काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का त्याग करके वेदाभ्यास और विशुद्ध आचरण के द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अपने भाष्यों [२०] में आचार्य शंकर ने इस बात पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। जब तक काम्य कर्मों का त्याग नहीं होगा, कर्म-फल से निवृत्ति नहीं होगी तब तक भवचक्र में आवागमन समाप्त नहीं होगा और क्लेशादि पीछा नहीं छोड़ेंगे। अतः इन सबके मूल में स्थित काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का परित्याग करने पर ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

ब) **उपासना– याज्ञवल्क्य-स्मृति** में उपासना को भी मोक्ष में सहायक माना गया है। यह उपासना अन्तर उपासना या आत्मोपासना है। इसके अन्तर्गत हृदय में स्थित परमात्मा को धारणा, ध्यान आदि द्वारा धारण करने की बात कही गयी है। [२१] बाह्य विषयों से विरक्त मन को अन्तर्मुख करके उपासना की जाती है तो दीपक के समान प्रकाशवान् आत्मा का साक्षात्कार होता है। उपनिषदों में भी बाह्य वस्तु विरहित रहने एवं आत्मशुद्धि के प्रयोजन से मुक्ति में उपासना को स्थान दिया है। [२२] आत्मशुद्धि के बाद ही आध्यात्मिक परिवेश में चेतना केन्द्रित हो सकती है। [२३] अतः उपासना मुक्ति के लिए आवश्यक है।

स) **योगाभ्यास**– योग में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और ध्यान, समाधि आदि तत्त्व आते हैं। **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में कहा गया है कि पद्मासन लगाकर बाये हाथ में दाहिने हाथ को रखकर मुख को कुछ ऊपर उठाकर और वक्षस्थल से श्वास रोककर, आँखों को बन्द कर, काम, क्रोध आदि को त्याग करके, दाँतो को बिना मिलाए हुए तालु स्थान में जिह्वा को निश्चल रखकर, मुख बन्द करके, अत्यन्त निश्चिन्त होकर, इन्द्रियों को विषयों से पूर्णतया हटाकर तथा न अधिक नीचे न अधिक ऊँचे आसन पर बैठकर दुगुना या तिगुना प्राणायाम करने का अभ्यास करें। तदुपरान्त हृदय में निश्चल दीप के समान स्थित प्रभु का ध्यान करना चाहिए और तब धारणा करते हुए उस हृदय में आत्मा को धारण करें। इससे योग की सिद्धि होती है। [२४] योग की सिद्धि के लक्षण बतलाते हुए **याज्ञवल्क्य-स्मृति** [२५] में कहा गया है कि अन्तर्धान होना (दूसरों द्वारा न देखा जाना), स्मृति (अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान), दृष्टि (भूत और भविष्यत् का ज्ञान), अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश, अपनी इच्छा के अनुसार वस्तुओं की सृष्टि– ये सभी योग की सिद्धि के कारण हैं। योग की सिद्धि हो जाने पर शरीर का परित्याग करके योगी ब्रह्मत्व प्राप्ति में समर्थ होता है। [२६]

इस प्रकार याज्ञवल्क्य योग पर विशेष बल देते हैं। उपनिषदों में योग पर स्पष्ट रूप से बल नहीं दिया गया है। वहाँ ज्ञान पर विशेष बल है।

द) **दान**– सभी क्रियाओं से विरत होकर केवल ज्ञाननिष्ठ होकर, तपस्या और ब्रह्मचर्य से युक्त होकर, मेधा-सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष पद प्राप्त करता है। [२७] उपनिषदों में ज्ञान को ही एक मात्र आधिकारिक उपाय स्वीकार किया गया है। यहाँ ज्ञान और मोक्ष को एकार्थक स्वीकार किया गया है। **याज्ञवल्क्य-स्मृति** मुक्ति-हेतु ज्ञान पर बल देता है। मुक्ति अज्ञान रहित पूर्ण ज्ञान की अवस्था है। [२८] ज्ञान के हेतु का उल्लेख करते हुए **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में कहा गया है कि वेद-सम्मत वचन, यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, दान, श्रद्धा, विषयासक्ति के दोष होने पर, ध्यान और धारणा आदि ज्ञान में हेतु हैं। यह आत्म-ज्ञान श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा प्राप्त होता है और आत्मा ही श्रवण मननादि का विषय है। [२९]

जीवात्मा के शरीर-त्याग के उपरान्त दो मार्ग :

बृहदारण्यकोपनिषद् एवं **छान्दोग्य** में उल्लिखित जीवात्मा के दो यानों की चर्चा **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में मिलती है। जो व्यक्ति स्मार्त कर्मों (दान) में तत्पर रहते हैं वे अहंकार रहित होकर आत्मा के आठ गुणों से युक्त और सत्यवादी होते हैं, वे देव-लोक को जाते हैं। [३०] देवताओं के मार्ग और अगस्त्य के बीच पितरों का मार्ग है। इस मार्ग को स्वेच्छा से स्वीकार कर अग्निहोत्र करने वाले स्वर्ग में पहुंचते हैं। पितृयान में अठ्ठासी हजार गृहस्थ मुनि निवास करते हैं जो पुनः पुनः वेद का उपदेश करने से धर्म रूपी वृक्ष की उत्पत्ति के निमित्त बीज के समान होते हैं। [३१] उपनिषदों में [३२] भी यह बताया गया है कि जो व्यक्ति पितरों को तुष्ट करने की इच्छा से यज्ञदान, पिण्डदान इत्यादि करते हैं वे पितृयान को प्राप्त करते हैं और पुण्य शेष रहने तक वहां निवास करते हैं तथा पुण्य समाप्ति के उपरान्त इसी लोक में पुनः आते हैं। [३३] जो लोग निष्काम भाव से समष्टि संकल्प से यज्ञ आदि कर्म करते हैं वे देवलोक जाते हैं जहां से वे ब्रह्मलोक चले जाते हैं। लोकों में पितर लोक की अपेक्षा देवलोक श्रेष्ठ है और ब्रह्मलोक परम-श्रेष्ठ है। यहां पहुंचने पर जीव का पुनरागमन नहीं होता। कर्मों के अनुसार ही जीवात्मा का पितृलोक गमन होता है। कर्म-फल का क्षय होने पर वह ब्रह्मीभूत हो जाता है। मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है।

कर्म और पुनर्जन्म :

मात्र आत्मा की उपासना करने वाला आत्मज्ञानी क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण, देवलोक, सवितृ और तेज के लोक में जाते हैं तब इन्हें मानस पुरुष

ब्रह्मलोक में पहुंचाता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष का इस संसार में पुनः जन्म नहीं होता। वे परमात्मा में विलीन हो जाते हैं, [३४] किन्तु यज्ञ, तपस्या और दान से जो मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे धूम, निशा, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक और चन्द्रलोक के देवताओं में पहुंचते हैं और फिर वायु, जल, पृथ्वी, अन्न और वीर्य भाव को प्राप्त कर क्रमशः इस ससार में पुनः जन्म लेते हैं। [३५] और जो व्यक्ति देवयान और पितृयान इन दोनों मार्गों को नहीं जानता उसके किए कर्मों के अनुसार वह साँप, पतिंगा, कीड़ा अथवा क्रमि का जन्म पाता है। [३६] कर्मों का फल मनुष्य को कुछ इस लोक में और कुछ परलोक में भोगना ही पड़ता है। इस बात को **मनुस्मृति** और **याज्ञवल्क्य-स्मृति** दोनों स्वीकार करती हैं। **बृहदारण्यक** [३७] एवं **छान्दोग्य** में भी जीवात्मा के कर्मानुसार उसी देवयान्, पितृयान गमन तथा पुनः उसका उत्तम, अधम, एवं शरीर धारण करने का उसी प्रकार उल्लेख है जिस प्रकार स्मृतियों में है। **गीता** [३८] में भी कहा गया है कि चाहे नरक गमन हो या स्वर्ग प्राप्ति, पुण्य के क्षीण होने पर मनुष्य को इस मर्त्यलोक में शरीर धारण करना पड़ता है। स्मृतियों में इस बात का विस्तार से उल्लेख मिलता है कि कौन और किस प्रकार के कर्म करने से किन योनियों में कौन-कौन से शरीर धारण करना पड़ता है। कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस बात का उल्लेख करता है कि शरीर त्याग आत्मत्याग नहीं है। शरीर के त्याग के बाद भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। यह आत्मा अजर, अमर है। साथ ही इस बात का संकेत मिलता है कि मरणोपरान्त आत्मा जीवात्मा के संस्कारों से आवेष्टित होकर गमन करता है। [३९] अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्धान्त इस बात का भी उल्लेख करता है कि जब तक कर्म-फलों से मुक्ति नहीं हो जाती तब तक जीव का आवागमन होता ही रहेगा। [४०] निषेधात्मक रूप से यह सिद्धांत इसका भी सन्देश देता है कि समस्त प्रयास से कर्म फलों से मुक्ति पाने पर ही जीवात्मा की मुक्ति सम्भव है और तभी उसके क्लेशादि की भी निवृत्ति हो सकती है। इसी स्थिति को प्राप्त कराने का **याज्ञवल्क्य-स्मृति**, समस्त **उपनिषदों**, **गीता** एवं **ब्रह्मसूत्र** आदि का भी लक्ष्य है। [४१]

– राजदेव दुबे

शोध छात्र,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१००५

टिप्पणियाँ

१. याज्ञ., ३।६९
२. वहीं, ३।६७
३. वहीं, ३।११७।११८
४. बृ. उप., २।४।६, वहीं, २।५।१९, छां. उप, ७।२५।२
५. याज्ञ., ३।१५०-१५१
६. बृ उप., ४।३।६
७. याज्ञ., ३।६९
८. वहीं, ३।७०
९. वहीं, ३।१२०
१०. याज्ञ., ३।७१-७२
११. मनु., ३।७६
१२. बृ. उप., ६।२।९-१३
१३. याज्ञ., ३।१२६-१२८
१४. ऋ. पुरुष सूक्त
१५. याज्ञ., ३।१४५
१६. याज्ञ., ३।१४६-१४८
१७. बृ. उप., २।१।२० ।
१८. याज्ञ., ३।६२, मनु., ६।७१
१९. अथवाप्यभ्यसन्वेदं न्यास्तकर्मा वने वसन् ।
अयाचिताशी मितभुक्परां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥
– याज्ञ., ३।२०४
२०. श्वेताश्वर उप. सम्बन्ध भाष्य, पृ. २-४
२१. याज्ञ., १९८-२०१
२२. बृ. उप., १।४।८, १।४।१५, स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते ॥
२३. अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषंदिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥
– गीता, ८।८
बृ. उप., ४।२।१, एस. एन. दासगुप्ता, **भारतीय दर्शन का इतिहास**, भाग- २, पृ. ५१३
२४. याज्ञ., ३।१९८-१९९, २००, २०१
२५. अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रज्ञता तथा ।
निजं शरीरमुत्सृज्य परकायप्रवेशनम् ॥
– याज्ञ., ३।२०२

२६ याज्ञ., ३।२०३

२७. यहाँ मेधा शब्द का अर्थ बौद्धिक ज्ञान नहीं है। 'मेधा' विशुद्ध चित्त की स्थिति के अर्थ में प्रयुक्त है।

—याज्ञ., ३।१८७-१८८

२८. वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः।
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः॥

— याज्ञ., ३।१९०

२९. याज्ञ., ३।१९१-९२; आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्। — बृ. उप., ४।५।६

३०. ये च दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः।
तेऽपि तेनैव मार्गेण सत्यव्रतपरायणाः॥

— याज्ञ., ३।१८५

३१. याज्ञ., ३।१८६

३२. बृ. उप., ६।२।१५–१६

३३. बृ. उप., ६।२।१६
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद् भ्राम्यते हि ह्यसौ।

— याज्ञ., ३।१८२

३४. याज्ञ., ३।१९४।; गीता, ८।२८, ९।४

३५. पितृलोकं चन्द्रमसं वायुं वृष्टिं जलं महीम्।
क्रमात्ते संभवतीह पुनरेव व्रजन्ति च॥

- याज्ञ., ३।१९६

३६. वहीं, ३।१९७

३७. बृ. उप., ६।२।१५-१६

३८. क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकंविशन्ति।

गीता, ६।२१

३९. तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः।

ब्र. सू. शांकरभाष्य, ३।१

४०. बृ. उप. शांकरभाष्य, ६।२।१५, तुलनीय स. वे. सि. सा. सं. श्लोक २७

४१. याज्ञ., ३।१९४, ९७, कठो. शां. भा., १।१।१८; ब्र. सू. ३।१।१७

देवात्मा का नीतिदर्शन

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में देवधर्म के संस्थापक देवात्मा ने एक ऐसे जीवन- दर्शन का उद्घोष किया, जो अपनी मौलिकता एवं अद्वितीयता के कारण अविस्मरणीय है। उनके द्वारा प्रतिपादित नीतिदर्शन अपनी अभिनव विशिष्टताओं के कारण अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त से स्पष्टतः पृथक् दिखाई देता है। फिर भी इस मौलिक नीतिशास्त्र की भारतीय दार्शनिक जगत् ने अबतक घोर अवहेलना की है। इस लेख में मैंने देवात्मा के नीतिशास्त्र की आधारभूत विशेषताओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

मैंने यह पाया कि देवात्मा के नीतिशास्त्र की पहली विशेषता, जो उसे पारम्परिक भारतीय नीतिशास्त्र से पृथक् करती है, चिन्तन-विधि संबंधी है। यह नीतिशास्त्र वैज्ञानिक अथवा अनुभवात्मक विधि, तर्कशास्त्र व अष्टमुखी चेतना के प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधृत है। इनका नीतिशास्त्र न तो धार्मिक नीतिशास्त्र की तरह दिव्यानुभूति (Revelation) पर आश्रित है, और न भी बुद्धिपरतावादी नीतिशास्त्र के समान प्राक्-आनुभविक (a priori) विधि पर। चूंकि देवात्मा निरीश्वरवादी थे अतः उनके द्वारा "दिव्यानुभूति" को स्वीकार करना संभव नहीं था। वैज्ञानिक प्रकृति के होने के परिणामस्वरूप तथ्यों को महत्त्व देने के कारण उन्होंने अनुभवात्मक विधि को ही सर्वोत्तम माना। प्राक्-आनुभविक विधि का निषेध देवात्मा ने इस आधार पर किया कि वह बुद्धि पर आश्रित है व बुद्धि सत्तावानों (Existents) के नियमों को जानने में असमर्थ रहती है, जबकि नीतिशास्त्र अन्य सत्तावानों के संबंध में आत्मा के स्वास्थ्य के नियमों की खोज करता है। नैतिक निर्णय के संदर्भ में देवात्मा अन्तरात्मा (Conscience) जैसी किसी शक्ति को नहीं मानते। इसी तरह वे अन्तर्बोध (Intuition) का समर्थक भी नहीं है। उनके मतानुसार प्रत्येक मूल्य अपने ज्ञान एवं अभ्यास (व्यवहार से प्रगटीकरण) के लिये एक विशिष्ट बोध की अपेक्षा रखता है। विभिन्न मूल्यों के इन विभिन्न बोधों (Senses) को वे परार्थवादी अनुभूतियां (Altruistic feelings) का नाम देते हैं। वे अन्तरात्मा व अन्तर्बोध को नैतिक-निर्णय के सम्यक्

साधन के रूप में इसलिये भी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उनकी दृष्टि में अन्तरात्मा की आवाज़ सदैव सत्य नहीं होती। अन्तरात्मा व परार्थवादी अनुभूतियाँ गलत या अनुचित निर्देश भी दे सकती हैं। तथ्यात्मक सत्यों को महत्त्व देने के कारण नैतिकता के क्षेत्र में वे "शब्द प्रमाण" को भी मान्यता नहीं देते। इसी तरह "सृजनात्मक कल्पना" की आलोचना वे इस आधार पर करते हैं कि वह तथ्यात्मक जगत् से परे संभाव्यों के क्षेत्र में विचरण करती है और इस तरह नैतिकता को काल्पनिक प्रत्ययों पर आश्रित कर देती है। यद्यपि नैतिक अन्वेषण के क्षेत्र में देवात्मा ने अनुभवात्मक विधि अपनाई है तथापि उनके द्वारा प्रतिपादित नीतिशास्त्र आत्मा के स्वास्थ्य के नियमों का अध्ययन करता है व नैतिक नियमों की खोज के लिये देवात्मा "निर्णायक चेतना" (Valuational Consciousness) को आवश्यक मानते हैं। अनुभवात्मक विधि अपनाने के पश्चात् भी उन्होंने नीतिशास्त्र को न तो मनोविज्ञान में विघटित किया, न ही जीवशास्त्र या अन्य प्राकृतिक विज्ञानों में।

देवात्मा के नीतिदर्शन की द्वितीय विशेषता उनका प्रकृतिवादी होना है। जैसाकि सर्वविदित है देवात्मा अनीश्वरवादी हैं अतः उनके द्वारा किसी अतीन्द्रिय सत्ता को नैतिक मापदंड के रूप में स्वीकार करने का प्रश्न नहीं उठता। वस्तुतः "चरम अद्वैतवाद" को स्वीकार करने पर सामाजिक एवं नैतिक सद्गुणों की संभावना समाप्त हो जाती है। उनका एक तर्क यह भी है कि यदि केवल एक परमतत्त्व या ब्रह्म को सत्य माना जाये, तो संपूर्ण नीतिसंहिता निरर्थक हो जायेगी।

ज्ञातव्य है कि अनीश्वरवादी व प्रकृतिवादी होते हुये भी देवात्मा अनात्मवादी नहीं हैं। जिस तरह वे "प्रकृति" को सत्य मानते हैं, उसी तरह आत्मा को भी सत्य मानते हैं, यद्यपि आत्मा संबंधी उसकी धारणा प्रमुख भारतीय विचारधारा से नितान्त भिन्न है। प्रायः अध्यात्मवादी भारतीय दार्शनिक आत्मा को देह से भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार देह आत्मा का बंधन है। इसके विपरीत, देवात्मा आत्मा को एक शरीरधारी सत्ता (Embodied Existence) मानते हैं। अतः अध्यात्मवादी दर्शनों के इस मत को देवात्मा अस्वीकार करते हैं कि मानव का आदर्श आत्मा का देह से मुक्त होना अथवा आत्मा की अशरीरी स्थिति को प्राप्त करना है। देवात्मा बलपूर्वक यह कहते हैं कि "अशरीरी सत्ता" (Disembodied Existence) तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से असंभव है। देवात्मा देह व आत्मा को अपृथक् मानते हैं। इतना ही नहीं वे आगे बढ़कर यह भी मानते हैं कि मोक्षावस्था में भी आत्मा देह धारण किये हुये ही रहती है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि उनकी मोक्ष की धारणा भी नितान्त मौलिक व प्रचलित धारणा

से नितान्त भिन्न है। आत्मा की सत्ता को अनादि न मानते हुए भी, देवात्मा एक विशिष्ट अर्थ में देहात्म संबंध को अनादि व अनन्त मानते हैं। उनकी यह मान्यता स्पष्ट रूप से जैन, बौद्ध व षड्दर्शन से भिन्न है। वस्तुतः उनका मूलभूत सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक सत्तावान् "जड़-शक्ति" की ईकाई है, जो निरंतर परिवर्तनशील है। इस दृष्टि से देह जड़ता की प्रतीक है, तो आत्मा शक्ति की। यह शक्ति स्व-परिवर्तनशील (self-changing) व स्वनियंत्रित होती है। देवात्मा को जिस प्रकार ईश्वर व जगत् का तत्त्वमीमांसात्मक द्वैत स्वीकार नहीं, उसी प्रकार "देह" व "आत्मा" का नीतिशास्त्रीय द्वैतभाव भी स्वीकार्य नहीं। यही कारण है कि देवात्मा देह व आत्मा के द्वैत पर आश्रित नीतिशास्त्र से सम्बद्ध "सामाजिक एकान्तता" अथवा "स्व-संकुचन" की नीति के कटु आलोचक हैं। वस्तुतः जो व्यक्ति जैविक प्रेरणाओं को बुराई का स्त्रोत मानते हैं वे विवाह व परिवार जैसे अन्तर-वैयक्तिक सामाजिक संबंधों को भी हेय मानते हैं। इसके विपरीत देवात्मा सामाजिक संबंधों के समर्थक रहे हैं।

सर्वेश्वरवादी व ब्रह्मवादी ईश्वर व ब्रह्म को न केवल सर्वोच्च सत्ता वरन् सर्वोच्च शुभ भी मानते हैं। इनके अनुसार मानवात्मा स्वरूपतः ईश्वर या ब्रह्म के सदृश है, किन्तु अज्ञात कारणवश वह देह की उपाधि से सीमित हो गया है अतः मानव-आदर्श है आत्मा का देह से मुक्त हो कर ईश्वरलीन व ब्रह्मलीन होना। इस तरह उपर्युक्त सिद्धान्त देह को निकृष्ट व बंधनकारक मानते हैं तथा आत्मा को दैहिक इच्छाओं तथा ऐन्द्रिक विषयों से विमुख रहने की शिक्षा देते हैं। इन्हीं के सर्वज्ञात कुपरिणाम वैराग्यवाद व सन्यासवाद हैं जो, देवात्मा की दृष्टि में, मानव के लिये सदा से घातक रहे हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के धनी देवात्मा के अनुसार देह तुच्छ नहीं है; इसकी प्रेरणायें व प्रवृत्तियाँ निकृष्ट नहीं हैं; हर दैहिक संतुष्टि पापयुक्त नहीं है। देह सुंदर व अभीष्ट भी हो सकती है; इसकी प्रेरणायें व इच्छायें मैत्रीपूर्ण हो सकती हैं व दैहिक तृप्ति आदर्श-जीवन का एक गरिमामय अंग हो सकती है। देह को तिरस्कृत करनेवाले उपर्युक्त सिद्धान्तों के विपरीत देवात्मा इस सत्य को उद्घाटित व प्रतिष्ठित करते हैं कि आत्मा सदैव देह के प्रति आभारी है क्योंकि देह ही उसके निरंतर अस्तित्व को संभव बनाती है। देह के बिना आत्मा की सत्ता की कल्पना भी दुष्कर है। उनकी दृष्टि में यह मानना भ्रांतिपूर्ण अध्यात्मवादी तत्त्वमीमांसा है कि आत्मा देहरहित होकर भी ज्ञान प्राप्त कर सकती है। ज्ञानेन्द्रियों, मस्तिष्क, मन, बुद्धि इत्यादि के बिना ज्ञान संभव नहीं है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के बिना कर्म भी असंभव है। हमारा दैनिक अनुभव हमें बताता है कि देह का कोई भी एक अंग दोषपूर्ण हो जाने पर आत्मा के विकास में व्यवधान उपस्थित हो जाता है। इस तरह आत्मा अपनी सत्ता, ज्ञान, कर्म व विकास के लिये देह पर

निर्भर है। न केवल सत्य-ज्ञान अपितु सौन्दर्य व शुभ का बोध भी आत्मा को देह की सहायता से ही होता है।

नैतिकता की दृष्टि से भी देह बाधक न होकर, सहायक ही है क्योंकि सद्गुणों की साक्षात्कार देह के रहने से ही संभव है। देहरहित आत्मा द्वारा सद्गुणों की प्राप्ति असंभव है। उपर्युक्त तर्क देवात्मा की इस मान्यता को पुष्ट करते हैं कि जैविक प्रेरणाओं के बिना आत्मा नैतिक रूप से पंगु हो जायेगी। देवात्मा देह के प्रति आत्मा के कर्तव्यों को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि देह को व्यक्तित्व के एक अभिन्न व अमूल्य हिस्से के रूप में स्वीकार कर, इसकी प्रेरणाओं को आत्मा के आदर्श से सम्बद्ध करना चाहिए। देवात्मा देह को आदर्श-जीवन का अंग मानते हैं। उदाहरणार्थ उनकी दृष्टि में समाजसम्मत अथवा धर्म-सम्मत संभोग केवल प्रेम-प्रदर्शन का माध्यम नहीं है, वरन् अपने सम्यक् रूप में यह मैत्री-भावना, पारस्परिक निष्ठा, पवित्रता व विश्वास इत्यादि सद्गुणों के नवीन आयामों व विश्व के संदर्भ में उनके योगदान से हमें परिचित कराता है। देवात्मा के अनुसार वस्तुतः देह बुराई (Evil) का स्रोत नहीं है। सत्पथ से मानव के भ्रष्ट होने का मुख्य कारण सुख के प्रति आत्मा की आसक्ति या अत्यधिक झुकाव है।

प्रकृति को महत्त्व देनेवाले देवात्मा की दृष्टि में प्रकृति समस्त सत्तावानों (Existents) की समष्टि का नाम है तथा सत्ता का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जो शुभ-अशुभ से परे हो। मानव-व्यक्तित्व "मनोभौतिक" ईकाई के रूप में, देहात्मा आर्गेनिज्म के रूप में प्रकृति का एक अंश है। मानव की सत्ता का स्रोत प्रकृति से परे नहीं है; वह ईश्वर-सृष्ट नहीं है अतः उसका गन्तव्य भी प्रकृति-बाह्य नहीं है। कल्पना व प्रत्ययों के जगत् को छोड़कर, यदि तथ्यों पर ध्यान दें, तो हम पाते हैं कि मानव पशु-जगत् से विकसित सत्ता का एक रूप है। अन्य सत्ताधारियों की तरह वह भी शरीरधारी सत्ता है जो निरंतर निर्बाध परिवर्तन के अन्तर्गत है। यह परिवर्तन द्विमुखी है। क्योंकि परिवर्तन या तो विकासात्मक होते हैं या अवनति की ओर ले जाने वाले। देवात्मा के मतानुसार परिवर्तनहीनता या गतिहीनता की धारणा काल्पनिक है। नैतिकता की दृष्टि से यह ज्ञातव्य है कि न केवल "तथ्य", वरन् मूल्यों को भी देवात्मा प्रकृति का ही अंग मानते हैं। मूल्य व विमूल्य (Disvalue) को वे समस्त परिवर्तनों का अभिन्न घटक मानते हैं। इस तरह चूंकि वह प्रकृति से बाहर व परे किसी भी सत्ता को नहीं मानते, अतः नैतिकता का आधार व कसौटी भी प्रकृति से बाहर नहीं खोजते। नैतिकता के क्षेत्र में अतीन्द्रियता का विरोधी होने के कारण वे ईश्वरवादी या धार्मिक नीतिशास्त्र की आलोचना करते हैं तथा प्रकृतिवादी नीतिशास्त्र को प्रतिष्ठित करते हैं।

स्मरणीय है कि यद्यपि देवात्मा का नीतिशास्त्र प्रकृतिवादी है, तथापि यह प्रकृतिवाद के अन्य प्रकारों से भिन्न है। जैसे प्रकृतिवाद का एक रूप जड़वाद अथवा तार्किक भाववाद है, जो नैतिक मूल्यों की सत्यता को ही अस्वीकार कर, उन्हें मिथ्या प्रत्ययों की संज्ञा देता है। जबकि देवात्मा का कथन है कि शुभ-अशुभ के विभेद को अस्वीकार करना चयन करने व निर्णय लेने की क्षमता के तथ्य को अस्वीकार करना है। उनकी दृष्टि में शुभ-अशुभ की धारणायें न केवल प्रामाणिक हैं, वरन् सत्य भी हैं। इस तरह इनका नीतिशास्त्र इस अर्थ में प्रकृतिवादी है कि वे मूल्यों को प्राकृतिक संदर्भ में पुनर्प्रतिष्ठित करते हैं।

दूसरा भेद यह है कि प्रकृतिवादी नीतिशास्त्र मुख्यतः सुखवाद का समर्थक रहा है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देवात्मा भी सुख-सिद्धान्त का मानव पर आधिपत्य स्वीकार करते हैं; । पर नीतिशास्त्र के रूप में वे सुखवाद के कटु आलोचक रहे हैं। उनकी दृष्टि में कभी भी न तो मनोवैज्ञानिक सुखवाद और न ही अतीन्द्रिय सुखवाद अर्थात् आत्मा के अनन्त आनंद की स्थिति मानव का आदर्श हो सकती है क्योंकि सुख एवं शुभ (कल्याण) में तादात्म्य नहीं है।

देवात्मा के नीतिशास्त्र का विकासवादी आधार भी उन्हें अन्य भारतीय नीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों से पृथक् करता है। साथ ही चूंकि देवात्मा ने "विकास" का एक विशिष्ट अर्थ लिया है, अतः यह पाश्चात्य विकासवादी नीतिशास्त्र से भी भिन्न है। पाश्चात्य विकासवादी नीतिशास्त्र अनुभवात्मक (मनोवैज्ञानिक) सुखवाद के पंजे से नहीं बच पाया। इसका सटीक उदाहरण स्पेंसर का विकासवाद है। यद्यपि स्पेंसर ने सुखवादियों के मनोवैज्ञानिक नियमों को विकास के नियमों द्वारा स्थानापन्न किया, तथापि विकास का सम्यक् अर्थ, नैतिकता की दृष्टि से अभीष्ट अर्थ, वे नहीं ले पाये। उन्होंने विकास को "अधिक से अधिक जीवन" अर्थात् दीर्घ जीवन की प्राप्ति से जोड दिया। देवात्मा इस मान्यता का निषेध करते हैं कि विकास पूर्णतः जीवशास्त्रीय विकास है, अर्थात् विकास का अर्थ ऐसी प्रजातियों का विकास मात्र नहीं है, जो संघर्ष एवं समायोजन द्वारा जीवित रहने में अधिक समर्थ सिद्ध हुई है। देवात्मा ने विकास का व्यापक अर्थ लिया और उसे "परिवर्तन" की प्रक्रिया मात्र न मानकर "नवीन मूल्यों के उद्भव" से पारिभाषित किया। यह कहा जा सकता है कि आधुनिक किकासवादी भी तो "नवमूल्यों के उद्भव" को स्वीकार करता है। किन्तु देवात्मा से उनका मतभेद इस बिन्दु पर सहज भी स्पष्ट हो जाता है कि वे इन मूल्यों का संबंध आत्मा से नहीं जोड़ते, जबकि देवात्मा नये मूल्यों की खोज को "आत्मा" के स्वास्थ्य के नये नियमों की खोज मानते हैं। इस दृष्टि से वे एक विशिष्ट अर्थ में "उद्भववादी विकासवाद" का समर्थन है। देवात्मा का सुदृढ़ मत है कि विकास को

"संयोगजन्य उत्पाद्यों" की श्रृंखला मानना भूल है। वस्तुतः विकास नियमबद्ध होता है व इसमें आदर्शों तथा मूल्यों का समावेश रहता है। विकास का नियम प्रजातियों व व्यक्तियों में पाई जानेवाली परिवर्तन की उन प्रक्रियायों का नाम है जो पारस्परिक कल्याण के लिये सत्तावानों के गुणों व शक्ति को विकसित करती है। ध्यातव्य है कि परिवर्तन "सत्ता" को न केवल खतरे में डालता है, वरन् सत्तावानों के गुणों का विकास अथवा विध्वंस भी करता है। अतः विकास के नियमों के विपरीत देवात्मा "अवनति के नियमों" का भी उल्लेख करते हैं। यह उन प्रक्रियाओं को किया गया संबोधन है जो सत्तावानों के गुणों व शक्ति पर विपरीत प्रभाव डालकर उनकी समाप्ति या विलुप्तीकरण का कारण बनती हैं अतः देवात्मानुसार–

"नीतिशास्त्र वह विज्ञान है जो आत्मा के नियमों व उसके स्वास्थ्य की दशाओं तथा अस्वाथ्य के कारणों की खोज करता है"।

इस तरह प्रकृतिवादी होते हुये भी वे जड़वाद के समर्थक व आत्मवाद के विरोधी नहीं हैं। आत्म-विकास की अवहेलना करनेवाला प्रकृतिवाद ही जडवाद है, जो देवात्मा को स्वीकार नहीं है। अतः उन्हें चार्वाक या एपिक्यूरियनस् की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। समस्त प्राकृतिक सत्तावानों के संदर्भ में नैतिकता का विश्लेषण उन्हें अन्य समस्त नीतिशास्त्रियों से भिन्न करता है।

बुद्धिपरतावादी नीतिशास्त्र का विरोध देवात्मा ने सदा किया। उसकी त्रुटियां बताते हुये उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि शुभकर्म बुद्धि की अभिव्यक्ति नहीं, वरन् उच्चस्तरीय परार्थवादी प्रवृत्तियों व अनुभूतियों क सूचक है। ये उच्चस्तरीय अनुभूतियाँ अथवा परार्थवादी भावनायें स्वरूपतः ज्ञानात्मक व संकल्पात्मक अर्थात् उभयरूप हैं। वे एक ओर मूल्यों के प्रति हमें अन्तर्दृष्टि प्रदान करती हैं तो दूसरी ओर, उन मूल्यों को साकार करने की दिशा में हमें प्रवृत्त भी करती हैं। उदाहरणार्थ, दया की भावना एक ओर दूसरों के दर्द व उसके निराकरण की प्रेरणा भी है। देवात्मा कांट के समान नैतिकता को विशुद्ध व्यावहारिक बुद्धि जैसी किसी अदृश्य सत्ता पर आधृत नहीं करते।

प्रकृतिवाद की सुदृढ़ नींव पर नैतिकता को स्थापित करते हुये देवात्मा बारम्बार यह घोषित करते हैं कि मानव ईश्वर सृष्ट नहीं है, वह प्रकृति का एक उत्पाद्य है। मानव पूर्णतः प्रकृति द्वारा ही उत्पन्न है तथा विकास की प्रक्रिया में एक नवीनतम सत्ता है, अतः वह संपूर्ण प्रकृति एवं उसके चारों साम्राज्यों मानव, पशु, वनस्पति व जड़ से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है। प्रकृति के अंग के रूप में हम

नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के उन नियमों द्वारा शासित हैं जो विशुद्ध सृष्टचात्मक नियम हैं। सादृश्य की ओर संकेत करते हुये देवात्मा समझाते हैं कि जिसप्रकार भौतिक नियम व क्रमबद्धता शरीर की सुदृढता एवं स्वास्थ को निर्धारित करते हैं, उसी प्रकार नैतिक व आध्यात्मिक व्यवस्था तथा नियम शक्ति को निर्धारित करते हैं।

नैतिक-अनैतिक को पारिभाषित करते हुये वे कहते हैं कि जो कुछ भी मानव को मनुष्यत्व से नीचे गिराता है, उसकी अवनति का कारण बनता है, वह अनैतिक है। इसके विपरीत जो कुछ उसे उन्नत करता है वह नैतिक है।

नैतिकता को पुनः पारिभाषित करते हुये वे कहते हैं कि नैतिकता सृष्टचात्मक साम्राज्यों (Cosmic Kingdoms) के प्रति किये जाने वाले हमारे उस उच्चतम व सहायक आचरण का नाम है जिसके द्वारा हम उन जगतों के प्रति अपने कर्तव्यों को निभाते हुए श्रेष्ठ नैतिक जीवन व्यतीत करते हैं।

उनका कहना है कि विज्ञान इस तथ्य को उद्घाटित कर चुका है कि प्रकृति के समस्त विभिन्न विभाग परस्पर संबंधित हैं व प्रकृति एक अविभाज्य पूर्ण है। अतः प्रकृति में स्थित सत्ताओं का उद्देश्य पूर्ण के संरक्षण व विकास में सहयोग देना है। यही कारण है कि देवात्मा न केवल व्यक्ति के "निजी" कर्तव्यों की चर्चा करते हैं, वरन् "दूसरों" के संबंध में भी व्यक्ति के कर्तव्यों की मीमांसा प्रस्तुत करते हैं। स्मरणीय है कि "दूसरों" या अन्य से उनका तात्पर्य केवल अन्य "मनष्य" नहीं है, क्योंकि उनकी दृष्टि में, मानवीय व्यवहार केवल मनुष्यों तक सीमित न होकर पशु-जगत्, वनस्पति-जगत् तथा खनिज या जड़ जगत् तक विस्तृत है। परिणामस्वरूप शुभ-अशुभ का प्रश्न मानवेतर सत्ताओं के संदर्भ में भी उठता है। उदाहरणार्थ, पशुओं के प्रति क्रूरता उतनी ही निंदनीय है जितनी मानव के प्रति। देवात्मा के पूर्व भारतीय नीतिशास्त्र अधिक-से-अधिक समस्त सजीव प्राणियों तक ही सीमित था। देवात्मा ने इसका जड़जगत् की अजीव, अचेतन सत्ताओं तक विस्तार किया। यही कारण है कि पारिभाषिक शब्दावली में इसे मानवतावादी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः हिन्दू धर्म के "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आदर्श को सच्चे व संपूर्ण अर्थ में देवात्मा ने पहली बार उद्घाटित किया। मेरी दृष्टि में इसे अस्तित्ववादी नीतिशास्त्र कहना अत्युक्ति न होगी क्योंकि इसमें समस्त सत्तावानों के प्रति मानव के कर्तव्यों की मीमांसा की गई है। इन कर्तव्यों को भिन्न विभागों में विभाजित किया गया है :–

१) व्यक्ति के अपने प्रति कर्तव्य ।
२) अन्य मनुष्यों के प्रति कर्तव्य ।
३) सजीव प्राणियों अथवा पशु-पक्षियों के प्रति कर्तव्य ।
४) वनस्पति जगत् के प्रति कर्तव्य ।
५) जड़ अथवा खनिज जगत् के प्रति कर्तव्य ।

देवात्मानुसार केवल आत्मा का ही नहीं अपितु विश्व की समस्त सत्ताओं का कल्याण करना मानव का आदर्श है, क्योंकि मानव स्वयं देहात्म ईकाई के रूप में इसका एक अंग है ।

यह कहा जा सकता है कि देवात्मा के पूर्व भी हिन्दू नीतिशास्त्र "काम" व "अर्थ" जैसे जैविक व सामाजिक मूल्यों को स्वीकार करता रहा है अतः इस कथन में कोई नवीनता नहीं । किन्तु यहाँ पर द्रष्टव्य है कि हिन्दू नीतिशास्त्र में "मोक्ष" की आदर्श अवस्था में इन मूल्यों का कोई स्थान नहीं है, जबकि देवात्मा परार्थवादी अनुभूतियों से अनुस्यूत जैविक मूल्यों को मोक्षावस्था का अभिन्न अंग मानते हैं ।

इसी तरह देवात्मा के मतानुसार निष्कामता का नीतिदर्शन (Ethics of desirelessness) नैतिक स्थिति के दोषपूर्ण विश्लेषण पर आधारित है । जीवन व्यतीत करते हुये पूर्णतः इच्छारहित होना असंभव है, क्योंकि देहहीन होना असंभव है । दूसरी ओर इच्छारहित होने की स्थिति आदर्श या अभीष्ट इसलिये भी नहीं कही जा सकती क्योंकि वह मानव को दूसरों के प्रति संवेदना-शून्य व सहानुभूति-रहित बना देती है । यही कारण है कि देवात्मा वैराग्यवाद व संन्यास-वाद को निकृष्ट नीतिदर्शन मानते हैं । ये इस तथ्य की अवहेलना करते हैं कि मानव के न केवल मानव जाति के प्रति वरन् प्रकृति में स्थित समस्त सत्तावानों के प्रति कुछ अनिवार्य व सारभूत कर्तव्य हैं । यदि वह अपना सर्वोच्च कल्याण चाहता है तो इन्हें निभाना नितान्त आवश्यक है । मानव को यह समझना चाहिये कि चूँकि वह भी प्रकृति का एक अंश है, अतः उसकी आत्मा प्रकृति नामक पूर्ण के समस्त अंशों से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है । सच कहा जाये तो नैतिक जीवन हृदय की उन श्रेष्ठ शक्तियों को दिया गया नाम है जो किसी व्यक्ति को न केवल दूसरों को हानि पहुँचाने से रोकती हैं, अपितु हमें इस तरह के कर्म करने के लिये सक्षम बनाती हैं जो दूसरों के लिये कल्याणकारक हैं ।

नैतिक मूल्यों से देवात्मा का अभिप्राय उन मूल्यों से है, जो प्रकृति में स्थित समस्त सत्तावानों के प्रति हमारे मन में गहरे सहअनुभूति जगाते हुये, हमें इस

योग्य बनाते हैं कि हम उनकी कल्याणवृद्धि में सहायक बनें। अपनी इस मान्यता के आधार पर मानव-आदर्श की स्पष्ट व्याख्या करते हुये देवात्मा कहते हैं कि निकृष्ट, निम्न व अधोगामी शक्तियों से बचते हुये, परार्थवादी अनुभूतियों व हृदय की उच्च प्रवृत्तियों का प्रगतिशील विकास ही आदर्श है।

ईश्वर, कर्म, स्वर्ग-नरक, पैगम्बर, अवतार, संत आदि पर विश्वास को देवात्मा अंधविश्वासों की श्रेणी में रखते हैं। उनके अनुसार सच्ची नैतिकता का इनसे कोई संबंध नहीं है। उनकी मान्यता है कि ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हुये यदि ईश्वर व मानव के मध्य संबंध मान भी लिया जाये, तब भी यह संबंध प्रकृति के विभिन्न साम्राज्यों से मानव के सम्बन्ध को तोड़ने वाला नहीं होना चाहिये क्योंकि यदि कोई सम्बन्ध अन्य समस्त सम्बन्धों का निषेध करता है, तो वह संकुचित, स्वार्थपूर्ण व निकृष्ट माना जाता है। देवात्मा एकांगी सम्बन्धों को नकारते हुये, "बहुलता" या "बहुत्व" को सत्य मानते हैं। "सर्व खलु इदं ब्रह्म" के स्थान पर वे अनेक आत्माओं की सत्ता पर विश्वास करते हैं। उनकी दृष्टि में नैतिक समस्या आत्म-चेतना के निराकरण की नहीं है, वरन् इसे सुख-सिद्धान्त, ईश्वरवादी सिद्धान्त इत्यादि मिथ्या सिद्धान्तों की अपेक्षा किसी सम्यक् नैतिक सिद्धान्त द्वारा निर्देशित करने की है। आत्मा समाज व प्रकृति के मध्य निवास करती है, अतः प्रकृति व समाज के हर भाग से इसका सम्बन्ध है। मानव का नैतिक व आत्मिक जीवन इस बात पर आधारित रहता है कि आत्मा अन्य सत्तावानों से किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करती है। यदि दैहिक व आत्मिक प्रेरणायें सुख-सिद्धान्त द्वारा संचालित होती हैं, तो वे बुराई उत्पन्न करने वाली एवं आत्मा के लिये अस्वास्थ्यकर होती हैं। परन्तु यदि येही आत्म-संस्कृति व आत्म-कल्याण की चेतना तथा परार्थवाद से अनुप्राणित हों, तो वे शुभ व सत्य का प्रसार कर आत्मिक स्वास्थ्य एवं शक्ति में वृद्धि करती हैं। देवात्मा बारम्बार इस तथ्य पर बल देते हैं कि सर्वोच्च नैतिकता असीमित प्रकृति व उसके चार साम्राज्यों के साथ हमारे गहरे सम्बन्धों के ज्ञान में निहित है। साथ ही यह उन समस्त श्रेष्ठ भावनाओं के विकास में भी निहित है, जो हमारी इस नातेदारी को न केवल हमारे लिए वरन् हमसे सम्बन्धित समस्त वस्तुओं व व्यक्तियों के लिये एक वरदान बना देती है। प्रकृति के चारों साम्राज्यों से, अपनी नातेदारी जानने पर हम यह अनुभव करते हैं कि हमारा हृदय इन सबके प्रति आदर, कृतज्ञता, सेवाभाव, सहानुभूति, करुणा, ममता, प्रेम, दया, मानवतावादी प्रवृत्तियों आदि से भरा है। ये सभी हमारा बहुत उपकार व सेवा करते हैं।

देवात्मा की दृष्टि में नैतिक सम्वेदनाओं का अभ्यास एवं विकास मानव-आदर्श का एक अंग है। ज्ञानात्मक, सौंदर्यात्मक व नैतिक चेतना अपने आप में मूल्यवान् हैं तथा ये आत्मा एवं विकासात्मक प्रक्रिया में सामंजस्य स्थापित करती हैं। इन चेतनाओं से सम्बद्ध आदर्शों को देवात्मा अतीन्द्रिय अथवा काल्पनिक नहीं मानते। अतः उनकी मान्यता है कि सत्य, शिव व सुन्दर से सम्बन्धित उच्चतम मूल्य भी बिना जैविक आधारों के संभव नहीं हैं। उनके अनुसार प्रत्येक जीवन-शक्ति एवं मानव-आत्मा में जीवित रहने की जैविक ऊर्जा पाई जाती है। इस सृजनात्मक ऊर्जा को सुदृढ़ करने में ज्ञानात्मक, सौंदर्यात्मक व नैतिक चेतना का अभ्यास एवं विकास अत्यन्त आवश्यक है। इस तरह देवात्मा मूल्यों को सुदृढ़ तथ्यात्मक आधार प्रदान करते हैं।

देवात्मा का यह दृष्टिकोण सर्वग्राह्य है कि नैतिक जीवन की समृद्धता के लिये सर्वाधिक प्रभावशाली व महत्त्वपूर्ण साधन "प्रत्येक व्यक्ति द्वारा संपूर्ण मानवता के प्रति अपने कर्तव्यों की पूर्ति" है। **देवशास्त्र** खंड ४ में मानव द्वारा मानव के प्रति किये जानेवाले कर्तव्यों का सविस्तार निर्देश है।

न केवल मानव, वरन् समस्त सजीव प्राणियों के प्रति भी मानव के कर्तव्यों का सविस्तार विवरण देवात्मा के **देवशास्त्र** खंड ४ में दिया है। उनका यह दावा है कि यदि हम यह जान लें कि हमारी उत्पत्ति वनस्पति व पशुजगत् के क्रमबद्ध विकास के परिणामस्वरूप हुई है, तो हम में अर्थात् मानव में उन चार साम्राज्यों से नातेदारी की भावना आश्चर्यजनक रूप से जन्म लेकर व्यापक होती जाती है। देवात्मा की दृष्टि में विभिन्न धर्मों– ईसाई, हिन्दू, सिक्ख, इस्लाम, यहूदी– की यह मान्यता कि मानव ईश्वर द्वारा रचित व उत्पन्न है, अवैज्ञानिक एवं असत्य है। इसके विपरीत, वैज्ञानिक सत्य यह है कि मानवजाति का पशुजगत् से क्रमबद्ध विकास हुआ है।

यह एक तथ्यात्मक सत्य है कि मानव से परे उसके चहुँ ओर भी एक जगत् है जिसके प्रति मानव को अपनी नातेदारी समझना है। उसे अपनी कर्तव्यभावना, सहानुभूति, करुणा आदि को न केवल मानव-जाति, वरन् पशुजगत् तक विस्तृत करना चाहिए। वे मानते हैं कि समस्त सजीव प्राणियों में भाईचारे की भावना का विकास धर्मशास्त्र से नहीं हो सकता। पशुओं के प्रति भी मानवतावादी दृष्टिकोण रखना नैतिक है। देवधर्म यह प्रयत्न करता है कि हमारे हृदयों में पशु-पक्षियों के प्रति भी आदर जन्में व हम इस साम्राज्य द्वारा की गई उनकी सेवाओं के प्रति अतिरिक्त कृतज्ञता अनुभव करें।

शनैः शनैः सह-अनुभूति परिवार से जाति, जाति से देश, राष्ट्र व मानवता तक विकसित होती गई है। कुछ विद्वानों के अनुसार सर्वोच्च सीमा "मानवतावाद" है। यह देवात्मा को स्वीकार नहीं। देवात्मा की शिक्षा है जहाँ कहीं भी ऐसे शरीर हैं जो रक्तरंजित हैं, ऐसी आत्मायें हैं जो दुःखी हैं, वहाँ सहानुभूति को फरिश्ते की तरह अपने मधुर उच्चार के साथ जाना चाहिए। वे स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं कि मानव को बिना किसी कारण के प्रकृति के किसी भी भाग को क्षति पहुँचाने का अधिकार नहीं है। उदाहरणार्थ, आत्म-रक्षा के के अतिरिक्त मानव को किसी भी पशु को घायल करने व मारने का अधिकार नहीं है। वस्तुतः न्याय-भावना व ईमानदारी की यह माँग है कि हम सजीव प्राणियों से उनके आनंद व जीवन को न छीने। जीने व खुश रहने का अधिकार मानव के समान अन्य सजीव प्राणियों को भी है। यह एक चिरस्मरणीय तथ्यात्मक सत्य है कि मानव का पशुओं के साथ वही संबंध है जो वंशजों व पूर्वजों के मध्य पाया जाता है। अपने स्वाद (भोजन), खेल, बलि एवं व्यापार के लिये पशु-पक्षियों को मारकर व कैदकर हम अपने हृदय को कठोर बनाते, अन्याय की भावना को बढ़ावा देते व अपने को अकृतज्ञ सिद्ध करते हैं। देवात्मा इसीलिये मांसाहार की निंदा करते हैं। वैज्ञानिक विधि अपनाते हुये वे यह सिद्ध करते हैं कि माँस प्राकृतिक आहार नहीं, वरन् कृत्रिम एवं अप्राकृतिक होने के कारण हानिकारक है। कारण यह है कि मानव की शारीरिक संरचना "एप" (Ape) के समान है जो वनस्पतिभोगी है, माँसाहारी नहीं। वह कंदमूल, फल, अन्न आदि खाकर जीवित रहता है। जीवशास्त्रीय दृष्टिकोण से मानव के शरीर की आंतरिक संरचना एक वनस्पतिभोगी की है अतः माँसाहार अनुचित व क्षतिकारक है।

देवात्मा वनस्पति व जड़ जगत् के प्रति भी मानवीय कर्तव्यों का सविस्तर वर्णन **देवशास्त्र** खंड ४ में करते हैं। वस्तुतः जब हम प्रकृति से अपनी नातेदारी (Kingship) समझ जाते हैं तब उसके समस्त चारों साम्राज्यों के प्रति अपने कर्तव्यों का हमारा बोध अधिक व्यापक अधिक पूर्ण व सर्वसमावेशी हो जाता है। पूर्ण नैतिक होने के लिये हमें वनस्पति-जगत् से भी अपने संबंधों को विकसित करना व उत्कृष्ट बनाना चाहिए। यह तभी संभव है जब हम इस जगत् द्वारा की गई व की जा रही उनकी सेवाओं को याद रखें। जैसे हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इस जगत् से ही हम जीवित रहते, औषधियों व छाँव पाते तथा फर्नीचर व मकान आदि बना पाते हैं। हमें अपने भीतर वनस्पति-जगत् के प्रति नैतिक संवेदनशीलता विकसित करनी चाहिए। पेड़ भी घायल व बीमार होते तथा मरते हैं। वनस्पति-जगत् के प्रति अपने संबंधों की जाँच हम यह देखकर कर सकते हैं कि

उसके दु:ख-सुख में हम कितने भागीदारी हैं, हमें उनकी सेवा की कितनी इच्छा है व उनके घायल होने पर हम कितनी गहराई से पीड़ित होते हैं।

खनिज व जड़जगत् के प्रति भी हमें सोचना चाहिए कि हम इस पर कितना अधिक आश्रित हैं। पानी, हवा, प्रकाश के बिना हमारा अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा। धातुओं के बिना हमारी उपलब्धियाँ व सुविधा-प्राप्ति की संभावनायें ही समाप्त हो जायेंगी। हमें यह सोचकर कि यह जड़जगत् अपनी खनिज संपदा के माध्यम से हमारा कितना सहायक है, इसके प्रति अपने कर्तव्यों को पूर्ण कर कृतज्ञता-ज्ञापन करते रहना चाहिए।

इस तरह हमने देखा कि देवात्मा ने वैज्ञानिक विधि अपनाते हुये व तथ्यात्मक आधार प्रदान करते हुये एक ऐसे नीतिशास्त्र का निर्माण किया जो अपनी सर्वांगीणता व आधुनिक दृष्टिकोण के कारण २० वीं शताब्दी का सर्वमान्य नीतिशास्त्र बनने की क्षमता रखता है।

दर्शनशास्त्र विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपूर (म. प्र.)

– छाया राय

हेराक्लाइटस की "बिकमिंग" की अवधारणा का समालोचनात्मक अध्ययन

प्रत्येक दार्शनिक जीवन तथा जगत् के परम सत्य को जानने की चेष्टा करता है। हेराक्लाइटस के अनुसार नित्य परिवर्तन या "बिकमिंग" ही सत्य है, अन्य कुछ भी नहीं।

हेराक्लाइटस ने एक गंभीर तत्त्व-दार्शनिक की तरह, वस्तु जगत् के मूल तत्त्व के रूप में, अपनी इस मौलिक दार्शनिक अवधारणा को उद्भाषित किया है। वह सत् के संभवन या सत् के "हो जाने और उसके निरंतर होते रहने" को ही सत्य मानते हैं। इस संप्रत्यय का अर्थ है कि विश्व की जितनी भी वस्तुएँ हैं, उनमें अबाध्य रूप से परिवर्तन होता है और यह भी कि उनमें अनिवार्य रूप से कभी भी स्थिरता नहीं आ सकती।

प्रस्तुत निबंध की मूल विषय-वस्तु की ओर जाने से पूर्व, इस संप्रदाय के लिए प्रयुक्त शब्दों की चर्चा कर लेना भी आवश्यक है। हेराक्लाइटस के इस संप्रत्यय के लिए ' बिकमिंग " के स्थान पर अंग्रेजी भाषा में अब "फ्लक्स" और "चेंज" इन दो शब्दों का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। हिन्दी भाषा में "बिकमिंग" शब्द के अनुवाद के रूप में हम, संवित्, परिणाम, आस्रव, परिवर्तन, संभूति, संभवन आदि शब्दों को पाते हैं। किन्तु ये समस्त शब्द, शाब्दिक भ्रान्ति के साथ-साथ, अर्थ-भ्रान्ति भी उत्पन्न करते हैं। इन शब्दों द्वारा उपर्युक्त संप्रत्यय के वास्तविक अर्थ का उद्घाटन नहीं होता। उदाहरणार्थ–परिणाम, शब्द लिया जाय। इससे यह अर्थ-बोध होता है कि जिसे जैसा होना था, वह वैसा ही हो गया है और अब उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि इसके भी आगे वह और अन्य कुछ होते रहने की स्थिति में होता है, तो परिणाम, परिणाम नहीं रहता। क्योंकि यदि कुछ होना शेष है, तो निश्चित है कि उसमें कुछ होने की संभावना विद्यमान है। और जब कुछ होने की संभावना

पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है, तब जो कुछ हो चुका है, वह केवल वही रहेगा जो वह हो चुका है। वह वास्तविकता ही परिणाम है। अतः हम उक्त शब्दों का निषेध करते हुए "बिकमिंग" शब्द का अनुवाद "हो जाना और होते रहना" करते हैं।

हेराक्लाइटस के तत्त्वशास्त्र की दृष्टि से माने हुए द्रव्य "अग्नि" के आधार पर भी हम, इस संप्रत्यय को स्पष्ट कर सकते हैं। यह अग्नि जगत् की समस्त वस्तुओं के मूल में एक विशेष द्रव्य है। यद्यपि इस अग्नि का स्वरूप क्या है इस विषय में दर्शन के इतिहासकारों में व्यापक मतभेद है, फिर भी लेसल महोदय, हेगल की प्रणाली का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि "यह अग्नि "हो जाना और होते रहने" का संप्रत्यय है। जिसमें सत् (बीइंग) और असत् (नॉट-बीइंग) इन दोनों ही अवधारणाओं का समावेश है।"[1] किन्तु यह मान्यता भी अपने आपमें आत्मव्याघाती है। क्योंकि असत् का सत् से और सत् का असत् से तादात्म्य अथवा अन्य किसी प्रकार का संबंध नहीं माना जा सकता। इस तादात्म्य संबंध में सत् और असत् वे नहीं रह जायेंगे जो वे वास्तविक अर्थ में हैं। फिर भी लेसल महोदय का यह मत हमें इसलिए मान्य है कि अग्नि उनके अनुसार "हो जाना और होते रहने" का ही संप्रत्यय है। अतः यह मत अन्य इतिहासकारों[2] के मतों की अपेक्षा अधिक ग्राह्य है।

हेराक्लाइटस के अनुसार अग्नि जगत् का मूल है और जगत् की गति में गतिमान् रहते ही जगत् की नियंत्रक शक्ति है। इस अग्नि से ही जगत् की सभी वस्तुओं वायु, जल और पृथ्वी आदि की उत्पत्ति होती है और इसी अग्नि में वे सब वस्तुएँ विलीन होती रहती हैं। इस अग्नि की तुलना **उपनिषदों** के ब्रह्म से भी की जा सकती है। "ब्रह्म से जिस प्रकार सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है, उसीसे स्थिति रहती है और उसीमें लय हो जाता है।"[3] इसी प्रकार हेराक्लाइटस का अग्नि-तत्त्व भी सभी प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। प्रो. रानडे के अनुसार "**कठोपनिषद्** में एक अवतरण है जिसका कथन है कि अग्नि ने विश्व में अन्तःप्रवेश करके, विधि रूप धारण कर लिए। जो लगभग हेराक्लाइटस के इस सिद्धांत के समांतर है कि "अग्नि संपूर्ण वस्तुओं में परिणत हो जाती है और संपूर्ण वस्तुओं की परिणति अग्नि में है।"[4] **बृहदारण्यक उपनिषद्** में भी कहा गया है कि जैसे धधकती हुई आग से चारों ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से यह संपूर्ण जगत् उत्पन्न होता है "स यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाःव्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः (ब्रह्मणः) सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।"

हेराक्लाइटस अग्नि को संपूर्ण पदार्थों की स्थिति का मूल मानते हैं। इसी अग्नि के होने से समस्त पदार्थों का होते रहना अथवा अपने अस्तित्व को प्राप्त होना संभव है। यह अग्नि दिव्य ऊर्जा है जो कभी विश्राम नहीं लेती। यह क्रिया मानव तथा जगत् दोनों में प्रतिक्रिया करती रहती है। यह विश्व का सार्वभौम नियम है। इस अग्नि का स्वभाव "हो जाना और होते रहना" ही है। इसलिए "हेराक्लाइटस जिसे अपनी महान् उपलब्धि समझते हैं, वह इस युक्ति से संबद्ध प्रतीत होती है कि वास्तव में जगत् एक सतत प्रज्वलित अग्नि है, जो अपनी स्थिरता बनाए रखे है क्योंकि अग्नि के जलाए जाने और बुझाए जाने की मात्रा सदा उतनी ही है (उद्ध – २०) यह शाश्वत विनिमय की प्रक्रिया है जैसे कि स्वर्ण का स्वर्णपात्रों से तथा स्वर्णपात्रों का स्वर्ण से विनिमय होता है।"[५] (उद्ध.– २२) यह अग्नि निष्कर्ष रूप में भी हेराक्लाइटस की दृष्टि से "हो जाना और होते रहना" की अवधारणा का प्रतीक प्रतीत होती है। इस द्रव्य रूप अग्नि के संकेत से वे "हो जाना और होते रहना" के संप्रत्यय की ही व्याख्या करते हैं।

हेराक्लाइटस ने इस संप्रत्यय की बहुत व्यापक अर्थ में उद्भावना प्रस्तुत की है। इस अवधारणा में स्थायित्व के लिए बिल्कुल स्थान नहीं है और नित्यता की कोई संभावना नहीं है। यह अव्यवहित प्रक्रिया है। अखंड गति, निरन्तर परिवर्तन, अविच्छिन्न प्रवाह की अटूट श्रृंखला ही संसार की वस्तुओं का नियम है। वस्तुओं का "हो जाना और होते रहना" ही एकमात्र यथार्थ स्थिति है, जिसे हम बुद्धि के द्वारा समझ सकते हैं क्योंकि 'हम ज्यों ही वस्तुओं का निरीक्षण करने चलते हैं वे "हो जाना और होते रहने" की प्रक्रिया में लुप्त हो जाती हैं। हम जितनी सूक्ष्मता पूर्वक उनके स्वरूप का विवेचन करें उतना ही अधिक उनकी गतिशीलता का ज्ञान होता है। अतः वस्तुओं के निरीक्षण के समय मानव की व्यावहारिक बुद्धि के द्वारा निर्धारित वस्तु की सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं और हमारी आँखों के सामने उस वस्तु का गुण अपने विरोधी रूप में परिणत हो जाता है।"[६] वस्तुओं के परिवर्तनीय स्वभाव या क्रम के बीच किसी भी प्रकार के एकत्वबोधी तारतम्य की कल्पना भ्रान्ति है। यद्यपि हमें ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वस्तुओं की परिवर्तनीयता में एकत्व है किन्तु यह मात्र प्रतीति है सत्य नहीं। क्योंकि जगत् एक सतत प्रज्वलित अग्नि है।" (उद्ध.– २०) अतएव हो जाना और होते रहने की प्रक्रिया अनवरत रहेगी। यही बात जगत् के लिए व मनुष्य के लिए लागू होती है। कोई भी व्यक्ति एक जलधारा में दो बार स्नान नहीं कर सकता। (उद्ध.– ४१) तथा यह उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार यह कहना कि "एक क्षण में हम हैं और नहीं भी हैं।" सब अनित्य और क्षणिक है। संसार में कुछ

भी नित्य नहीं है। वस्तुतः "हो जाना और होते रहना" ही एकमात्र तत्त्व है। कोई भी व्यक्ति एक नदी में दो बार नहीं नहा सकता क्योंकि जिस पानी में प्रथम स्नान किया वह बह गया और उसके स्थान पर दूसरा पानी आ गया। दूसरी बार स्नान के लिए दूसरा पानी मिलता है वह नहीं जो पहले स्नान के समय था। इसी प्रकार अग्निशिखा भी प्रतिक्षण बदलती रहती है, उसमें प्रतिक्षण नई लौ उठती रहती है। प्लेटो ने इस विचार को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "हेराक्लाइटस के अनुसार सभी वस्तुएँ प्रवाहित हो रही हैं। कोई वस्तु शाश्वत नहीं है। प्रत्येक वस्तु "हो जाना और होते रहना" है। नदी की भांति प्रत्येक वस्तु गतिशील है। सभी वस्तुएँ गुजर रही हैं, कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है।"[८]

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि हेराक्लाइटस अपनी मौलिक "हो जाना और होते रहना" की अवधारणा को अपने संपूर्ण दर्शन के आधार-रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनकी मान्यता है कि "सब वस्तुएँ प्रवाह की दशा में हैं।"[९] और "यथार्थ सत्ता बेचैनी की एक अवस्था है।"[१०] वह परिवर्तन या गति और गत्यात्मक अस्तित्व में ही विश्वास करते थे। अतः "उनके अनुसार अस्तित्व पदार्थ रूप नहीं, अपितु प्रक्रिया रूप है।"[११] बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने भी अपनी कृति **प्रमाणवार्तिक** में कहा है कि "हम वस्तुओं के विषय में जितना अधिक सोचें उतना ही अधिक उनका अस्तित्व नष्ट होता जाता है।"[१२]

हेराक्लाइटस और बौद्ध दर्शन में तुलनात्मक दृष्टि से यह बात स्मरणीय है कि दोनों का दर्शन इस "हो जाना और होते रहना" के संप्रत्यय की दृष्टि से काफी अधिक समानता रखता है। इस संप्रत्यय का उपर्युक्त वर्णन बौद्ध दर्शन के क्षणभंगवाद या सन्तानवाद से मिलता जुलता है। बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि जगत् की सभी वस्तुएँ क्षणिक अस्तित्ववान् हैं और परिवर्तन ही उनका स्वभाव है। भौतिक और मानसिक, बाह्य और आंतरिक, इन्द्रिय-लभ्य और विज्ञान-लभ्य हर एक वस्तु जगत् में क्षण क्षण बदल रही है। बदलाव ही सत्य है। यही एक तथ्य है जो बौद्ध दार्शनिकों को मान्य है। नागसेन ने दूध के विकारों का दृष्टांत देकर इस तथ्य को सुंदर ढंग से समझाया है। "दूध दुहे जाने के कुछ समय उपरान्त जमकर दही बन जाता है और फिर दही से मक्खन तथा मक्खन से घी बन जाता है। यहाँ भिन्न-भिन्न विकारों के सद्भाव में भी वस्तु की एकता का अपलाप नहीं किया जा सकता। ठीक इसी भांति एक वस्तु के अस्तितत्व के प्रवाह में एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक अवस्था लय होती है। इस प्रकार एक प्रवाह जारी रहता है। पर इस प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता, क्योंकि एक वस्तु के लय होते ही दूसरी वस्तु उत्पन्न हो जाती है।"[१३] उदाहरणार्थ, एक

वस्तु "अ" चार क्षणों तक ज्यों की त्यों बनी दिखती है और उसके बाद "ब" में बदल जाती है फिर यह कुछ समय तक "ब" के रूप में ज्यों की त्यों बनी रहती है और उसके बाद "स" में बदल जाती है। यह क्रम आगे भी निरन्तर जारी है। आप मान लीजिए कि चार क्षणों में अ का रूप $अ_१$, $अ_२$, $अ_३$, $अ_४$ रहा और उसके बाद अ, ब वस्तु में बदल जाती है। अब इस पूरी प्रक्रिया के क्षण प्रतिक्षण को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है, $अ_१$, $अ_२$, $अ_३$, $अ_४$ ब..... स...... । हम यहाँ देखते हैं कि $अ_३$ ने ब को जन्म दिया, $अ_४$ को $अ_३$, ने जन्म दिया। लेकिन $अ_४$ और $अ_३$ के बीच जो भेद है वह दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार $अ_२$ और $अ_३$ तथा $अ_१$ और $अ_२$ भी एक दूसरे से भिन्न हैं। अतः सिद्ध है कि अ चारों क्षण एक सी दिखाई दे रही थी लेकिन वह प्रतिक्षण भिन्नातिभिन्न होती चली जा रही थी। अतः वस्तुओं में प्रतिक्षण "हो जाना और होते रहना" की प्रक्रिया-स्वरूप जो परविर्तन होता रहता है वह अनित्यता ही शाश्वत है।

डॉ. एस्. राधाकृष्णन् के अनुसार "सत् की अवधि चाहे जो भी हो अर्थात् ऐसी क्षणिक जैसी कि बिजली की चमक होती है अथवा इतनी दीर्घ जितनी कि सहस्त्राब्दि होती हैं किन्तु यह सब निर्माण क्रिया या परिणति ही है। प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता है। बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदाय इस विषय में सहमत हैं कि क्या मानवीय और क्या दैवीय ऐसी कोई वस्तु नहीं जो स्थायी हो।"[१४] हेराक्लाइटस की तरह बौद्ध दर्शन ने भी जल-प्रवाह और अग्नि-शिखा के उदाहरणों से "इस हो जाने और होते रहने" के सिद्धांत का विशदीकरण किया है। इन उद्धरणों या रूपकों का आशय बौद्ध धर्म में वही है जो कि हेराक्लाइटस के लिये अपनी मौलिक "हो जाना और होते रहना" की अवधारणा का है। "बुद्ध एवं हेराक्लाइटस दोनों ही आध्यात्मिक शास्त्र में परिणति (बिकमिंग) के सिद्धांत को दर्शाने के लिये अग्नि का उपयोग करते हैं जो तत्त्वों में सबसे अधिक परिणमशील तथा चंचल प्रकृति की प्रतीक है।"[१५] हमें "जो कुछ दिखाई देता है वह निरंतर परिणति अथवा निर्माण की क्रिया मात्र है। यही बौद्ध धर्म की मूल धारणा है।"[१६] और यही हेराक्लाइटस के दर्शन की मूल धारणा है। इस धारणा के सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि क्या हर परिवर्तन को परिणाम की संज्ञा दी जा सकती है? तो उत्तर है कि "हो जाना और होते रहना" इस तथ्य की दृष्टि से कथमपि नहीं क्योंकि परिवर्तन स्वयं में (इन इटसेल्फ) परिणाम नहीं है अपितु एक क्रिया मात्र है और इस क्रिया की समाप्ति परिणाम है। किन्तु फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक परिवर्तन अपनी क्रिया से स्वभावतः किसी परिणाम को ही जन्म दे। इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि परिवर्तन सदैव परिवर्तन की अवस्था में भी

रह सकता है। हम "हो जाना और होते रहना" के दृष्टिकोण से निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि जगत् की सभी वस्तुएँ एक ही परिणाम को प्राप्त हो रही हैं और वह परिणाम है "वस्तुओं का हो जाना और होते रहना"।

बौद्ध दर्शन के क्षणभंगवाद में भी हम हेराक्लाइटस के "हो जाने और होते रहने" के संप्रत्यय के समान यह पाते हैं कि इस संप्रत्यय में भी सत् एवं असत् दोनों ही अवधारणों का समावेश है। सत् और असत् का संबंध है जैसा कि बौद्ध ग्रंथ **संयुक्त निकाय** प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष मानता है– प्रत्येक वस्तु है (सत्) यह एक पक्ष है और प्रत्येक वस्तु नहीं है (अ-सत्) यह दूसरा पक्ष है। फिर भी ये दोनों पक्ष एकांगी हैं। मध्यमा प्रतिपद् के प्रतिपादक बुद्ध ने इसीलिए दोनों के बीच का मार्ग अपनाया है। अत: उनकी मान्यता में "जीवन न है और न तो नहीं है" बल्कि जो है उसका होना और होते रहना ही सत्य है। इसके एक अर्थ में जीवन भव-रूप है (लाइफ इज नाइदर बीइंग नार नॉट-बीइंग बट विकमिंग) अत: संसार की प्रत्येक वस्तु का उत्पाद, स्थिति और निरोध (अस्तित्वहीन हो जाना) है।

अब हम संक्षेप में कह सकते हैं कि बौद्ध और हेराक्लाइटस के दर्शन में "हो जाना और होते रहना" ही शाश्वत नियम है और उनके मतानुसार ऐसी किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है जो शाश्वत सत्ता रखती है। वे दोनों "हो जाना और होते रहना" को ही सत्ता का स्वरूप मानते हैं। दोनों के दर्शन में कूटस्थ नित्य सत्ता अमान्य है। नित्यता भ्रान्ति है। अनित्यता सत्य और वास्तविक है। सत्ता परिवर्तनशील है।

प्रश्न उठता है कि हेराक्लाइटस जिस सर्वतोभावी "हो जाने और होते रहने" के परिवर्तनवाद को मानते हैं उस परिवर्तन का आधारभूत तत्त्व क्या है? क्योंकि किसी भी प्रकार के परिवर्तन के लिये उसका एक अपरिवर्तनीय आधार भी होना चाहिए। यदि इस जगत् के जीवन-प्रवाह में केवल "हो जाना और होते रहना" ही शाश्वत नियम है तब फिर इस नियम का एक नियामक संचालनकर्ता भी होना चाहिए जिसके कारण "हो जाना और होते रहना" की प्रक्रिया संपूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि हेराक्लाइटस के दर्शन में "लोगोस" व्यवस्था का सिद्धांत है। जगत् की वस्तुओं का "हो जाना और होते रहना" आकस्मिक या संयोगवश नहीं है। अपितु ऐसा होना इस "लोगोस" तत्त्व से है। यह दैवीय परम सत्ता है जो "हो जाना और होते रहना" की प्रक्रिया से अप्रभावित, शाश्वत, स्थायी, नित्य, स्वतंत्र सत्ता है। "जगत् की सभी वस्तुएँ परतंत्र हैं और अपने ज्ञान के लिए एक ज्ञाता की अपेक्षा

रखती हैं। किंतु यह स्वतंत्र सत्ता है और समस्त जगत् के आदि-स्त्रोत और आदि तिष्ठा के रूप में विद्यमान है।"[१७] "हमें जो भी ज्ञान होता है उसका कारण ी विद्यमानता है।"[१८] यह सर्वोच्च ज्ञान है और जिससे सब कुछ जाना जा ा है ऐसा ज्ञाता भी है क्योंकि "यह एक बौद्धिक सत्ता है।"[१९] प्रश्न ता है कि यदि "हो जाना और होते रहना" की व्यवस्था यह बौद्धिक सत्ता है और जगत् की समस्त वस्तुओं के मूल में "हो जाना और होते रहने" का सार्वभौम नियम व्याप्त है तब तो फिर सभी वस्तुओं को परिवर्तित होते हुए भी बौद्धिक होना चाहिए, किंतु तार्किक एवं अनुभवात्मक दृष्टि से यह सत्य सिद्ध नहीं होता। यदि जगत् की समस्त वस्तुओं के मूल में, उनके परिवर्तित होते रहने के आधार के रूप में "लोगोस" विद्यमान है, तब तो मेरे पैरों और हाथों के नाखूनों से भी मुझे उसी प्रकार विचार-बोध होना चाहिए जैसा कि मस्तिष्क से विचार-बोध होता है। अब यदि "प्रज्ञान बहुत सी वस्तुओं का ज्ञान नहीं अपितु यह केवल एक ही वस्तु का स्पष्ट ज्ञान है और शेष हेराक्लाइटस शुद्ध पैगम्बरी शैली में "पराशक्" (वर्ड लोगोस) कहते हैं, जो "शाश्वत सत्य" है, परंतु बताने के बाद भी लोग इसे नहीं समझ सकते।"[२०] (उद्ध.– २) तब तो इस सिद्धांत का पर्यवसान हमें रहस्यवाद में मानना पड़ेगा और मानवीय बुद्धि के आधार पर इसके संबंध में कुछ भी मत व्यक्त करना एक कोरा बौद्धिक प्रयास ही कहा जा सकता है। अतः लोगोस की अवधारणा का वास्तविक अभिप्राय– उसका क्यों कैसे आदि तार्किक उलझनें सुलझ नहीं पाती हैं। दूसरी ओर हेराक्लाइटस के जो भी उद्धरण उपलब्ध हैं उनमें से एक भी यह सिद्ध नहीं करता है कि लोगोस का हो जाना और होते रहने के बीच संबंध क्या है? "हेराक्लाइटस के युग में ग्रीक भाषा में लोगोस शब्द को तत्त्व-दार्शनिक अर्थ नहीं मिला था। इसका प्रयोग केवल विवेचन या शिक्षा-शास्त्र के अर्थ में होता था। यदि हेराक्लाइटस ने इस शब्द का प्रयोग किया भी होगा तो इसी एक अर्थ में।"[२१] हम स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष नहीं निकाल पाते कि "हो जाना और होते रहना" के नियम की नियामक सत्ता लोगोस ही है। क्योंकि लोगोस से स्वयं हेराक्लाइटस का क्या अर्थ था, और इसकी "हो जाना और होते रहने" से क्या वास्तविक संगति है, ऐसे अनेक प्रश्न हेराक्लाइटस के दर्शन में अनुत्तरित ही हैं।

अब यदि हेराक्लाइटस को संसार के मूल में "हो जाना और होते रहना" इस अस्थायित्व के अलावा किसी स्थायी यथार्थ सत्ता का तार्किक सिद्धांत दिखलाई नहीं दिया, तो भी उनकी मान्यता से यह मत पुष्ट नहीं होता कि संसार में जो है वह हो रहा है और होता ही जा रहा है और यह भी कि इस होने में, संसार में कोई यथार्थ सत् है ही नहीं। यदि यथार्थ सत् है तो वह इस ... जाने और

होते रहने" के मूल में ही हो सकता है अन्यथा कहीं नहीं है। यदि हम "हो जाना और होते रहना" के विचार को स्वीकार करें तो कार्य-कारण संबंध की निरंतरता और साथ ही स्थायित्व एवं एकरूपता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। फिर प्रश्न है कि यदि "हो जाना और होते रहना" इसलिए संभव है कि इस होते रहने के लिए एक स्थायी आधार है, जिसकी उपस्थिति में ही "हो जाना और होते रहना" घट रहा है, तो वह स्थायी आधार हमारी बुद्धि के द्वारा समझा नहीं जा सकता।

यदि "हो जाने और होते रहने" के संप्रत्यय में सत् और असत् की अवधारणाएँ तादात्म्य रूप में समाहित हैं तो यह एक ऐसे नए समीकरण की स्थिति है जो आत्मव्याघाती होने के अतिरिक्त एकदम कुछ भी नहीं होने का समीकरण भी कहा जा सकता है। असत् में सत् और सत् में असत् को मानना एक ऐसे संबंध को मानना है जो संबंध है ही नहीं। जैसा कि वेदांत-सूत्र में कहा गया है कि "अभाव (असत्) से भाव (सत्) की उत्पत्ति नहीं हो सकती।"[२२] यदि आपस में इनका तादात्म्य संबंध मान भी लिया जाय तो सत्, सत् नहीं रह जायेगा और असत्, असत् नहीं रह जायेगा। पारमेनाइडीज ने इसीलिए माना था कि परम सत् अनादि तथा अनंत है; न इसका उत्थान है न गमन। इस अद्वैत सत् तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए पारमेनाइडीज ने लिखा है कि "सत्, पूर्ण, अचल तथा अंत-रहित है; वह न ऐसा है कि वह कभी था और न ऐसा है कि वह कभी होगा क्योंकि सत् तो पूर्ण रूप से सत् है। यही सातत्यमय अद्वैत तत्त्व है।"[२३] जब सत् अचल है तो वह "हो जाने और होते रहने" में स्थित नहीं हो सकता और यदि "हो जाने और होते रहने" में वह साथ रहते हुए ही प्राण फूंक रहा है तो इस "हो जाने और होते रहने" को न हो जाने और न होते रहने की स्थिति में भी मानना होगा।

यदि सत्, सत् और असत् से युक्त "हो जाने और होते रहने" के संग में असंग रूप से रहता है, तो यह किन प्रमाणों के आधार पर माना जा सकता है कि जो है (सत्) उसका हो जाना (सत्-असत्) और होते रहना (सत् असत्मय गति) ही सत्य है? तब यह एक रहस्य है और अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान का विषय है। तर्क के आधार पर हेराक्लाइटस का खंडन यह कहकर किया जा सकता है कि यह विरोध-परक संगति है और "परमसत् का संबंध वही हो सकता है जो अपने में विरोधग्रस्त न हो।"[२४] सत् और परमसत् में भेद नहीं है अपितु "परम" केवल विशेषणवाची है। सत् के साथ इस पद का होना केवल इसी बात का सूचक है कि सत् में कोई भी स्तर-भेद नहीं है। दूसरी ओर "हो

जाना और होते रहना" दिक् और काल की सापेक्षता में ही संभव है, क्योंकि किसी भी प्रकार की गति के लिये दिक् और काल अवश्यम्भावी स्थितियाँ हैं। "यदि वस्तुओं में भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल में परिवर्तन न होता तो वे भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न प्रकार के कार्य कैसे करती ?"[२५] अतः "हो जाना और होते रहना" सापेक्षता का सिद्धांत है, निरपेक्षता का नहीं।

सत् का सीधा व्युत्पत्तिजनक अर्थ है अस् - होना, हो जाना और होते रहना नहीं। **उपनिषदों** में हमें सत् के अर्थ में परम सत् ब्रह्म के लिये "अज, नित्य, शाश्वत, अक्षर, सनातन, नित्य, एक-रस' आदि विशेषणों का प्रयोग मिलता है। इन विशेषणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सत् का तात्पर्य एक ऐसी सत्ता से है, जिसकी परमार्थ में सत्ता हो, जो अधिकार हो तथा जो देश, काल एवं वस्तु से अपरिच्छिन्न एवं कारणता से परे हो। **तैत्तिरीय उपनिषद्** में एक ही स्थल पर इस परमतत्त्व के स्वरूप-बोधक तीन शब्द सत्यम्, ज्ञानम् एवं अनन्तम् आए हैं। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"।"[२६] आचार्य शंकर ने इस पंक्ति पर भाष्य करते हुए सत् का इस प्रकार लक्षण किया है — "सत्यमिती यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्।"[२७] अर्थात् जो वस्तु जिस रूप में निश्चित या निर्धारित की गई है उस रूप का व्यभिचार न करें, उसे सत्य या सत् कहते हैं। अथवा "त्रिकालाबाध्यत्वं हि सत्यत्वम्" जिसका त्रिकाल में बाध न हो सके वह सत्य है। सत् के इन दोनों लक्षणों से भी यही सिद्ध होता है कि एक ऐसी वस्तु ही सत् हो सकती है जो विकारी न हो, जिसकी नित्य सत्ता हो तथा जो देश काल एवं कारणता से परे हो। समस्त **उपनिषदें** इस परमतत्त्व की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार करके ही चलती हैं। वही वस्तु सत् हो सकती है जो भूत, वर्तमान एवं भविष्य कालों से परिच्छिन्न न हो और जिसकी इन तीनों कालों में निरपेक्ष एक-रस सत्ता बनी रहे तथा जिसमें पूर्वा-पर का सबंध न हो। परमतत्त्व के सत् या नित्य होने से इसे कार्य-कारण की श्रृंखला के परे होना आवश्यक है। क्योंकि तभी वह नित्य कूटस्थ सत्ता हो सकती है। कार्य-कारण श्रृंखला स्वयं काल के पूर्वा-पर संबंध से युक्त है अतः वह नित्य नहीं है। कारणता का सिद्धांत हो जाना और होते रहने" का सूचक है। हेराक्लाइटस का यह सिद्धांत वस्तु को विनाशी, अनित्य बनाता है। अद्वैत वेदान्त का परम तत्त्व ब्रह्म या सत् कारणता से परे है अतः उसमें "हो जाने और होते रहने" का लेश मात्र भी स्थान नहीं है।

हेराक्लाइटस के लिये "हो जाना और होते रहना" ही यदि वास्तविक है तब फिर यह भी कहा जा सकता है कि वे वास्तविक (रियल) एवं सत् (रियेलिटी) को भिन्न भिन्न रूपों में स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार सत्ता, अस्तित्व और सत्

के विषय में उनके विचार बहुत ही अद्भुत हैं। "हो जाना और होते रहना" से एक वस्तु सत् तो हो सकती है किन्तु उसकी सत्ता संभव नहीं और दूसरी दृष्टि से एकवस्तु "हो जाना और होते रहने से" क्रियमाण सत्ता तो रखती है किन्तु वह सत् नहीं हो सकती। शंकर दर्शन में सत्ता की तीन अवस्थाओं अर्थात् प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक को स्वीकार करके इस समस्या का पूर्ण समाधान प्रस्तुत कर दिया गया है, जिसे सत् और सत्ता का स्पष्टीकरण भी कहा जा सकता है।

उपरोक्त सभी आलोचनात्मक कथनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि "हो जाना और होते रहना" का आधार-भूत मूल तत्त्व सत् है ही नहीं क्योंकि वह पूर्ण, अचल, निर्विकारी और कूटस्थ है, किसी भी प्रकार के पूर्वा-पर संबंध से रहित है। ऐसी स्थिति में "हो जाना और होते रहना" एक तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत की अपेक्षा विज्ञान का सिद्धांत कहा जा सकता है।

जॉन बर्नेट के शब्दों में यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि "हो जाना और होते रहना" का सिद्धांत विरलीकरण तथा संक्षेपण सिद्धांत का ही विकसित रूप है, लेकिन "हो जाना और होते रहना" का सिद्धांत निःसंदेह एक महान् वैज्ञानिक सामान्यीकरण का सिद्धांत है।"[२८] भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में हेराक्लाइटस सबसे पहले गति के सिद्धांत की उद्भावना करनेवाले वैज्ञानिक कहे जा सकते हैं जिन्होंने विश्व के गत्यात्मक पक्ष का उद्घाटन किया। इस सत्य को प्रकाश में लाते हुए कि जगत् में या उसकी प्रकृति में इस एक निरपेक्ष नियम का ही राज्य है। परन्तु आज तक हेराक्लाइटस को किसी भी एक वैज्ञानिक सिद्धांत का आविष्कारक नहीं माना जाता है।[२९] यदि एक ओर उनका वैज्ञानिक होना अभी तक संदिग्ध है तो दूसरी ओर उनके सिद्धांतों का उनके परवर्ती दार्शनिकों के विचार-मन्थन पर व्यापक प्रभाव असंदिग्ध है। उदाहरण के लिये उनके सापेक्षतावाद ने प्रोटागोरस के मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है (होमायेन्सुरा) सिद्धांत को जन्म दिया और उनके मौलिक "हो जाना और होते रहना" नियम के फलस्वरूप प्लेटो दृश्य जगत् की व्याख्या करने में सफल हुए। उनके सापेक्षतावाद और बुद्धिवाद ने सोफिस्ट और स्टोइक दार्शनिकों को प्रभावित किया है। नीत्शे और प्राउधों भी हेराक्लाइटस के ऋणी हैं। गोम्पर्ज के शब्दों में "प्राउधा हेराक्लाइटस की सत्य प्रतिलिपी थे।"[३०] इसी प्रकार बर्गसाँ, ह्यूम, विलियम जेम्स भी उनकी "हो जाना और होते रहना" की आवधारणा से प्रभावित हैं। समसामयिक भारतीय दर्शन में श्री अरविन्द भी अपने विकासवादी

आरोहण और अवरोहण के सिद्धांतों के लिये हेराक्लाइटस के 'अवनत मार्ग' और 'उन्नत मार्ग' के सिद्धांतों से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। अतः हम उनकी रहस्यवादी कहकर उपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि उन्होंने समस्त प्राचीन तथा आधुनिक दर्शन के विकास को निश्चित रूप से प्रभावित किया है।

शोध छात्र
दर्शन विभाग
राणी दुर्गावती विश्वविद्यालय
जबलपुर (म. प्र.)

– विनोदकुमार कटारे

टिप्पणियाँ

१. **आउटलाइन्स ऑफ दी हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलासफी**– पृष्ठ– ४६.

२. अरस्तु, एम्पेडाक्लीज, तशमुलर और जेलर, **वहीं**– पृ. ४६

३. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तै. उप. ३।१

४ अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव क. उ. २।५, **उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण**– लेखक रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे अनुवादक– रामानन्द तिवारी, पृ. ५६.

५. हेराक्लाइटस रीगार्डेड अॅज् हिज ग्रेट डिस्कवरी सीम्स टू अटॅच इट्सैल्फ टू दिस वेरी प्रोनाउन्समेन्ट। इट इज जस्ट द फॅक्ट देट द वर्ल्ड इज "अॅन् अेवरलिविंग फायर" विच सिक्योर्स इटस् स्टेबिलिटि फार द सेम "मेजर" ऑफ फायर आर आलवेज बीइंग किन्ड्ल्ड एण्ड गोइंग आउट (उद्ध. २०) इट् इज ए प्रोसेस् ऑफ इटर्नल एक्सचेन्ज लाइफ देट ऑफ गोल्स फॉर वेअर्स फार गोल्ड (उद्ध. २२) **ग्रीक फिलासफी** लेखक जॉन वर्नेट, पृ. ६१

तुलनीय– सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम्।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथा भवेत्॥

आचार्य शंकराचार्य, अपरोक्षानुभूति– ६१

६. **दि प्रि-सोक्रेटिक फिलासफर्स**, पृ. ११५

७. नाउ द वर्ल्ड "अैन् एवरलिविंग फायर" (उद्ध. २०) एण्ड देयरफोर देयर विल बी अैन् अन्सीस्ड प्रोसेस ऑफ फ्लक्स, देट विल अप्लाइ टू द वर्ल्ड अैट लार्ज एण्ड आलसो टू द सोल् आफ मैन। यू केन नॉट स्टेप ट्वाइस् इन टू द सेम रिवर (उद्ध. ४१) एण्ड इट इज जस्ट अैज् फैक्ट "बी आर / एण्ड आर नॉट", **ग्रीक फिलासफी** जान बर्नेट, पृ. ६१

८. प्लेटो हाऊ एवर, इॅक्स्प्रेस्स द आइडिया क्वाइट क्लियरली। नथिंग एवर इज, एवरीथिंग इज बिकमिंग। ऑल थिंग्स आर इन मोशन लाइक स्ट्रीम्स्। ऑलथिंग्स् आर पासिंग एण्ड नथिंग। हेराक्लाइटस सेज समवेहर देट आल थिंग्स पास एण्ड नॉट स्टे, उण्ड कम्पेरिंग थिंग्स टू द करन्ट ऑफ ए रिवर" **अरली ग्रीक फिलासफी** जॉन बर्नेट, पृ. १४६

९. **इन्डियन फिलासफी भाग-** १ हिन्दी अनुवाद लेखक डॉ. एस्. राधाकृष्णन् पृ. ३३८। हेराक्लाइटस– फ्रैगमैंटस (उद्ध ४६)

१०. वहीं पृ. ३३८, **हेराक्लाइटस– फ्रैगमैंटस** (उद्ध ८४)

११. **मानविकी पारिभाषिक कोश** "दर्शन खण्ड" राजकमल प्रकाशन, पृ. ३१

१२. यथा यथार्थनिश्चिन्त्यते विशीर्यन्ते तथा **प्रमाणवार्तिक**, सम्पादक स्वामी द्वारकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी १९६८.

१३. **भारतीय दर्शन का इतिहास**, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ. १२७-१२८ **मिलिन्द प्रश्न**, पृ. ४६-५०

१४. **इन्डियन फिलासफी**, डॉ. एस्. राधाकृष्णन् भाग– १, पृ. ३३८

१५. वहीं पृ. ३३८.

१६. वहीं पृ. ३३८.

१७. **दि प्रि-सॉक्रेटिक फिलासफर्स**, पृ. ११७.

१८. प्लेटो, **क्रिटीयस्**, १०९ बी, **दि डायलाग्ज** ऑफ प्लेटो भाग–२

१९. प्लेटो, **क्रिटीयस्**, १०९ बी, **दि डायलाग्ज** ऑफ प्लेटो भाग–२

२०. विजडम इज नाट वन थिंग ऑनली, एण्ड दिस हेराक्लाइटस डिस्क्राइब्स, इन टू प्रोफेटिक स्टेज, अँज हिज वर्ड (लोगोस) विच इज "ट्रु एवरमोर" दो मेन केन नाट अन्डरस्टेण्ड एण्ड इट ईवन् व्हेन् इट इज टोल्ड टू देम (उद्ध. २)

२१. **अर्ली ग्रीक फिलासफी**, जॉन बर्नेट, पृ. १३३

२२. **वेदान्त-सूत्र** अध्याय २–११

२३. पार्मेनाइडीज दी वे आव ट्रूथ (८) (क्वोटेड पृ. ४४) फ्राम बर्नेट **अर्ली ग्रीक फिलासफी**, पृ. ११७

२४. **ऐपीरेन्स एण्ड रियेलिटी** अध्याय १३, पृ. १३०
"अल्टीमेट रेयलिटी इज सच देट इट डज नाट कॉनट्रॅडेक्ट इटसेल्फ।"

२५. **इन्डियन फिलासफी**, डॉ. एस्. राधाकृष्णन् भाग–१, पृ. ३४३

२६. **तैत्ति**. उप. २।१

२७. **तैत्ति** उप. शां. भा. २. १. ६.

२८. **ग्रीक फिलासफी**, जॉन बर्नेट, पृ. ५९

२९. **ग्रीक फिलासफी**, जॉन बर्नेट, पृ. ५९

३०. **ग्रीक थिंकर्स**, भाग–१ पृ. ३७७

'शुभ' की अवधारणा तथा मानव-स्वभाव के साथ उसके अन्तस्सम्बन्धों की विवेचना

(शान्तिपर्व के विशेष सन्दर्भ में)

महाभारत में शान्तिपर्व की स्थिति महाभारत युद्ध की युगान्तकारी घटना के परिणामों से उत्पन्न होने वाली मानसिक उथल-पुथल के सामान्य सन्दर्भ में व्यवस्थित की गयी है। जब तक बाहर उथल-पुथल थी, युद्ध का वातावरण था तब तक अन्तर्मुखी न होने के कारण योद्धाओं का मन युद्ध के प्रयास में व्यस्त था, किन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद जब बाहर सब कुछ शान्त हो गया तब अपने किये का आत्म-विश्लेषण विजेताओं के मन में अशान्ति का स्त्रोत बनकर उनके कृत्यों के नैतिक औचित्य की माँग करने लगा।[१] इस अशान्ति का शमन ही शान्तिपर्व की विषयवस्तु है जिसे राजधर्मानुशासनपर्व, आपद्धर्मपर्व तथा मोक्ष-धर्मपर्व नामक खण्डों में विभाजित कर विवेचित किया गया है। ऊपर से देखने पर शान्तिपर्व की संरचना का यह रूपाकार जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में 'मोक्ष' को स्थापित करता हुआ सा प्रतीत होता है और राजधर्म तथा आपद्धर्म उस अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के साधनों के रूप में प्रस्तुत किये जाने वाले अवर लक्ष्यों के रूप में दिखायी देते हैं किन्तु गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि राजधर्म की सार्थकता और प्रवृत्तिमार्गिता को मोक्ष के चरम लक्ष्य की वाञ्छनीयता और वैराग्यपरकता के लिए बलिदान नहीं होने दिया गया है। उसी प्रकार आपद्धर्म की आत्यायिक परिस्थितियों में अपनाये गये आपत्तिजनक आचरणों को धर्म की सर्वोपरिता और मोक्ष की अनुल्लंघनीयता के नीचे नहीं दबने दिया गया है। धर्म अथवा आचरण के मूल्यों का, इस प्रकार, शान्तिपर्व में एक ऐसा स्वरूप प्रस्तुत किया गया है जो अत्यधिक नमनीय और बड़े मूल्यों की वरीयता को स्थान देते हुए भी छोटे मूल्यों की स्वायत्तता और महत्त्व को कम नहीं होने देता।[२]

तथ्य जगत् की वास्तविक परिस्थितियों में चरित्र के स्तर पर उभरने वाला मानव-स्वभाव और जीवन के मूल्यों से उसके सम्बन्धों का विवेचन ही शान्तिपर्व की सम्पूर्ण विषयवस्तु की आधारभूमि है। मूल्य और वास्तविक चरित्र के इस मूल्यांकन में 'मूल्य' को चरित्र की अपरिवर्तनीय कसौटी के रूप में नहीं स्वीकार किया गया है।[३] चरित्र के माध्यम से उभरने वाले मानवस्वभाव के अनुसार मूल्यों की नमनीयता उभारने की चेष्टा में मानवस्वभाव की मौलिकता अपने आप उभर कर सामने आ गयी है; किन्तु शान्तिपर्व के सन्दर्भ में न तो यह कहना समीचीन होगा कि मूल्य चरित्र को पूरी तरह निर्धारित करते हैं और न यह कि चरित्र मूल्यों का एकमात्र निर्धारक तत्त्व है।[४] चरित्र और मूल्यों का अन्योन्याश्रयत्व और मूल्यों की नमनीयता मानवस्वभाव और उसकी परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है।[५] परिस्थितिबद्ध मानवस्वभाव इस प्रकार शान्तिपर्व की नैतिक अवधारणा में शुभता का स्त्रोत है, यद्यपि यह सत्य है कि शुभत्व की प्रचलित अवधारणायें भी परिस्थितियों के निर्माण का वैचारिक स्तर प्रस्तुत करती हैं।[६] मानवस्वभाव और 'शुभ' इस प्रकार एक दूसरे को सन्दर्भित करते हैं और 'शुभ' के किसी भी विवेचन की कल्पना मानवस्वभाव को उपेक्षित करके नहीं की जा सकती।[७]

स्वभाव का अर्थ है अपना भाव अथवा स्वरूप। जो अपने भाव अथवा स्वरूप को नहीं जानता वह अपने धर्म अथवा कर्तव्य को भी नहीं जान सकता[८] और परिस्थितियों के प्रवाह में बिना किसी स्वत्व के विवशतापूर्ण जीवन व्यतीत करने को विवश होगा।[९] कृतित्व और उपलब्धि-बोध के अभाव में जीवन की सार्थकता का अभाव अवश्यम्भावी हो जायगा और मूल्यांकन की आवश्यकता के अभाव में नीतिशास्त्र ऐसे प्राणी के लिए एक अनावश्यक कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।[१०] शान्तिपर्व का नीतिशास्त्र व्यक्ति के कार्यों का मूल्यांकन करते समय उसकी इस स्वभावजन्य विवशता को कहीं भी नहीं नकारता किन्तु उसकी इस विवशता को वह जीवन की निर्मूल्यता का आधार भी नहीं बनने देता।[११]

शान्तिपर्व के अनुसार मूल्यों की स्थापना में मानवस्वभाव की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता महत्त्वपूर्ण तत्त्व होते हैं।[१२] यही कारण है कि परम्परागत भारतीय मान्यताओं में आस्था रखने के कारण यद्यपि शान्तिपर्व मूल्यों की एक क्रमबद्धता में विश्वास रखता है, तथापि बड़े मूल्यों को वरणीय मानते हुए भी छोटे मूल्यों का अस्तित्व भी उपेक्षणीय नहीं मानता, क्योंकि छोटे मूल्य उसकी दृष्टि में जीवन के निम्न स्तरों की निर्मूल्यता से बचाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका

निभाते हैं।[१३] मूल्यों की क्रमबद्धता शान्तिपर्व के अनुसार मानव के स्वभाव-बोध के क्रमिक विकास का परिणाम है।[१४] मानवस्वभाव से सम्बन्धित शान्तिपर्व के प्रसंगों को देखने पर ऐसा लगता है कि शान्तिपर्व मानवस्वभाव-बोध के कम-से-कम तीन स्तरों में विश्वास करता है[१५] और इसीलिए मनुष्य के कार्यों के शुभाशुभ विवेचन के लिए मूल्यों की भी कम-से-कम तीन कोटियाँ स्वीकार करता है। स्वभाव-बोध के निम्नतम स्तर पर मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से संचालित होने के कारण इन्द्रिय-जगत् तक ही सीमित रहता है।[१६] इस निम्नतम स्तर पर मनुष्य सिर्फ 'प्राणी' के रूप में रहता है और पूरी तरह नैसर्गिक प्रवृत्तियों के अधीन होने के कारण अपनी सारी क्रियायें यान्त्रिक ढंग से संपन्न करता है।[१७] स्वभाव-बोध के इस स्तर पर उसके लिए अपने कर्मों के नैतिक मूल्यांकन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, उसकी सभी क्रियायें जैविक आवश्यकताओं से उद्भूत होती हैं और सुखानुभूति ही उनके प्रति उसका एकमात्र आकर्षण होता है।[१८] स्वभाव-बोध के इस स्तर पर सुखानुभूति परिस्थितिजन्य प्रवाह का परिणाम होती है और संभवत: किसी भी प्रकार के गुणात्मक विभेदन (Qualitative differentiation) से रहित होती है।[१९] भारत तथा पाश्चात्य विश्व के सुखवादी जीवनदर्शन की आधारभूमि संभवत: मानवस्वभावबोध का यही स्तर है।[२०] इस निर्मूल्यता पर बल देते हुए शान्तिपर्व में अर्जुन कहते हैं कि "इस संसार में कोई भी अहिंसा जैसे मूल्य की अवहेलना किए बिना नहीं रह सकता। जीव, जीव का आहार करते हैं और बलवान् निर्बल का। नेवला चूहे को खा जाता है और बिल्ली नेवले को। बिल्ली को कुत्ता खा जाता है और कुत्ते को व्यालमृग। इन सबको काल-पुरुष अपनी-अपनी गति के साथ खा जाता है। इस प्रकार का निर्मूल्य कार्य-व्यापार विधि के विधान से संचालित हो रहा है। अत: इसमें विद्वान् पुरुष को मोह नहीं करना चाहिये। हे राजन्! आप जैसे बनाये गये हैं, वैसे ही रहेंगे।"[२१] अर्थात् आप अपने स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकते। शान्तिपर्व में चार्वाक दर्शन का खंडन सुखवाद के इसी धरातल पर किया गया है।[२२] पाश्चात्य जगत् में भी प्रत्ययवादी विचारकों ने सुखवादी विचारधारा का खण्डन सुखवाद को इसी स्तर पर लाकर किया है।

सुखवाद की यह अवधारणा जो भारतीय परिप्रेक्ष्य में चार्वाक दर्शन पर उसके समालोचकों द्वारा लादी गयी है,[२३] चार्वाक दर्शन के आधुनिक पक्षधरों के अनुसार उचित नहीं हैं। उनकी दृष्टि में चार्वाक दर्शन की यह अवधारणा उस अत्यन्त प्रभावी लोकोन्मुखी दर्शन का मखौल थी।[२४] इस मखौल से भिन्न

सुखवाद के जिस धरातल का श्रेय चार्वाकों को दिया जाता है, वह शान्तिपर्व में प्रतिबिम्बित मानवस्वभावबोध का अगला स्तर है।

स्वभावबोध के इस दूसरे स्तर पर सुखानुभूति में गुणात्मक विभेदन का आविर्भाव होता है।[२५] सुखानुभूति जीवन की सुरक्षा की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगती है और यहीं मूल्यों और उनके वरीयताक्रम का भी सूत्रपात होने लगता है। सुरक्षा सुख से बड़ा मूल्य है, अतः यह मनुष्य में परिस्थितियों के प्रवाहजन्य सुखान्वेषण की प्रवृत्ति को नियंत्रित और निर्धारित करता है।[२६] यह वस्तुतः मूल्यवत्ता का निम्नतम और प्राथमिक स्तर है। इसके पहले निर्मूल्यता की स्थिति होती है। लोक-व्यापार और जीवनदर्शन की कोई भी परिकल्पना इस स्तर से नीचे नहीं हो सकती।[२७] अतः चार्वाक जैसे सुखवादी जीवन-दर्शनों की आधारभूमि मानवस्वभावबोध का यही स्तर रहा होगा, भले ही उसके आलोचक खींचतान कर उसे निर्मूल्यता के निम्नतम स्तर तक पहुँचा दें।

उच्चतर मूल्य के रूप में सुरक्षा स्वभावबोध के इसी स्तर पर बल का पर्याय बन जाती है। शान्तिपर्व में स्पष्ट कहा गया है कि 'दूसरे के हृदय को विदीर्ण किए बिना, दुष्कर कर्म किए बिना और मत्स्यघाती की तरह अपने स्वार्थ के लिए अकारण दूसरों का वध किये बिना कोई समृद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। किसी की हत्या न करने वाले के लिए न तो इस संसार में कीर्ति है, न धन और न राज्य। इन्द वृत्र का वध करने के बाद ही महेन्द्र हो पाये थे। जो देवता हिंसक स्वभाव के हैं उनकी सबसे अधिक पूजा होती है। रुद्र, स्कन्द, इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम, काल, मृत्यु, वैश्रवण, सूर्य, वसु, मरुत् और विश्वेदेवा आदि अपनी हिंसक प्रवृत्ति के कारण ही नमस्करणीय हैं।[२८] बल को ही शान्तिपर्व में अनेक स्थानों पर दण्ड के रूप में देखा गया है जो अराजक और मात्स्यन्याय की भयावह स्थिति से मानव समाज को बचाने के कारण हिंसक होते हुए भी शुभ है।[२९] शुभता के प्रतीक इस दण्ड से ही अच्छा मनुष्य दुर्लभ होते हुए भी सुलभ हो जाता है।[३०] व्यक्ति और समाज दोनों को ही अपनी पतनोन्मुखी परिस्थिति के प्रवाह से उबारकर शक्ति अथवा दण्ड वांछनीयता के धरातल पर प्रतिष्ठित करता है।[३१] स्वभावबोध के इस स्तर से उद्भूत नैतिकता का एक पक्ष यदि थ्रेसीमेकस का शक्तिसिद्धान्त[३२] प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर हाब्स का निरंकुश सत्तावाद[३३] तथा बेंथम और जेम्स मिल का सुरक्षावादी राजदर्शन[३४] जो सुरक्षा की सीमा तक ही राज्य की गतिविधियों को सीमित कर देना चाहता है। भारत का चार्वाक दर्शन भी संभवतः इसी स्तर से निकल सकने वाले बहुत से वैकल्पिक नैतिक सिद्धान्तों का एक उदाहरण था, किन्तु शान्तिपर्व की नैतिकता इनमें से किसी की

ओर भी झुकती नहीं दिखायी देती क्योंकि सुरक्षा और सुख के द्वैत में सुरक्षा को लोक-व्यवस्था और कल्याण के साधन के रूप में शुभ और आवश्यक मानते हुए और दण्ड के रूप में उसका स्वागत करते हुए भी वह उसे जीवन के चरम मूल्य के रूप में नहीं स्वीकार करती।

यहीं पर मानवस्वभावबोध का तीसरा धरातल आता है जो भारतीय संस्कृति में प्रचलित त्रिवर्ग की अवधारणा के चरम मूल्य का भी स्त्रोत है। इस स्तर पर सुख और सुरक्षा के गुणात्मक विभेदन के अतिरिक्त धर्म अथवा कर्तव्य का एक तीसरा गुणात्मक भेद भी उपस्थित हो जाता है।[३५] पूर्वगामी स्तर पर सुख और सुरक्षा में यदि सुरक्षा के लिए सुख का बलिदान किया जा सकता है तो स्वभाववोध की इस तीसरी भूमि पर सुरक्षा और धर्म में से धर्म के लिए सुरक्षा का भी बलिदान किया जा सकता है।[३६] यह बलिदान वैयक्तिक एवं सामूहिक दोनों ही स्तरों पर हो सकता है। वैयक्तिक स्तर पर महाराज शिवि[३७], पत्नी का अपहरण करने वाले बहेलिए अतिथि के लिए अपना मांस अर्पित करने वाले कबूतर दम्पति की कथा[३८], शत्रु के अभ्युदय के इच्छुक ब्राह्मणवेषधारी इन्द्र के मांगने पर प्राणों का खतरा उठाकर कर्ण का कवच-कुण्डल दान करना,[३९] देवताओं की रक्षा और वृत्र के विनाश के लिए दधीचि[४०] का अपनी अस्थियों का दान करने जैसी अनेक कथाओं के उदाहरण महाभारत से ही दिए जा सकते हैं। न्याय और धर्म के लिए सामूहिक बलिदान (ज्ञातिवध) का उदाहरण महाभारत-युद्ध स्वयं ही है। सुकरात का आत्म-बलिदान, ईसाइयों का उत्पीड़न, क्रुसेड तथा जेहाद जैसी घटनायें विश्व-सन्दर्भ में सुरक्षा और शक्ति के मूल्य पर धर्म की वरीयता स्थापित करने के कुछ दृष्टांत हैं।[४१]

एक नैतिक मूल्य के रूप में धर्म की सर्वोत्कृष्टता बल अथवा दण्ड से उत्पन्न शुभता को एक अवर मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित कर देती है। इससे दण्ड का महत्त्व तो कम नहीं हो पाता, उसकी निरंकुशता भले समाप्त हो जाती है; उसी प्रकार जिस प्रकार बल अथवा दण्ड के आगमन से सुखभोग की निरंकुशता समाप्त हो जाती है। न तो दण्ड सुख का विकल्प है[४२] और न धर्म दण्ड का।'[४३] धर्म की दण्ड के ऊपर वरीयता मात्र सैद्धान्तिक नहीं है और न ही उसकी स्थापना अनिवार्यतः एक अहिंसक प्रक्रिया है[४४] किन्तु धर्म की यह शक्ति प्रकट होने के लिए मानव-स्वभावबोध के एक स्तर की अपेक्षा रखती है। यदि उस स्तर का स्वभावबोध नहीं है तो धर्म कोरी सैद्धान्तिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।[४५] ऐसी परिस्थिति में दण्ड की निरंकुश शक्ति की सीमा तक पहुंचने से कोई नहीं रोक सकता। यदि पाण्डवों में इस स्तर का स्वभावबोध न होता तो

वे इतने बड़े युद्ध का जोखिम उठाने को कदापि न तैयार होते और कौरवों की निरंकुशता अबाध गति से बढ़ती जाती। पुराणों में दण्ड और धर्म के इसी सम्बन्ध को दण्ड को 'धर्म का पुत्र' बताकर व्यक्त किया गया है।[४६] मानव-स्वभावबोध के विभिन्न स्तरों से उद्‌भूत 'सुख' यदि गुणात्मक भेद-रहित निर्मूल्यता की स्थिति है[४७] तो दण्ड शुभ और दण्ड से उत्पन्न हो सकने वाली अशुभता अथवा निरंकुशता को समाप्त करने वाला धर्म सबसे बड़ा शुभ या परमशुभ है। दण्ड और धर्म की सीमा में बंधकर सुख भी निर्मूल्यता के स्तर से ऊपर उठकर स्वयं भी शुभ अथवा मूल्य बन जाता है।[४८] क्योंकि सारा लोक-व्यापार उसी के सहज आकर्षण से संचालित होता है। सुख, दण्ड और धर्म अपनी शुभता में त्रिवर्ग का निर्माण करते हैं जिन्हें परम्परागत भाषा में काम, अर्थ और धर्म का नाम दिया गया है।

त्रिवर्ग के इन तीन पुरुषार्थों की पारस्परिक सापेक्षता शान्तिपर्व में कई स्थलों पर उभारी गयी है।[४९] 'अर्थ' एवं 'धर्म' के पुरुषार्थ अपने अपने समष्टिगत स्वरूप में क्रमशः क्षत्रियों एवं ब्राह्मणों के दायित्व माने गये हैं। इनकी सिद्धि से ही जनसाधारण के लिए 'काम' (पुरुषार्थ) की सिद्धि हो पाती है। अर्थ एवं धर्म की शक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रश्न वस्तुतः क्षेत्र और ब्रह्म के सम्बन्धों के रूप में देखा जाता रहा है।[५०] शान्तिपर्व में इनके अन्योन्याश्रित होने पर बल दिया गया है। पुरूरवा-कश्यप संवाद में कश्यप कहते हैं कि "संसार में जहाँ कहीं भी ब्राह्मण क्षत्रिय का विरोध करते हैं वहाँ क्षत्रिय का राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। लुटेरे उस पर अधिकार कर सभी वर्णों के लोगों को अपने अधीन कर लेते हैं; जब क्षत्रिय ब्राह्मण को त्याग देते हैं तो उनका वेदाध्ययन आगे नहीं बढ़ता, उनके पुत्रों की भी वृद्धि नहीं होती, न ही वे यज्ञ कर पाते हैं। इतना ही नहीं उन ब्राह्मण पुत्रों का भी वेदाध्ययन नहीं हो पाता। ये दोनों ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दूसरे से मिलकर रहें, तभी वे एक दूसरे की रक्षा कर सकने में समर्थ होते हैं। ब्राह्मण की उन्नति का आधार क्षत्रिय होता है और क्षत्रिय की उन्नति का आधार ब्राह्मण। ये दोनों जातियां अन्योन्याश्रित होकर रहने पर बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त करती हैं किन्तु इनकी मैत्री टूट जाने पर सारा जगत् किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। जैसे महान् एवं अगाध समुद्र में टूटी हुई नौका पार नहीं पहुँच पाती, उसी प्रकार उस अवस्था में मनुष्य अपनी जीवनयात्रा को कुशलतापूर्वक पूर्ण नहीं कर पाते। चारों वर्गों की प्रजा पर मोह छा जाता है और वह नष्ट होने लगती है।[५१] जहाँ ब्राह्मण अपने तेज से प्रजा के अदृष्ट भय

को दूर करता है और क्षत्रिय अपने बल से दृष्ट भय को दूर करता है, वह राज्य सुख से उत्तरोत्तर उन्नति करता जाता है।[५२] इसी प्रकार मुचकुन्द और कुबेर के बीच होने वाले संवाद में ब्रह्म-क्षत्र की अन्योन्याश्रिता पर बल देते हुए मुचकुन्द कहते हैं कि 'ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों की उत्पत्ति का स्थान एक ही है। दोनों को स्वयंभू ब्रह्मा ने ही उत्पन्न किया है। यदि उनका बल और प्रयत्न अलग-अलग हो जाय तो वे संसार की रक्षा नहीं कर सकते। ब्राह्मणों में सदा मंत्र और तप का बल होता है और क्षत्रियों में अस्त्रों और भुजाओं का।[५३] इस भूतल पर जो कोई भी वस्तु है वह इन दोनों की है।[५४] इसलिए ब्राह्मण और क्षत्रिय को मिलकर ही प्रजा का पालन करना चाहिए।'[५५] क्षत्र अथवा अर्थशक्ति की असंतुलित वृद्धि ब्रह्म अथवा धर्मशक्ति के द्वारा ही नियंत्रणीय होती है किन्तु धर्म की शक्ति अर्थशक्ति का स्थान नहीं ले सकती। यह बात शंख-लिखित कहानी में अत्यन्त स्पष्ट रूप में कही गयी है। अनायास ही चोरी का अपराध कर बैठने वाले लिखित को शंख स्वयं दण्ड न देकर राजा के पास भेजते हैं जो न चाहते हुए भी अपने धर्म का पालन करने के लिए लिखित के दोनों हाथ कटवा लेते हैं। शंख अपने तपोबल से लिखित के दोनों हाथ पुनः उत्पन्न कर देने की क्षमता रखते हुए भी राजा के काम को महत्त्वपूर्ण बनाते हैं।[५६] राजा का कार्य दारुण व पापमय होते हुए भी उसका उद्धारक है। धर्म के लिए ज्ञातिवध तक में न हिचकना, शत्रुओं का विनाश, युद्ध से प्राप्त रक्तरञ्जित भोगों का उपभोग, दान और यज्ञ उसके सर्वमान्य कर्म हैं।[५७] इन्हीं कर्मों से इन्द्र को इन्द्रत्व प्राप्त हुआ था और अतीत के सभी प्रसिद्ध राजाओं ने स्वर्ग प्राप्त किया था।[५८] धर्म के विविध रूप और प्रकार शान्तिपर्व में बताये गये हैं किन्तु राजा के लिए असाधुनिग्रह, साधु-अनुग्रह, धर्ममार्ग का संस्थापन और यज्ञ का सम्पादन ही परम कर्तव्य है।[५९] शान्तिपर्व में इस प्रकार त्रिवर्ग के शुभों को अन्योन्याश्रित बताते हुए भी उनके वरीयता क्रम के बँधे होने की बात के साथ-साथ स्वधर्म की अवधारणा भी काफी बल देकर उभारी गयी है। समष्टिगत 'अर्थ' यदि क्षत्रियों और विशेषकर राजा का दायित्व है तो समष्टिगत 'धर्म' और 'काम' क्रमशः ब्राह्मण तथा वैश्यों एवं शूद्रों का। व्यष्टिगत स्तर पर सभी सब के लिए हैं। त्रिवर्ग की यह अवधारणा अपने में पूर्ण और प्रवृत्तिमार्ग का आत्मनिर्भर जीवनदर्शन प्रस्तुत करती है। इसके शुभ और परमशुभ दोनों ही इसी में समाहित हैं। निवृत्तिमार्गी जीवनदर्शन के आगमन के साथ-साथ मानव-स्वभावबोध के विकास का उच्चतम धरातल उपस्थित होता है जिसके कारण त्रिवर्ग में 'मोक्ष' के रूप में एक और वर्ग जुड़ जाता है जिससे

त्रिवर्ग चतुवर्ग में बदल जाता है और उसका (त्रिवर्ग का) परमशुभ चतुर्वर्ग में एक शुभ मात्र बनकर रह जाता है। चतुवर्ग का यह अंतिम शुभ ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है जिसके परे कुछ और नहीं है तथा जिसे पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता।

प्राचीन इतिहास विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद (उ. प्र.)

– अतुलकुमार सिन्हा

टिप्पणियाँ

१. **शान्तिपर्व** (बी. ओ. आर. आई. संस्करण), पूना, १९७४, १. १४–१५; ७. ३–५, ७–१०, ३५.

२. शान्तिपर्व की सम्पूर्ण विषयवस्तु यथार्थ और आदर्श अथवा जीवन के व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक धरातलों के बीच संतुलन-स्थापन के प्रयासों का परिणाम है। 'कर्म' जीवन का सत्य है और 'मोक्ष' उसका लक्ष्य तथा इन दोनों के बीच का सामञ्जस्य-सूत्र है 'धर्म'; इसलिए शान्तिपर्व का धर्म आचरण के नियमों के रूप में कर्मजगत् को अनुशासित करता हुआ मोक्ष तक ले जाने का साधन है। गन्तव्य भले ही मोक्ष है, जाना तो संसार से होकर ही है; इसलिए संसार भी सत्य है और सांसारिक मूल्य भी सत्य है तथा मोक्ष चरम सत्य है। इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत शान्तिपर्व भी **वैशेषिक सूत्र** (१.१.३) के समान 'धर्म' का वही स्वरूप स्वीकार करता है जो 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस्' दोनों को सिद्ध करता है। **शान्ति.**, १०९.१०.

३. यही कारण है कि शान्तिपर्व 'धर्म' की गत्यात्मकता में विश्वास करता है और धर्माधर्मनिर्णय में देश, काल और परिस्थितियों की भूमिका की उपेक्षा नहीं करता। **शान्ति.**, ३७.९; ७९.३१

४. शान्तिपर्व में ऋषि जाजलि और वैश्य तुलाधार की कथा, गणिका पिङ्गला, विश्वामित्र और चाण्डाल की कथा, और कायव्य धर्मव्याध आदि की कथायें इसी तथ्य को स्पष्ट करती हैं।

५. तुलनीय, डूरां, विल; **दि प्लेजर्स आव फिलासफी**, न्यूयार्क, १९५५, पृ. ७६–७७;

६. रून्स, डी. डी., **ए डिक्शनरी ऑव फिलासफी**, लंदन, १९४५, पृ. ११८;

७. मुकर्जी, राधाकमल; **द सोशल स्ट्रक्चर आव वैल्यूज**, दिल्ली, १९६५, पृ. ३–४.

८. पाण्डेय, राजवली; **भारतीय नीती का विकास**, पटना, १९६५, पृ. ६६

९. 'धर्म' अथवा विवेक ही मनुष्य को प्राणि-जगत् की सामान्य जैविक विवशताओं से ऊपर उठकर परिस्थितियों के प्रवाह में बहने के बजाय उन पर नियंत्रण पाकर अपने 'स्वत्व' को जागृत करने की प्रेरणा देता है। यही वह विशिष्ट तत्त्व है जो मनुष्य को अपनी विवशताओं का शिकार नहीं बनने देता और उसमें कर्तव्याकर्तव्य-भेद की क्षमता उत्पन्न करता है जिसके अभाव में मनुष्य और पशु के बीच कोई अन्तर नहीं रह जाता।

"आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिकोविशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः॥"

शान्ति०, २९४–२९, **भारतीय नीति का विकास**, पृ. २ पर उद्धृत।

१०. उपलब्धि-बोध ही प्रत्येक प्रकार के मूल्यांकन का आधार होती है और 'मूल्य' चेतना के भिन्न-भिन्न स्तरों पर मानव-स्वभाव को सन्तुष्ट करने के कारण परिवर्तनीय होते हैं। चेतना के निम्नतम स्तर पर मानव स्वभाव को संतुष्ट करने वाला मूल्य उसके (चेतना के) उच्चतम स्तर को जरा भी प्रभावित नहीं कर सकता। नीतिशास्त्र मूल्यों का विज्ञान है इसलिए उसका महत्त्व और उसकी आवश्यकता ऐसे ही प्राणी के लिए हो सकती है जिसमें कार्याकार्य भेद तथा जीवन को जैविक मूल्यों के धरातल से ऊपर उठकर देख सकने की क्षमता हो। पाशविक धरातल पर नीतिशास्त्र अस्तित्वहीन हो जाता है।
तुलनीय, हिरियन्ना, एम०, **इन्डियन कंसेप्शन ऑव वैल्यूज**, मैसूर, १९७५, पृ. २-३.

११. इन्द्रियों से परे बुद्धि, बुद्धि से परे मन और मन से परे आत्मा की औपनिषदिक मान्यता के स्वीकरण द्वारा शान्तिपर्व मानव की स्वभाव-

जन्य विवशता को जीवन की निर्मूल्यता बनाने के अधिकार को ही समाप्त कर देता है। कठोपनिषद्, १-३-१०; गीता, ३-४२; शान्ति., २६७-१६

१२. प्राचीन परम्पराओं के अनुसरण में शान्तिपर्व भी मोक्ष को जीवन का उच्चतम लक्ष्य मानता है। और इसकी प्राप्ति के लिए 'ज्ञान' को एक प्रमुख साधन स्वीकार करता है किन्तु यह ज्ञान किसी बाहरी वस्तु का नहीं है, यह तो मनुष्य के अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है जिसके द्वारा वह ब्रह्म से अपना अभेद समझकर फिर उसमें विलय का प्रयास करता है और यही मोक्ष है जो जीवन का अन्तिम उद्देश्य है। इस उद्देश्य की ओर प्रेरित करने वाले कर्म मानवस्वभाव के अनुकूल होते हैं क्योंकि वे उसके वास्तविक स्वरूप को समझने में सहायक होते हैं और इसीलिए उनका सकारात्मक मूल्य होता है; इसके विपरीत इस मूल उद्देश्य से विमुख करने वाले कर्म मानवस्वभाव को उसकी वास्तविकता से दूर ले जाने के कारण मानव-स्वभाव के प्रतिकूल होते हैं और उनका मूल्य नकारात्मक होता है। ये सकारात्मक और नकारात्मक मूल्य ही धर्माधर्मनिर्धारण का आधार होते हैं। तुलनीय, हिरियन्ना, एम०, **इन्डियन कन्सेप्शन ऑव वैल्यूज**, मैसूर, १९७५, पृ. २.

१३. यही कारण है कि शान्तिपर्व जहाँ एक ओर स्वर्ग और मोक्ष जैसी पारलौकिक उपलब्धियों को ही जीवन का उद्देश्य बनाकर धर्मपालन की प्रेरणा देता है, वहीं दूसरी ओर धन और राज्य जैसी भौतिक समृद्धि मात्र के लिए ऐसे कूटनीतिक उपायों का भी प्रतिपादन करता है जो सामान्य तौर पर धर्म के अतिक्रमण के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझे जा सकते।

१४. भीम, अर्जुन, नकुल-सहदेव और विदुर तथा युधिष्ठिर के लिए जीवन के उच्चतम लक्ष्य की अलग-अलग अवधारणायें शान्तिपर्व के इसी सत्य को पुष्ट करती हैं। भीम यदि मानवस्वभाव के निम्नतम स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं तो युधिष्ठिर उच्चतम स्तर का और अर्जुन, नकुल-सहदेव तथा विदुर इन दोनों सीमाओं के बीच निम्नतम से उच्चतम की ओर के क्रमिक विकास को द्योतित करते हैं। **शान्तिपर्व, अध्याय १६१.**

१५. "...... मनुष्य के बौद्धिक और नैतिक विकास की मोटे स्तर पर तीन अवस्थायें होती हैं—मूढ, जागरूक और सिद्ध। मूढ को संसार के दुःख

नहीं सताते, लोक-कल्याण की उसे चिन्ता नहीं होती और न उसको, सत्यासत्य, शुचि-अशुचि, उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय के सम्बन्ध में जिज्ञासा ही होती है। इसका कारण यह है कि मूढ़ तमोगुण से अभिभूत होता है जिसका प्रधान लक्षण है जड़त्व। जागरूक में रजोगुण की प्रधानता होती है। उसका जीवन दुविधा, द्वन्द्व और संघर्ष का क्रीडा-क्षेत्र होता है।····· उसके सामने संसार की समस्यायें और प्रश्न अपने विकट रूप में सामने प्रस्तुत होते हैं। सिद्ध में सत्वगुण की प्रधानता होती है जिसके मुख्य लक्षण हैं प्रकाश, ज्ञान और प्रसाद। सिद्ध की सारी समस्यायें हल हुई होती हैं। उसके सभी मानसिक द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। दुविधा और संशय से वह पीड़ित नहीं होता। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय तो पशु-धरातल पर होता है और सिद्ध देव-धरातल पर। सामान्य मानव का प्रतिनिधि अथवा प्रतीक जागरूक है जो न तो पशु है और न सिद्ध, किन्तु अभी जिसमें पशुत्व का अवशेष और देवत्व का आभास है।" पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ. ६३-६४; शान्तिपर्व भी मानवस्वभाव के इन तीनों स्तरों में विश्वास रखता है और क्रमशः भीम तथा युधिष्ठिर और अर्जुन एवं जनक, भीष्म व व्यास को इन तीनों स्तरों के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत करता है।

१३. मानवस्वभाव के इस स्तर के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में शान्तिपर्व भीम को प्रस्तुत करता है यद्यपि दुर्योधन आदि कौरव भी इस स्तर से ऊपर नहीं रखे जा सकते।

१७. मजूमदार, डी. एन. एवं मदान, टी. एन.; **ऐन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल एन्थ्रोपोलॉजी**, (पुनर्मुद्रित) बम्बई, १९६३, पृ. vii

१८. तुलनीय, पाण्डे गोविन्द चन्द्र, **मूल्य मीमांसा**, जयपुर, १९७३, पृ. ९५, ९६; मेकेन्जी, जे. एस; **ए मैनुअल ऑव एथिक्स**, लंदन, १९२९, पृ. १६, २५.

१९. रैश्डाल, एच., **द थिअरी ऑव गुड एण्ड इविल**, जिल्द-१, लंदन, १९२४, पृ. १५२; रून्स, डी. डी.; वहीं, पृ. १२३, मैकेन्जी, वहीं, पृ. १७९-७९; बैनर्जी, एन. वी.; **स्पिरिट ऑव इन्डियन फिलासफी**, दिल्ली, १९७४, पृ. २९८.

२०. मिश्र, उमेश; **भारतीय दर्शन**, लखनऊ, १९६५, पृ. ८२-८३; हिरियन्ना, पूर्वोद्धृत, पृ. ११; मैकेन्जी, वहीं, पृ. १३७; बानर्जी, एन. वी.; वहीं;

२१. **शान्तिपर्व** १५.२०-२३;

२२. युधिष्ठिर के नगर-प्रवेश के उपरान्त उन पर स्वार्थजनित हिंसा का आरोप लगाने वाले चार्वाक का ब्राह्मणों द्वारा वध इसी का प्रतीक है क्योंकि शान्तिपर्व निश्चित रूप से पाण्डवों के द्वारा किए गए इस ज्ञातिवध का उद्देश्य वैयक्तिक सुख मात्र नहीं मानता बल्कि अधर्म-दमन और धर्मसंस्थापन मानने के कारण वह इस ज्ञातिवध का औचित्य भी स्थापित करता है। शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन का प्रणयन और उसके अधिकांश इसके स्पष्टतम प्रमाण हैं। **शान्तिपर्व**, ३९-२६-२७, ३५; **रामायण** (बड़ोदा सं.), २.१००.३-१७, १०१; हिरियन्ना, एम; **भारतीय दर्शन की रूपरेखा** (द्वि. अनु.), (द्वि. सं.), दिल्ली, १९७३, पृ. १९३-१९५; शर्मा, बी.; **द एथिको लिटरेरी वैल्यूज ऑव द टू इपिक्स ऑव इन्डिया**, दिल्ली, १९७८, पृ. ३.

२३. चट्टोपाध्याय, डी. पी.; **लोकायत – ए स्टडी इन एन्शिएन्ट इन्डियन मैटीरियलिज्म**, (चतुर्थ सं.), दिल्ली, १९७८, पृ. ३१, पर उद्धृत मध्व का कथन।

२४. **लोकायत**, पृ. ३१; **इन्साइक्लोपीडिया आव रिलिजन एण्ड इथिक्स**, जिल्द–८, पृ. १३५ पर आर. गार्बे का लेख।

२५. इसका अत्यन्त स्पष्ट विवेचन जे. एस. मिल की **यूटिलिटैरियनिज्म** में देखने को मिलता है। साथ ही देखिए– मूर, जी. ई.; **इथिक्स**, (पुर्नमुद्रित), लंदन, १९७२, पृ. ९; बॅनर्जी, एन. वी., **स्पिरिट ऑव इंडियन फिलासफी**, दिल्ली, १९७४, पृ. २५७;

२६. **मूल्यमीमांसा**, पृ. ९७.

२७. **लोकायत**, पृ. (xiii),

२८. **शान्तिपर्व**, १५.१४-१७;

२९. वहीं, १५.२, १०–११; १२१.४७, ५४;

३०. वहीं, १५.३४;

३१. वहीं, १५.३७–४२; १२१–२३;

३२. सैबाइन, जी. एच्., **ए हिस्ट्री ऑव पोलिटिकल थियरी**, (तृ. सं.) न्यूयार्क, १९६८, पृ. ३१ बार्कर, अर्नेस्ट, **ग्रीक पोलिटिकल थियरी** (हिं. अनु.), दिल्ली, १९६७, पृ. ११;

३३. सैबाइन, वहीं, पृ. ४७०. जोन्स, टी. डब्लू., **मास्टर्स ऑव द पोलिटिकल थॉट**, जिल्द–२, (पुनर्मुद्रित), लंदन, १९५६, पृ. ११८–११९.

३४. सैबाइन, वहीं, पृ. ६७९–८०;

३५. स्वभावबोध के इस धरातल पर व्यक्ति एक 'विवेक-सम्पन्न प्राणी' बनकर सामने आता है। उसका दृष्टिकोण वैयक्तिक स्वार्थपरता की संकुचित परिधि को लांघकर अपेक्षाकृत अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त होता है। ऐन्द्रिक सुखोपभोग और वैयक्तिक सुरक्षा की स्वार्थपरक प्रवृत्तियों के स्थान पर 'धर्म' अथवा 'विवेक' के द्वारा कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण करने के पश्चात् ही वह किसी कर्म में प्रवृत्त होता है। सच पूछा जाय तो स्वभावबोध के इस स्तर पर आकर ही उसका 'मनुष्यत्व' उसके भीतर के 'पशुत्व' को पराजित कर पाता है और अपने वास्तविक रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करता है।

३६. 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' की घोषणा भारतीय विचारधारा में इसी तथ्य का उद्घाटन करती है। साथ ही देखिए, मैकेंजी, पूर्वोद्धृत, पृ. १७१; फेनबर्ग, जोएल; **मॉरल कांसेप्ट्स**, लंदन, १९६९, पृ. १३.

३७. **वनपर्व** (गीता प्रेस सं.) १९७.११–२३;

३८. **शान्तिपर्व**, १४२.४१; १४४.९

३९. **आदिपर्व** १०४.१८–१९; **शान्तिपर्व**, ५.८–१०;

४०. **वनपर्व**, ९८.२१; **शल्यपर्व**, ५०.२९; **शान्तिपर्व**, ३२९.१६–२७;

४१. वर्कमैन, एच्. बी; 'क्रूसेड', **इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स**, जिल्द. ४ पृ. ६५१; मैकेंजी, पूर्वोद्धृत, पृ. १७१; बार्कर, अर्नेस्ट, **ग्रीक पॉलिटिकल थियरी** (हि. अनु.), वी. पी. गुप्त; दिल्ली, १९६७, पृ. १४६–१४७;

४२. सुख और दण्ड का संबंध अन्योन्याश्रित होता है। 'दण्ड' के अभाव में 'शक्ति' के बल पर कुछ बलवान् लोग तो अपने 'सुख' को प्राप्त कर सकते हैं किन्तु अधिकांश प्रजा पीड़ित और दमित रहती है। 'दण्ड' इन 'कुछ लोगों' की सुखभोग की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति का दमन करता है और अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख-प्राप्ति की व्यवस्था स्थापित करता है। इस रूप में वह 'सुख' की प्रवृत्ति का विरोध नहीं करता और न ही वह उसका कोई विकल्प प्रस्तुत करता है। वह तो 'सुख' को मात्र कुछ लोगों की अधिकार सीमा से

बाहर निकाल कर उसे अधिकतम लोगों की अपेक्षाकृत अधिक व्यापक सीमा में ला कर प्रतिष्ठित कर देता है।

४३. 'दण्ड' और 'धर्म' कोई अलग-अलग व्यवस्थायें नहीं है यद्यपि ऊपर से देखने पर वे अलग-अलग ही दिखायी देती हैं। 'धर्म' की शक्ति 'दण्ड' के व्यावहारिक स्वरूप में अभिव्यक्त होती है और 'दण्ड' का सैद्धांतिक औचित्य 'धर्म' के रूप में प्रस्तुत होता है। धर्म सिद्धांत है और दण्ड व्यवहार। इसीलिए शान्तिपर्व में दण्ड का एक नाम 'व्यवहार' भी बताया गया है (शान्ति. १२१.८–९)। भारतीय परम्परा में इनके पारस्परिक संबंध की अभिव्यक्ति पिता-पुत्र संबंध के माध्यम से की गयी है। **विष्णु पुराण** १.७.२०; **मनुस्मृति**, ७.१४

४४. अधर्म का साथ देने पर धर्मशक्ति हिंसा के प्रयोग से भी दण्ड की अधार्मिकता को नष्ट कर डालती है। प्राचीन भारतीय साहित्य में ऐसे कई राजाओं के विषय में जानकारी मिलती है जिन्होंने अपने को धर्म के ऊपर समझने की धृष्टता की और फलस्वरूप नष्ट कर डाले गए। उनकी एक लंबी सूची मनु और कामन्दक ने दी है। **महाभारत** ५.१५.२४; १३.१०२.२६; **मनु**. ७.४१; **कामन्दकीय नीतिसार** १.१४, ५६–५७; हापकिन्स, ई. डब्लू.; **इपिक माइथॉलोजी**, न्यूयार्क, १९६९, पृ. १३.

४५. यह स्तर विवेक का स्तर है जो व्यक्ति को वैयक्तिक स्वार्थपरता की सीमित परिधि से बाहर ला कर उसे 'मनुष्य' के रूप में प्रतिष्ठित करता है और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का प्राथमिक धरातल प्रस्तुत करता है। इस स्तर से नीचे 'धर्म' की कोई भी कल्पना वैयक्तिक हितों की पूर्ति के लिए औचित्य-स्थापन के एक सैद्धांतिक आवरण के रूप में सामने आयेगी।

४६. **विष्णुपुराण** १.७.२०; **मनु**. ७.१४;

४७. "सुख अमर्यादित द्वन्द्वों के अनियत और अनाद्यनन्त प्रवाह का अंग है... और... सुखासक्ति अज्ञानी पशुओं का मूल्यबोध है जो विकारी और व्यभिचारी होते हैं" (**मूल्यमीमांसा**, पृ. ८४) यही कारण है कि नैतिक मूल्यांकन के क्रम में 'सुख' जैविक अथवा ऐन्द्रिक निर्मूल्यता का मूल्य बनकर सामने आता है और इसीलिए उसमें गुणात्मक भेद का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। देखिए, मैकेंजी, **पूर्वोद्धृत**, पृ. २५–२६, १९०८;

४८ इस स्तर पर 'सुख' के साथ कुछ अंशों में 'श्रेय' का भी समावेश हो जाता है और वही सुख की निर्मूल्यता को 'मूल्य' प्रदान करता है और इस प्रकार 'सुख' को 'शुभ' में परिणत कर उसे मूल्य-जगत् में प्रतिष्ठित कर देता है।

४९. **शान्तिपर्व**, १२३.३७–८; १६१.३८.

५०. **स्पिरिचुअल अथार्टी एण्ड टेम्पोरल पावर इन दि एन्शिएन्ट इंडियन थियरी ऑव गवर्नमेंट**, दिल्ली, १९७८ में ए. के. कुमारस्वामी ने इस संबंध को अत्यधिक स्पष्ट रूप में उभारा है।

५१. **शान्तिपर्व**, ७४.८–१३.

५२. वहीं, ७५.२

५३. वहीं, ७५.१३–१४

५४. वहीं, ७३.१२; ७५.२२

५५. वहीं, ७५.१५

५६. वहीं, २४.२६

५७. वहीं, २६.३२; ६०.१७; ६४.२०–२१; ६९.७१

५८. वहीं, ८.२५, २८, ३३–३५

५९. वहीं, १४.१६; ६४.३१

सत् का लक्षण : अर्थक्रियाकारित्व

सत् को अनेक प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। जैन दार्शनिक सत् उसे कहते हैं जो उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त हो [1]। सत् के इस लक्षण के साथ उनके द्रव्य, गुण और पर्याय–ये तीन संप्रत्यय जुड़े हुए हैं। द्रव्य में प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है। यह उत्पादव्यय द्रव्य का 'परिणाम' (कार्य) है और इस तरह से परिवर्तित होते रहने पर भी द्रव्य अपने स्वरूप (गुणों) को नहीं छोड़ता, यह उसका 'ध्रौव्य' है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार सत् परिणामीनित्य है।

बौद्धों का कहना है कि 'नित्य पदार्थ सत् नहीं हो सकता'। इस स्थापना के लिए बौद्ध दिग्नाग स्कूल में सत् का लक्षण 'अर्थक्रियासामर्थ्य' दिया गया है।[2] धर्मकीर्ति **वादन्याय** में कहते हैं कि 'नित्य, क्रम या युगपत्, किसी भी प्रकार से, अर्थक्रिया नहीं कर सकता।' अर्चट **हेतुबिन्दुटीका** में यही बात अर्थक्रिया की जगह 'कार्यक्रिया' शब्द का प्रयोग करके कहते हैं। [3] अतः 'जो अर्थक्रिया समर्थ है वह सत् है' इसका तात्पर्य हुआ कि सत् वह है जो कार्योत्पादन में समर्थ है। सत् के इस लक्षण द्वारा बौद्ध दार्शनिक क्षणिकवाद की स्थापना करते हैं।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि जिस तरह से सत् को कूटस्थनित्य मानने पर उसमें अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध नहीं हो पाता, उसी तरह से सर्वथा क्षणिक सत् भी अर्थक्रियारहित सिद्ध होता है। अकलंकदेव के अनुसार 'पूर्वस्वभाव का त्याग और उत्तर स्वभाव की प्राप्ति' यह अर्थक्रिया का लक्षण है। [4] (यहाँ 'स्वभाव' शब्द अवस्था का वाचक है।) यह लक्षण कथंचित् नित्य (द्रव्यार्थिक नस की अपेक्षा नित्य) सत् में ही घटित हो सकता है जो कि अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर उत्तर अवस्था को ग्रहण करता है। द्रव्य में यह अर्थक्रिया प्रतिक्षण होती रहती है इसलिए वह सदैव सत् है। यह जैन मत है।

नित्य पदार्थ की कल्पना दो प्रकार से की जा सकती है—

१) कूटस्थ नित्य। जैसे सांख्य का पुरुष तत्त्व।

२) परिणामी नित्य। जैसे सांख्य का प्रकृति तत्त्व।
'कूटस्थ नित्य' का मतलब है जो बिल्कुल भी न बदले। तब इसमें अर्थक्रिया घटित नहीं हो सकती। अब हमारे पास दो आधार-वाक्य हैं-

१) सत् वही हो सकता है जो अर्थक्रियाकारी हो।
२) कूटस्थ नित्य अर्थक्रियाकारी नहीं है।
इनसे यह फलित हो जाता है कि
३) कूटस्थ नित्य सत् नहीं है।

नित्य पदार्थ की कल्पना अब परिणामी रूप में की जा सकती है। इसका मतलब होगा कि पदार्थ की अवस्थाएं बदलती हैं लेकिन पदार्थ स्वयं न तो उत्पन्न होता है न नष्ट होता है। सत् एक ही रहकर भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न निमित्तों के मिलने पर भिन्न-भिन्न अर्थक्रियाएँ कर सकता है। बौद्धों ने अपनी ओर से ऐसे नित्य पदार्थ को भी अर्थक्रियारहित सिद्ध किया है। सत् के अर्थक्रिया लक्षण को स्वीकार करने में मूल परेशानी यही है कि तब नित्य तत्त्वों को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? नैयायिक इसीलिए सत् के इस लक्षण को स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत जैनों ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि नित्य पदार्थ अर्थक्रियाकारी हो सकता है और हम सत् के अर्थक्रियाकारित्व लक्षण को स्वीकार कर सकते हैं। आगे हम क्रम से बौद्धों और जैनों की 'अर्थक्रियाकारित्व' संबंधी व्याख्याओं को प्रस्तुत करेंगे।

कोई पदार्थ नित्य है, इसका मतलब है कि वह भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में रहता है। वह सत् है अतः वह प्रतिक्षण कोई न कोई अर्थक्रिया भी करता है।

अब माना कि नित्य पदार्थ को वर्तमानक्षण t_0 पर अर्थक्रिया x_0 है। अतीत के क्षणों (क्रम से) $t_1, t_2, t_3, \cdots$ पर उसको अर्थक्रियाएँ थी (क्रम से) $x_1, x_2, x_3, \cdots$ इसी तरह से माना गया नित्य पदार्थ भविष्य में t_1 पर x_1, t_2 पर x_2 आदि अर्थक्रियाएँ करेगा। इस प्रकार से माना जा सकता है कि नित्य पदार्थ अर्थक्रियाकारी हो सकता है। बौद्ध इसका खंडन निम्न प्रकार से करते हैं–

(१) कोई पदार्थ अर्थक्रिया या तो क्रम से कर सकता है या युगपत्।

(२) माना नित्य पदार्थ क्रम से अर्थक्रिया करता है। अर्थात् वह t_0 पर x_0 t_1 पर x_1, t_2 पर x_2 अर्थक्रियाएँ करता है। तब प्रश्न उठता है कि t_0 पर पदार्थ में $t_1, t_2 \cdots$ आदि उत्तरक्षणों पर होने वाली $x_1, x_2 \cdots$ आदि अर्थ-क्रियाओं की सामर्थ्य है या नहीं?

पहला विकल्प–

t_0 समय पर पदार्थ में उत्तरक्षणों में होने वाली अर्थक्रियाओं की सामर्थ्य नहीं है। अर्थात् भिन्न-भिन्न समयों में पदार्थ में भिन्न-भिन्न अर्थक्रियाओं को करने की सामर्थ्य होती है।

तो फिर, बौद्धों का कहना है कि, पदार्थ में नित्यता नहीं है। नित्य तो वह होता है जिसमें न तो कोई नूतन स्वभाव उत्पन्न होता है और न विद्यमान् स्वभाव का नाश होता है।

दूसरा विकल्प–

t_0 समय पर पदार्थ में उत्तरक्षणों में होने वाली अर्थक्रियाओं की सामर्थ्य है।

लेकिन तब एक अर्थक्रिया x_0 के काल t_0 पर अन्य अर्थक्रियाओं x_1, x_2 की भी सामर्थ्य रहने से वे सब युगपत् t_0 पर सम्पन्न हो जाने से, उत्तरक्षणों t_1, t_2 ··· में वस्तु के लिए कुछ करने की सामर्थ्य नहीं रहने से वह असत् हो जाएगी। इस तरह से युगपत् अर्थक्रियाकारी मानने पर पदार्थ क्षणिक सिद्ध होता है।

(३) नित्यवादी यह कहना चाहेंगे कि अकेले उपादान कारण से कार्य नहीं होता है। कार्य को उत्पन्न करने के लिए निमित्त कारणों की भी अपेक्षा रहती है। पदार्थ में अनेकों अर्थक्रियाओं की सामर्थ्य रहने पर भी जिस समय जैसे सहकारि-कारण मिलते हैं, उनके अनुरूप ही पदार्थ में अर्थक्रिया सम्पन्न होती है। सहकारि कारणों के क्रम से प्राप्त होने से नित्य पदार्थ क्रम से अर्थक्रिया करता है और इस तरह से एक अर्थक्रिया के काल में अन्य अर्थक्रियाएँ इसलिए सम्पन्न नहीं होती क्योंकि उनके सहकारिकारण मौजूद नहीं थे।

इसका मतलब हुआ कि नित्य पदार्थ स्वयं कार्य करने में असमर्थ है और जैसे सहकारि-कारण मिलते हैं उस कार्य को करने में वह समर्थ हो जाता है। यह तभी संभव है जब सहकारिकारण पदार्थ में कोई अतिशय (विशेषता-गुण) उत्पन्न करे। लेकिन बौद्धों का मानना है कि गुणधर्मों में परिवर्तन हो जाने से वस्तु ही परिवर्तित हो जाती है। अतः असमर्थ स्वभाव वाला सत् कोई दूसरा है और समर्थ स्वभाव वाला सत् दूसरा है। इस प्रकार पदार्थ की नित्यता का खंडन हो जाता है।

उपर्युक्त आलोचना द्वारा बौद्ध यह दिखाना चाहते हैं कि अर्थक्रियाकारी होने से सत् नित्य नहीं हो सकता। ऐसा पदार्थ जो अनेक अर्थक्रियाओं की सामर्थ्यों से युक्त हो और उनमें से कभी किसी को करे और कभी किसी को, ऐसा नहीं हो सकता। मान लीजिए वर्तमान वस्तुस्थिति है 'एक घट में जल भरा हुआ है'। इस घट की वर्तमान अर्थक्रिया जलधारण है और यह इस क्रिया की सामर्थ्य से ही

युक्त है । इस समय यह भूत और भविष्य की जलधारण रूप अर्थ क्रियाएँ नहीं कर रहा है, इसलिए यह उनकी सामर्थ्य से युक्त भी नहीं है, जैसे कि मिट्टी से पट की उत्पत्ति नहीं होती इसलिए उसमें पट विषयक सामर्थ्य भी नहीं है । प्रत्येक क्षण में भिन्न-भिन्न अर्थक्रियाएँ होने से उनसे युक्त सत् भी भिन्न-भिन्न हैं, क्षणिक हैं ।

अर्थक्रियाकारित्व सत् को परिवर्तनशील सिद्ध करता है । लेकिन वस्तु का एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होना परिवर्तन हैं - परिवर्तन की यह यथार्थवादी धारणा बौद्धों को स्वीकार नहीं है । यथार्थवादी मानते हैं कि सत् का अवस्थान्तर तो होता है, अर्थान्तर नहीं । बौद्ध पूछते हैं कि यह अवस्थान्तर अर्थ (वस्तु) से भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है और अर्थान्तर नहीं होता तो कहना होगा कि कोई परिवर्तन नहीं होता । परिवर्तन भ्रम मात्र है । और यदि अवस्था-परिवर्तन अर्थ से भिन्न है तो फिर वस्तु परिवर्तित ही नहीं हुई । 'वस्तु का परिणाम' यह भ्रामक अभिव्यक्ति हैं । वस्तुत : परिणाम या परिवर्तन प्रतिक्षण अर्थान्तर होना है, एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का होना है ।[५]

बौद्ध दर्शन में परिवर्तन की व्याख्या का प्रमुख सिद्धांत प्रतीत्य-समुत्पाद है । क्षणिकवाद को इसका तार्किक परिणाम कहा जा सकता है । प्रतीत्यसमुत्पाद का आशय है कि प्रत्येक वस्तु अपने-अपने कारणों से उत्पन्न होती है । प्रत्येक वस्तु कार्य है जिसकी उत्पत्ति परतः होती है क्योंकि यादृच्छिक उत्पत्ति असंभव है ।[६] जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता है यह अनुभव सर्वजनप्रसिद्ध है । अब बौद्ध पूछते हैं कि वस्तुएँ नश्वरस्वभाववाली उत्पन्न होती हैं या अविनश्वर स्वभाववाली ? यदि वस्तुओं की उत्पत्ति अविनश्वर स्वभाव सहित होती है ऐसा माना जाए तो फिर घट, पट आदि किसी भी वस्तु का विनाश नहीं होगा । लेकिन यह तो अनुभव से खंडित होने वाली बात है । इसलिए वस्तुएँ अपने कारणों से विनश्वर स्वभाववाली उत्पन्न होती हैं । जो विनश्वर स्वभाववाला है उसे तुरन्त विनष्ट हो जाना चाहिए । वस्तु यदि उत्पत्ति के अनन्तर ही नष्ट नहीं हो तो फिर कभी भी नष्ट नहीं हो और वह नित्य ही हो जाए । अतः उत्पन्न होने के अनन्तर ही वस्तु नष्ट हो जाती है ।[७]

नैयायिक इससे सहमत नहीं हैं । वे यह तो स्वीकार करते हैं कि सब काय अनित्य होते हैं परन्तु उन्हें अनिवार्यतः क्षणिक नहीं मानते । घट को जब कोई मुद्गर से पीटता है तब उसका विनाश होता है । नैयायिक वस्तु के नष्ट होने को एक कार्य मानते हैं । विनाश अभाव-रूप कार्य है और इसके लिए वे निमित्त कारण की अपेक्षा मानते हैं ।

बौद्ध वस्तु के नष्ट होने पर किसी प्रध्वंसाभावरूप पदार्थ की उत्पत्ति नहीं मानते । सत् क्षणक्षयी होने के कारण उत्पत्ती के अनन्तर अपने आप दूसरे क्षण को उत्पन्न करके चला जाता है । बौद्ध नैयायिकों के पक्ष की आलोचना में कहते हैं कि 'मुद्गर घट का अभाव करता है'–यहाँ इस अभाव की उत्पत्ति घट से भिन्न होती है या अभिन्न ?

(अ) यदि घट का अभाव घट से भिन्न उत्पन्न होता है तो उससे घट कैसे नष्ट होगा ? नहीं होगा ।

(ब) यदि अभाव घट से अभिन्न है तो अभाव और घट एक हो गये । तब मुद्गर से घटाभाव की उत्पत्ति का मतलब घट की उत्पत्ति होना है । इससे भी घट कहाँ नष्ट हुआ ?

बौद्धों का कहना है कि क्षणस्थायी भाव ही विनाश है ।[८] घट प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है । हमें जो उसके कालान्तरस्थायी होने का आभास होता है वह प्रतिक्षण सदृश क्षणों (घट क्षणों) के उत्पन्न होते रहने के कारण होता है । जब मुद्गर का सन्निधान होता है, तब घट सन्तान में एक विलक्षण क्षण की उत्पत्ति होती है और कुछ काल तक वैसे ही क्षण चलते रहते हैं जिस आधार पर कपाल सन्तान का व्यवहार होता है । मुद्गर का व्यापार घट सन्तान के अभाव में न होकर कपाल सन्तान की उत्पत्ति में होता है ।[९]

बौद्ध सत् को स्वभावतः अहेतुक विनाशी के साथ-साथ निरन्वय विनाशी भी मानते हैं । पूर्वक्षण के किसी भी अंश का उत्तरक्षण में किसी भी प्रकार से संचार नहीं होता । यदि ऐसा नहीं माना जाए तो दूसरे से तीसरे में और तीसरे से चौथे में— इस तरह से उस अंश का संचार होता चला जाएगा और वही नित्य हो जाएगा ।[१०] अतः बौद्ध प्रत्येक क्षण को पृथक्-पृथक् मानते हैं । जैसे ही क्षण उत्पन्न होता है उसके अनन्तर निरन्वय रूप से विनष्ट हो जाता है ।

प्रश्न उठता है कि यदि सत् क्षणिक है तो वह अपने कार्य को कैसे उत्पन्न करता है ? शान्तरक्षित ने इसका जबाब निम्न प्रकार से दिया है—

(१) क्षण-सन्तति में कारणक्षण नष्ट होने के पहले ही कार्यक्षण को अपनी शक्ति दे देता है ।

(२) प्रथम क्षण में उत्पन्न होने वाले और अभी तक अविनष्ट शक्तिमान् कारण से द्वितीय क्षण में ही कार्य उत्पन्न होता है

(३) यदि कार्योत्पाद तृतीय क्षण में माना जाए तो विनष्ट कारण से कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि कारण तो प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में नष्ट हो जाता है।

(४) जो आनंतर्यनियम है अर्थात् कारणक्षण के अनन्तर ही कार्यक्षण की उत्पत्ति है वही 'अपेक्षा' कहलाती है। और कारण की सत्ता मात्र ही उसका व्यापार है क्योंकि कारण की सत्ता मात्र से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

उपर्युक्त चार कथनों की हमें मीमांसा करनी है।

(अ) जब पूर्वक्षण है तब उत्तरक्षण नहीं है और जब उत्तरक्षण है तब पूर्वक्षण नहीं है। कोई दो क्षण एक साथ नहीं होते। अतः कारण और कार्य एक क्षण में नहीं होते।

(ब) ऊपर उल्लिखित प्रथम कथन में शान्तरक्षित कहते हैं कि कारणक्षण कार्यक्षण को अपनी शक्ति दे देता है। लेकिन निरन्वयक्षणिकवाद का सिद्धांत मानने पर फिर यह नहीं माना जा सकता कि कारण की शक्ति का कार्य में संचार हो जाता है। पूर्वोत्तर क्षणों में किसी शक्ति या किसी अंश का संचार मानने पर–

(१) क्षणों को परस्पर संबंधित मानना पड़ेगा, अर्थात्

(२) सन्तान को वास्तविक मानना पड़ेगा, अर्थात्

(३) किसी अंश में नित्यत्व को स्वीकार करना पड़ेगा।

जबकि बौद्ध इनमें से किसी भी बात को स्वीकार करना नहीं चाहते। अतः कारण अपनी शक्ति कार्य को दे देता है– ऐसा नहीं कहा जा सकता।

(स) कथन (२) में कहा गया है कि कारण से द्वितीय क्षण में कार्य उत्पन्न होता है और कथन (३) में कहा गया है कि कारण द्वितीय क्षण में नष्ट हो जाता हैं। यहाँ यह तो माना नहीं जा सकता कि कारण द्वितीय क्षण में कार्य को उत्पन्न भी कर देता है और फिर नष्ट हो जाता है, क्योंकि इसका मतलब होगा क्षण में भी टुकड़े करना जबकि क्षण का आशय ही अविभाज्य कालांश होता है।

कारण के नष्ट होने से द्वितीय क्षण में कार्य उत्पन्न हो जाता है - यह आशय लेने में अनेकों परेशानियाँ हैं। असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? तृतीय क्षण में कार्योत्पाद नहीं हो सकता इस स्थापना के लिए कथन (३) में स्वयं शान्तरक्षित ने युक्ति दी है कि तब हमें विनष्ट कारण से कार्य की उत्पत्ति

माननी पड़ेगी अर्थात् वे स्वयं 'असत् से सत् उत्पन्न नहीं हो सकता' इस मान्यता को स्वीकार करते हैं।

वस्तुतः शान्तरक्षित के ये कथन 'क्षणिक वाद में कर्म और कर्मफल की व्यवस्था कैसे संभव है' इस प्रश्न के उत्तर के रूप में आए हैं। इसके साथ ही स्मृति की व्याख्या का भी प्रश्न जुड़ा हुआ है। परन्तु निरन्वय क्षणिकवाद का सिद्धांत मान लेने पर इनकी तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकती।

द्वितीय क्षण में कार्योत्पत्ति मानने में एक परेशानी यह भी है कि तब हमें प्रथम क्षण को अर्थक्रियारहित हो जाने से असत् मानना पड़ेगा। बौद्ध ऐसा नहीं कह सकते कि 'पहले कोई चीज स्वयं उत्पन्न होगी फिर ही तो वह अन्य को उत्पन्न करेगी' क्योंकि तब तो उन्हें नैयायिकों की तरह यह भी कहना चाहिए कि 'फिर अर्थात् तृतीय क्षण में नष्ट होगी' जिसे वे नहीं स्वीकार करते।

(द) प्रश्न यह चल रहा है कि कारण कार्य को कैसे उत्पन्न करता है? बौद्ध सत्कार्यवादियों का यह मत स्वीकार नहीं करेंगे कि कारण अपने में से कार्य को उत्पन्न करता है। 'क्षणास्थायीभाव ही विनाश है,' अर्थात् विनाश या अभाव वस्तु के क्षणमात्र रहने से अतिरिक्त कुछ नहीं है, अतः कारण के अभाव से कार्य की उत्पत्ति भी स्वीकार नहीं की जा सकती। क्षणिकवाद में कारण के व्यापार की भी बात नहीं की जा सकती। इन सब बातों से यह फलित होता है कि जिस तरह से बौद्ध विनाश को अहेतुक मानते हैं उसी प्रकार उनके यहाँ उत्पाद भी अहेतुक है। कार्य किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जाता; वह अपने काल में स्वयं उत्पन्न होता है।

(य) कथन (४) में शान्तरक्षित ने यही बात कही है। पूर्वक्षण के बाद उत्तरक्षण आता है अतः उनमें कारण-कार्य का व्यवहार होता है। कार्य-क्षण कारण-क्षण पर इसी रूप में आश्रित है कि वह उसके बाद आता है। तथा कारण का व्यापार उसकी सत्ता से अतिरिक्त कुछ नहीं है। साथ ही– क्योंकि उसकी सत्ता मात्र से ही कार्य उत्पन्न हो जाता है– इस वाक्यांश पर ध्यान देने की जरूरत है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्पाद भी अहेतुक है। कमलशील कहते हैं–

"वस्तुमात्रं विलक्षण व्यापाररहितं हेतुः।"[१२]

अर्थ– किसी भी विलक्षण व्यापार से रहित वस्तुमात्र ही हेतु (कारण) है।

अब इस प्रश्न का कि कोई क्षण कैसे उत्पन्न होता है, यह उत्तर है कि वह अपने आप से प्रकट होता है। फिर प्रश्न उठता है कि जो जिस देश-काल में उत्पन्न हुआ वह उसी देश-काल में क्यों हुआ, अन्य में क्यों नहीं? इसका उत्तर

वही हो सकता है कि ऐसा ही उसका स्वभाव है। इस तरह से बौद्ध दिग्नाग स्कूल का अर्थ-क्रियाकारित्व का सिद्धांत नियतिवाद में फलित हो जाता है।

बौद्धों के लिए परिवर्तन ही वास्तविक है और इसकी स्थापना के लिए ही उन्होंने सत् का लक्षण अर्थक्रिया-सामर्थ्य दिया है। परन्तु परिवर्तन उनके लिए पूर्वक्षण का उत्तरक्षण में बदल जाना नहीं है, बल्कि परिवर्तन 'पूर्वक्षण के बाद उत्तरक्षण का प्रकट होना है।' अब, यदि परिवर्तन का यही मतलब है तो इसके लिए नित्य पदार्थ का खंडन करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि नित्य पदार्थ में भी एक-एक करके कार्य अपने आप प्रकट होते रहेंगे। यदि यह कहा जाए कि फिर एक आश्रयभूत पदार्थ की कल्पना व्यर्थ है, तो हमारा कहना होगा कि बौद्धों ने जिस प्रकार से अर्थक्रियारहित होने से नित्य पदार्थ को कल्पना मात्र ठहराया है तो उन्हें भी अपने द्वारा स्थापित 'वास्तविकता' को अर्थक्रियाकारी सिद्ध करना था। बौद्धों की तर्कना तर्काभास रूप है क्योंकि जहाँ पूर्वपक्ष की आलोचना में वे अर्थक्रियाकारिता को सत् का लक्षण मानकर चलते हैं और अर्थक्रियाकारी होने का मतलब 'वस्तु का व्यापारवान् होना' लेते दिखाई देते हैं, वहाँ वे अपनी स्थापना व्यापारवान् सिद्ध करने में असमर्थ रहते हैं।

धर्मकीर्ति **प्रमाणवार्तिक**– प्रत्यक्ष परिच्छेद श्लोक–३ में अर्थक्रिया समर्थ को परमार्थसत् कहते हैं। फिर श्लोक–४ में सब कुछ को अशक्त (अशक्तं सर्वम्) और कारणकार्य-भाव को संवृत्तिरूप कहते हैं। इस पर अकलंकदेव का व्यंग्य है कि "अपने पक्ष में अर्थक्रिया समर्थ को परमार्थसत् के रूप में अंगीकार करके स्वयं ही पुनः अर्थक्रिया का निराकरण कर देना क्या उन्मत्तपना नहीं है ?"[13]

लघीयस्त्रय श्लोक -८ में अकलंकदेव कहते हैं–

"सर्वथा नित्य और सर्वथा क्षणिक पक्ष में क्रम और अक्रम (युगपत्) रूप से अर्थक्रिया नहीं बन सकती किन्तु वह (अर्थक्रिया) पदार्थों के लक्षणरूप से स्वीकार की गयी है।[14]

इससे स्पष्ट है कि जैन दार्शनिकों को सत् का लक्षण 'अर्थ क्रियाकारी होना' स्वीकार है। परन्तु उनका कहना है कि यह लक्षण नित्यवाद और क्षणिकवाद में घटित न होकर "स्यात् सत् नित्यानित्यात्मक है"– ऐसा सत् का स्वरूप मानने पर ही घटित हो सकता है। अर्थात् सत् को किसी अपेक्षा (द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा) नित्य और किसी अपेक्षा (पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा) अनित्य स्वीकार करना चाहिए। जैनों के अनुसार सत् परिणामी नित्य है। आगे हम जैन दर्शन में अर्थक्रियाकारित्व की गयी व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

(२)

जैन दर्शन केवल 'द्रव्य' नामक पदार्थ स्वीकार करता है। वैशेषिकों के गुणकर्मादि पदार्थ उसी की भिन्न-भिन्न प्रकार की अवस्थाएँ हैं। द्रव्य जाति अपेक्षा छः और संख्या अपेक्षा अनन्त हैं।

द्रव्य गुणपर्यायों वाला होता है।[१५] प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुणों का अखण्डपिण्ड होता है। गुणों को द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता और गुणों के बिना द्रव्य भी कुछ नहीं है। गुण द्रव्य में एक साथ और सदैव पाए जाते हैं।

गुण के प्रतिसमय के परिणमन को 'पर्याय' कहते हैं। दूसरे शब्दों में गुण 'शक्तिरूप' है और उसकी व्यक्ति का नाम 'पर्याय' है। एक गुण की एक समय में एक ही पर्याय होती है। लेकिन उसी समय द्रव्य में रह रहे दूसरे गुणों की भी अपनी कोई एक-एक पर्याय होती है। इस तरह अनेकों गुणों की अपेक्षा द्रव्य में '**सहवर्ती पर्यायें**' और एक गुण की अपेक्षा द्रव्य में '**क्रमवर्ती पर्यायें**' होती हैं। पर्याय, परिणाम व कार्य एकार्थवाची हैं। अतः कहा जा सकता है कि द्रव्य युगपत् और क्रम से अर्थक्रियाकारी है। यहाँ हम सहवर्ती पर्यायों को '**द्रव्य की एक समय की पर्याय**' के रूप में वाचित करेंगे क्योंकि इस लाघव से प्रकरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

हमें परिणाम का बोध होता है। परिणाम को जैन, बौद्ध और नैयायिक- तीनों वास्तविक मानते हैं। बौद्ध परिणाम को ही वास्तविक मानते हैं, उसके आश्रयभूत किसी तत्त्व को वे स्वीकार नहीं करते। उनके मत में पूर्वक्षण से उत्तरक्षण को उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि पूर्वक्षण के बाद उत्तरक्षण आता है। परन्तु वह आता कहाँ से है? इसका जबाव एक मात्र यह है– शून्य से। लेकिन 'शून्य से कोई कार्य आता है और फिर शून्य में चला जाता है'– यह व्याख्या बुद्धिगम्य नहीं कही जा सकती।

नैयायिक कार्य के आश्रय रूप समवायिकारण, जो द्रव्य पदार्थ होता है, को स्वीकार करते हैं पर वे असत्कार्यवादी हैं। उनके अनुसार समवायिकारण कार्य रूप से परिणत नहीं होता अथवा समवायिकारण से कार्य उत्पन्न नहीं होता, बल्कि कार्य समवायिकारण में समवाय संबंध से समवेत होकर उत्पन्न होता है। उनके लिए कार्य के रहने के लिए आश्रय की आवश्यकता तो होती है, परन्तु उत्पन्न होने के लिए किसी 'उपादानभूत' तत्त्व की आवश्यकता नहीं होती। तब न्याय मत में भी कार्य की उत्पत्ति शून्य से ही स्वीकार करनी पड़ेगी। जैनों को पुनः यह व्याख्या भी स्वीकार्य नहीं होगी।

मिट्टी से घड़े बनने के उदाहरण को लें।

मिट्टी की पिण्डरूप अवस्था से स्थाल, कोश, कुशूल और फिर घट बनता है। जैनों के लिए मिट्टी पिण्डादि अवस्थाओं को छोड़कर अर्थात् व्यय करके घट रूप से परिणत होती है। पिण्डरूप अवस्था का नष्ट होना व्यय है, घट पर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद है और मिट्टी का ज्यों का त्यों रहना, उसका अन्वय रहना ध्रौव्य है। इसी प्रकार प्रत्येक सत् यानि द्रव्य उत्पाद-व्ययध्रौव्यमय है। उसमें प्रतिक्षण पूर्वपर्याय का व्यय, उत्तरपर्याय का उत्पाद और गुण ध्रुव रहते हैं।

द्रव्य में उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य के होने में क्षणभेद नहीं है।[१६] पूर्वपर्याय के व्यय के साथ ही उत्तरपर्याय की उत्पत्ति होती है और दोनों अवस्थाओं में रहनेवाला द्रव्यत्व 'ध्रुव' रहता है।

उत्पाद व्यय और ध्रौव्य- ये तीनों परस्पर अविनाभावी हैं।[१७] उत्पाद व्यय के बिना नहीं होता। एक द्रव्य में दो पर्यायें एक साथ नहीं होती। मिट्टी की पिण्डरूप अवस्था के विनाश के साथ ही घट उत्पन्न होता है वही घट का उत्पत्ति कारण है। इस कारण के नहीं होने पर घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि कारण के बिना भी उत्पाद हो सकता है तो हमें असत् खरविषाण की उत्पत्ति भी स्वीकार कर लेनी चाहिए।

इसी तरह से उत्पाद के बिना व्यय भी घटित नहीं हो सकता। मिट्टी के पिण्ड के विनाश के साथ ही घट उत्पन्न होता है। अतः उत्पाद रहित व्यय कैसे हो सकता है, अथवा ऐसा मानने पर सत् का उच्छेद ही मानना पड़ेगा।

इसी तरह से उत्पाद और व्यय के बिना ध्रौव्य भी नहीं हो सकता। अर्थक्रियाकारी होने से प्रत्येक सत् परिणमशील होता है कूटस्थनित्य नहीं।

इस तरह से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य परस्पर अविनाभावी हैं। उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता– इस दृष्टि से तो वे अभिन्न हैं, परन्तु उनके लक्षण जुदे-जुदे हैं, उन्हें भिन्न-भिन्न रूप में जाना जा सकता है- इस दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न हैं।

'वस्तु बदलती है' या 'वस्तु एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को धारण करती है'– बौद्धों की परिवर्तन की इस व्याख्या को भ्रामक कहना गलत है। यहाँ 'शक्ति' और 'व्यक्ति' का संबंध है। वस्तु को 'शक्ति' के रूप में और 'अवस्थाओं' को 'व्यक्ति' के रूप में समझा जा सकता है। शक्ति की ही व्यक्ति होती है, इस रूप में वस्तु और उसकी अवस्था में अभेद है, लेकिन शक्ति-रूप अवस्था और व्यक्ति-रूप अवस्था एक ही प्रकार की चीज नहीं है या शक्ति अनेकों रूप में प्रकट हो सकती है– इस दृष्टि से वस्तु और उसकी अवस्था-विशेष में भेद है। इस तरह वस्तु और उसकी अवस्थाओं में भेदाभेद संबंध है।

परिवर्तन को अर्थात् अर्थक्रिया को सत् का लक्षण स्वीकार करने पर और परिवर्तन को उपर्युक्त वर्णित यथार्थवादी व्याख्या को समुचित मान लेने पर सत् का स्वरूप नित्यानित्यात्मक या उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मक फलित होता है, जिसकी व्याख्या हम थोड़ी देर पहले कर चुके हैं।

सर्वथा नित्य सत् अपने स्वरूप को कभी छोड़ता ही नहीं है अतः उसमें अर्थक्रियाघटित नहीं होती। अर्थक्रिया करने का मतलब होता है, उत्तरपर्याय की अपेक्षा रखना, उस तक पहुँचना; सर्वथा क्षणिक सत् उत्तरपर्याय तक ठहरता ही नहीं इसलिए वह भी अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता। नित्यानित्यात्मक-द्रव्य पर्यायात्मक सत् ही अर्थक्रियाकारी हो सकता है।

प्रत्येक द्रव्य नित्य है और प्रति समय 'कार्य' करता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि प्रतिसमय उसमें तीनों कालों की अर्थक्रियाएँ करने की सामर्थ्य रहती है। जैन दार्शनिकों का कहना है कि जिस समय वस्तु में जैसी योग्यता होती है उस समय वह वैसी अर्थक्रिया करता है।[१८] प्रश्न उठता है 'योग्यता' से हम क्या समझें?

जैन दार्शनिकों का कहना है कि ना तो केवल द्रव्य ही कार्यकारी होता है, न पर्याय मात्र। बल्कि विशिष्ट पर्याय से परिणत द्रव्य ही कार्यकारी होता है।[१९] उदाहरण के लिए यह सारा दृश्यमान् जगत् पुद्गल परमाणुओं की स्कन्धरूप अवस्थाएँ हैं, लेकिन हर परमाणु, हर समय किसी भी रूप में परिणत हो जाए ऐसा नहीं है। मिट्टी भी पुद्गल परमाणुओं से मिलकर बनी है और तन्तु भी पुद्गल परमाणुओं से मिलकर बने हैं। लेकिन घट मिट्टी से ही बन सकता है और पट तन्तुओं से ही। घट तन्तुओं से नहीं बन सकता और पट मिट्टी से नहीं बन सकता। प्रत्येक पुद्गल परमाणु में समान सामर्थ्य वाले समान संख्यक गुण होते हैं। अतः यह तो कहा नहीं जा सकता कि मिट्टी के परमाणु कुछ दूसरे प्रकार के हैं और तन्तुओं के परमाणु कुछ दूसरे प्रकार के हैं। परन्तु मिट्टी रूप से परिणत परमाणुओं में ऐसी पर्यायगत योग्यता नहीं है कि उनसे पट उत्पन्न हो सके। जब तक मिट्टी के परमाणु खाद, पानी आदि के माध्यम से तन्तुरूप में परिणत नहीं हो जाते उनसे पट की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः पर्यायशक्ति-युक्त द्रव्य अर्थक्रियाकारी होता है।

मिट्टी से घड़ा भी बनता है, सुराही आदि दूसरी चीजें भी बनती हैं। तब किस मिट्टी से घड़ा बनेगा, किससे अन्य चीजें-इस बात का नियमन कैसे होता है? नैयायिकों का कहना है कि जैसी कुम्हार की इच्छा व प्रयत्न आदि निमित्तकारण

होते हैं, मिट्टी में वैसा कार्य उत्पन्न होता है। यह कारण-कार्य की पुरुषपरक (anthropomorphic) व्याख्या है।

नैयायिक प्रत्येक सत् को परिणमत्शील नहीं मानते, इसीलिए उन्हें ईश्वर को मानना पड़ता है। लेकिन जैनदर्शन के अनुसार सत् परिणमनशील है। यदि एक द्रव्य को परिणमाने के लिए दूसरे द्रव्य की आवश्यकता मानी जाए तो उसे परिणमाने के लिए तीसरे द्रव्य की आवश्यकता होगी और फिर इस तरह से अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। अतः प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील होने से, वह स्वयं अपने कार्यों का, पर्यायों का नियामक होता है। कार्य उपादान-कारण और निमित्त-कारणों की समग्रता में होता है,[२०] इसे जैन दार्शनिक स्वीकार करते हैं। परन्तु जैनों का कहना है कि यह नहीं कहा जा सकता कि समय विशेष 't_1' पर कार्य के निमित्त-कारणों के नहीं होने से उपादान कारण 'M' में 'K' नहीं हुआ। सत् परिणामस्वभावी होने से, 't_1' पर 'M' में कोई कार्य 'x' अवश्य हुआ है। कार्य से हम कारण का अनुमान कर सकते हैं, अतः 'M' में 't' पर जो कार्य 'x' हुआ, इसके आधार पर कहना होगा कि t_1 पर 'M', 'x' का ही समर्थ-कारण था। और तब निमित्त भी उसी के अनुकूल थे।

जैन दार्शनिक कुन्दकुन्द दो द्रव्यों में कारण–कार्य संबंध को वास्तविक नहीं मानते।[२१] उनके अनुसार दो द्रव्यों की एक क्रिया नहीं होती, न ही एक द्रव्य की दो क्रियाएँ होती है, अर्थात् कोई द्रव्य स्व का और पर द्रव्य का कार्य दोनों नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय को उत्पन्न करता है।

लेकिन कुन्दकुन्द का कथन यह भी है कि जीव और कर्म के परिणाम एक दूसरे के निमित्त से हैं।[२२] इसका अभिप्राय, मैं ऐसा सोचता हूँ, यह है कि जीव के परिणाम में कर्म आलंबन होता है, और कर्म के परिणाम में जीव आलंबन होता है, जैसे कि ज्ञान में ज्ञेय आलंबन होता है। कुन्दकुन्द का आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र परिणाम करता है, उनके परिणामों में संबंध होता है, जिसके कारण एक को दूसरे का निमित्त कहा जाता है; परन्तु दो द्रव्यों में कारण-कार्य भाव नहीं होता।

जैन-दर्शन की कार्य-कारण मीमांसा की मूल बात यह है कि पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य उपादान कारण होता है और उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य कार्य होता है।[२३] अर्थात् एक द्रव्य की पूर्वोत्तर पर्यायों में उपादान-उपादेय भाव होता है। जैसा उपादान कारण होता है, उत्तरक्षण में वैसा ही कार्य होता है और तब उसकी वही अर्थक्रिया कहलाती है। अर्थक्रियाकारित्व की इस व्याख्या से भी, बौद्ध व्याख्या की तरह, नियतिवाद फलित होता है।

बौद्धों ने नित्य पदार्थ के खंडन के लिए जो युक्तियाँ दी हैं वे सत् को कूटस्थनित्य मानने पर ही लागु होती हैं, जैन दर्शन द्वारा वर्णित सत् के परिणामी-नित्य स्वरूप पर वे लागु नहीं होती। वस्तु नित्य है। अतः कहा जा सकता है कि द्रव्य में द्रव्यगत योग्यता के रूप में अपने से जायमान् तीनों कालों के कार्यों की अर्थक्रियाएँ करने की सदैव सामर्थ्य होती है। परन्तु केवल द्रव्य कार्यकारी नहीं होता। विशिष्ट रूप से परिणत द्रव्य ही विशिष्ट अर्थक्रियाएँ करता है। किसी कार्य के अनन्तर पूर्ववर्ती द्रव्य ही समर्थकारण होता है, उसके पहले वह उस कार्य को करने में असमर्थ होता है। अससर्थ से समर्थ-स्वभाव को प्राप्त करने से द्रव्य को कथंचित् अनित्य कहा जा सकता है, परन्तु यह सर्वथा विनाश-रूप अनित्यता नहीं है। क्योंकि असमर्थ से समर्थ स्वभाव को प्राप्त करना अवस्थापरिवर्तन रूप परिणाम है, न कि अर्थान्तर-रूप परिणाम। और वस्तु में अवस्थाओं का उत्पाद व्यय होने पर भी, जैन दर्शन के अनुसार, वस्तु उत्पन्न या नष्ट नहीं होती।

परिणाम प्रतिक्षण होता है–इस बारे में जैन और बौद्ध दोनों एकमत हैं। लेकिन बौद्ध जहाँ उन परिणाभों में प्रत्यभिज्ञान के विषयभूत अन्वयतत्त्व को स्वीकार नहीं करते, वहाँ जैन उसे स्वीकार करते हैं और इस तरह वे निरन्वय विनाशवाद से बच जाते हैं।

– राजकुमार छाबड़ा

शोध छात्र
दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर–३०२००४

टिप्पणियाँ

१. उत्पादव्ययध्रौव्युक्तं सत्। **तत्त्वार्थसूत्र** ५-३०.
२. अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः। **न्यायबिन्दु** १.१५
३. देखें **अकलंकग्रंथत्रयम्** पृ. १३७ पर 'अर्थक्रिया' पर दी गयी टिप्पणी। प्र. सिंधी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, १९३९.
५. पूर्वापरस्वभावपरिहारावप्तिलक्षणामर्थक्रियां...। (अष्टशती) **अष्टसहस्त्री** पृ. १७९, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९१५.
५. *Buddhist Logic* भाग-I पृ. ९७, डोवर प्रकाशन, १९६२.

६. तु 'वक्ष्यते चोत्पत्तिमतंश्च परतः। सत्ताया आकस्मिकत्वायोगात्।' प्रमाणवार्तिक (स्वार्थानुमानपरिच्छेद) पृ. ५०५ किताबमहल, इलाहाबाद.

७. जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते।
यो जातश्च न च ध्वस्तो नश्येतपश्चात्स केन च ॥
—**षड्दर्शनसमुच्चय** पृ. ४७ पर उद्धृत। भारतीय ज्ञानपीठ, १९८१.

८. **सौगतसिद्धांतसारसंग्रह** पृ. १९५, चौखंबा १९५४.

९. *Critique of Indian Realism* पृ. २०१, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली १९७६.

१०. *Buddhist Logic* भाग–I पृ. ९५.

११. **सौगतसिद्धांतसारसंग्रह** पृ. १९६–९७.

१२. *Buddhist Logic* भाग–I पृ. १२१ पर उद्धृत।

१३. **लघीयस्त्रय** श्लोक ८ की स्वोपज्ञवृत्ति।

१४. अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता ॥

१५. गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। **तत्त्वार्थसूत्र** ५.३८.

१६. **प्रवचनसार** गा. १०२ पर अमृतचन्द्र की टीका।

१७. **प्रवचनसार** गा. १०० पर अमृतचन्द्र की टीका।

१८. जयपुर (खानिया) **तत्त्वचर्चा** भाग–१ पृ. ४८ पर प्रमेयकमलमार्तण्ड का उद्धरण। प्र. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर १९६७.

१९. वहीं **तत्त्वचर्चा** भाग–२ पृ. ३८५ पर प्रमेयकमलमार्तण्ड का उद्धरण।

२०. बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः। –**स्वयंभूस्तोत्र** ६०.

२१. देखें **समयसार**, गाथाएँ ८६, ९९, १०३, १०७, १३९-४०, ३७२ आदि।

२२. वहीं, गाथा ८०.

२३. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, गाथा २३०.

आचार्य अभिनवगुप्तपाद : साहित्य-सिद्धान्त और प्रदेय

अभिनवगुप्त **लोचन** और **अभिनवभारती**– जैसी टीकाएं लिखकर ही साहित्यशास्त्र में आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। उन्होंने **परात्रिंशिका, तंत्रालोक, प्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्षिणी** – प्रभृति अपने तंत्र ग्रंथों में भी जहां-तहां अत्यंत मार्मिक सूत्र-संकेत दिये हैं – जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हुए प्रासंगिक ही हैं। यद्यपि आनंदवर्धन भी दार्शनिक हैं – भक्त हैं, पर उनके विवेचनों में वह दार्शनिक रंग नहीं उभरा जो अभिनव की विवेचनाओं में मिलता है। वे काश्मीरी शैवागम के अद्वयवादी प्रत्यभिज्ञा-प्रस्थान के आचार्य हैं। इसलिये अपनी तत्त्वदृष्टि में केन्द्रित रहकर (प्रतिष्ठित रहकर) ही उन्होंने काव्यचिंतन किया। "रस" की काव्य-नाट्य **प्रस्तुति** से लेकर **प्रक्रिया** और परिणति तक जो गंभीर दार्शनिक और कहीं-कहीं साम्प्रदायिक रंग भी दिया है, वह उल्लेख्य है। परवर्ती रसव्याख्या के ये मेरुदण्ड हैं। आनंद-वर्धन ने रससूत्रकी व्याख्या नहीं की, यद्यपि ध्वन्यात्मक व्यापार की जमकर प्रतिष्ठापना की। अभिनवगुप्त के विवेचन को उनकी दार्शनिक पदावली और सांप्रदायिक मान्यताओं से अपरिचित व्यक्ति नहीं समझ सकता।

संक्षेप में उनका मत यह है कि चरमसत्ता "परमशिव" है। सिसृक्षा काल में यही द्विधा विभक्त हो जाता है– शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व। पहला प्रकाश है दूसरा विमर्श। विमर्श-दर्पण में ही प्रकाश अपनी संपूर्ण अहंता का बोध कराता है। **शिवशक्ति** तत्त्व के आन्तर निमेष का **सदाशिव** (शांकरवेदांत का ब्रह्म) और बाह्य उन्मेष का नाम **ईश्वर** है। सदाशिवतत्त्व में अहमंश का प्राधान्य और इदमंश अव्यक्त रहता है। ईश्वर तत्त्व में इदमंश की स्फुट व्यक्ति हो जाती है – पर रहते अभिन्न ही हैं दोनों। **शुद्धविद्या** में अहम्-इदम् समकक्ष हो जाते हैं। **आणवमल** से स्वरूप विस्मृति, **मायीयमल** से अहम् और इदम् का पार्थक्य तथा **कार्ममल** से जाति, आयु तथा योग का आरंभ हो जाता है। **माया** सहित **राग, कला, काल,**

विद्या और नियति - शिव को पुरुष या जीव की भूमिका में तथा इदमंश को प्रकृति की भूमि पर अवतीर्ण कराते हैं। सांख्य के २५ और प्रत्यभिज्ञा के ११ तत्त्वों को मिलाकर कुल ३६ तत्त्व हैं। इसलिये अभिनव ने नाट्यशास्त्र के छत्तीस अध्यायों को प्रत्यभिज्ञा के छत्तीस तत्त्वों के संदर्भ मे संगत बताकर अपनी दृष्टि का संचार किया।

"षट्त्रिंशर्कं भरतसूत्रमिदं वितृण्वन्वंदे शिवं श्रुतिहारार्थविवेकधाम।" अर्थात् छत्तीस अध्याय वाले इस भरतसूत्र की व्याख्या करते हुए मैं छत्तीस तत्त्वों से युक्त जगदाकाश को प्रकाशित करने वाली ज्ञानज्योति की रश्मियों से सुशोभित वेद तथा उसके अर्थज्ञान के आश्रय तेजःस्वरूप शिव को नमस्कार करता हूं। इससे अभिनव का प्रस्थान स्पष्ट है। **लोचन** में भी यही शैवी दृष्टि आद्यन्त व्याप्त है। उन्होंने सारस्वत तत्त्व का नाम दिया— कवि-सहृदय और बताया कि सारस्वत तत्त्व प्रख्या और उपाख्या (दर्शना और वर्णना अथवा करना और जानना) के माध्यम से अपूर्व सृष्टि करता है, प्रस्तरसंदर्शनीरससृष्टि को सरस करता है और वैसा ही भालित भी करता है।

अभिनव और सारस्वत-तत्त्व – कवि : काव्य : काव्यहेतुकाव्यरचनाप्रक्रिया

भारतीय रहस्यदर्शी किन्तु दार्शनिक मनीषियों की सरणि है– समाधिभाषा-परोक्षवाद : परोक्षम् अस्पष्टं समाधिगम्यं वदतीति परोक्षनादाः। भागवत कहता है – "परोक्षवादाः ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम्। फलतः इस भाषा का प्रयोग करते हुए वे कहते हैं –

> यदुन्मीलनशक्तचैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
> स्वात्मायतन विश्रान्तां वंदे तां प्रतिमां शिवाम्॥

यहां कवि की प्रतिभा को शिव की शिवा के साथ रखकर देखा गया है और विश्वदृष्टि तथा शैवी सृष्टि में प्रक्रिया और परिणति की एकरूपता संकेतित की गई है। शैवीदृष्टि में जिसके स्पंदित होते ही विश्व स्फुरित होने लगता है वह शिवा नमस्कार्य है। रहती है वह शिवा निरंतर अपने स्वरूप में विश्रांत। विश्रांति ही तो आनंद है - विश्व इसी आनंदभरित शक्ति की छलकन तो है और है क्या ? अभिनव के गूढ़ आशय को स्पष्ट करने वाले कहते हैं कि प्रत्येक कवि अपनी काव्यसृष्टि में उसी प्रक्रिया से गुजरता है– उसी शक्ति के सहारे। काव्य के संदर्भ में - काव्यसृष्टि के संदर्भ में भी वही शक्ति **प्रतिभा** नाम से सक्रिय है। वही प्रतिभा कविहृदय में निरंतर वासना के रूप में विलीन रहकर विद्यमान रहती है। वह प्रतिभा शिवा है - रसावेशवैवद्यसुभग है - यह प्रतिभा वर्णनीय वस्तुनिष्ठ प्रज्ञा विशेष का ही नामांतर है। इसके उन्मीलित होते ही बाहर तदनुरूप विश्वावभास होने लगता है। अभिनव आनंदवादी हैं। फलतः वे मानते हैं कि काव्य तो

वस्तुत: रसमय ही है : रसस्यैव वस्तुत: काव्यात्मत्वात् : और वह रसमय काव्यानंद आत्मानंदामृताम्भोधिलहरी का एक बूंद भर है जो हममें निरंतर विश्रांत है। तुलसी "सीकर ते त्रैलोक्य सुभासी" और घनानंद "ताको कोउ तरलतरंगकन छूट्यो" – से यही दुहरा रहे हैं। मयूराण्ड रसन्याय से वही आनंदकण स्थूल -स्थूलतर होता हुआ विभावादि योजना से लेकर अनुरूप शब्द घटना के रूप में व्यक्त होता है। व्यक्ति रचयिता हो ही नहीं सकता जब तक वह अपनी सीमाओं से चिपकी चेतना को मुक्त नहीं कर देता – सीमित चेतना को विराट् चेतना में विसर्जित नहीं करता। आनंदानुभूतिमयी प्रतिभा प्रतिभा ही नहीं है जब तक सीमाओं से मुक्त नहीं होती। व्यावहारिक स्तर की चेतना जब तक विराट् चेतना सीमामुक्त होती हुई नहीं बन जाती तब तक वह रसमय काव्य सृष्टि कर ही नहीं सकती। आनंद, पूर्णता का दूसरा नाम है – पूर्णता ही विश्रांति है और जब तक इसका परामर्श नहीं होता – रसमयता नहीं होती। इसके लिये अपूर्णता से चेतनाको मुक्त करना पड़ता है। मुक्ति "विषय" की भूमिका पर हो या "भाव" की भूमिका पर हो या उभयातीत स्वरूप की भूमिका पर हो – अर्थात् विषयानंद हो या काव्यानंद हो या स्वरूपानंद हो अभिनव ने "ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्तिविमर्शिनी" में लिखा है – "स्वरूपस्य स्वात्मन: परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशनमेव परामर्शमयतांदद्यदानन्द इत्युच्यते ... यत्रापि अत्यन्तमन्यथाभावमतिक्रम्य सुखमास्वाद्यते अर्जनादिसंभाव्यमानविघ्नान्तरनिरासाद् वैषयिकानंदविलक्षण **श्रृंगारादौ नाट्यकाव्यादिविषये** तत्र वीतविघ्नत्वादेव असौ रसनाचर्वणा निर्वृत्ति: प्रतीति: प्रमातृताविश्रांतिरेव .....।" अभिनव आदर्शवादी दार्शनिक हैं। वे वस्तुसत्ता को आत्मसत्ता से पृथक् नहीं मानते– केवल उसकी आनंदोच्छलित स्थिति का रूपांतर मानते हैं। इसलिये उनकी दृष्टि में रस ही काव्य है – "रस एव नाट्यम् या नाट्यमेव रस :" – रस ही नाट्य है, नाट्य रस ही है। वैसे काव्य और नाट्य की रसमयता में थोड़ा अंतर भी करते हैं – काव्यरस को वे "परोक्षप्राय" कहते हैं और नाट्यरस को प्रत्यक्ष कहते हैं। उन्हें नाट्यरस में जैसी पूर्णता प्रत्यक्ष आस्वादगोचर होती है वैसी काव्य में नहीं। उसका कारण **तंत्रालोक** में बताया है – कहा है –

> तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिक जन: खलु।
> नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते ॥
> तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदर्शने ॥
> सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम् ॥

संवित्सर्वात्मिका देहभेदाद् या संकुचिता तु सा ।
मेलकेऽन्योन्यसंघट्ट प्रतिबिंबाद्विकस्वरा ।।
उच्छलन्तिजरश्म्यौघ: संवित्सु प्रतिबिंबत: ।
बहुदर्पणवद्दीस: सर्वाशेता: सर्वोपेता: व्ययत्नत: ।।
अतएवनृत्तगीतप्रभृतौ बहु पर्षदि ।
य: सर्वतन्मयीभावो ल्हादोनत्वेकस्य सा ।
आनन्द निर्भरा संवित् प्रत्यक्षं खातथैकनाम् ।
नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानंदत्वमश्नुते ।।

इस अंतर के बावजूद आनंदमय शक्ति को मूल मानना और इसी केन्द्र से सारी व्याख्या करना अभिनव का वैशिष्टच है ।

अभिनव ने आनंदमय प्रस्थानबिंदु से काव्य और नाटच को रसमय तो सिद्ध किया ही– उनको परिभाषित भी उसी केन्द्र से किया– यद्यपि आनंद ने ही इसका बीजवपन कर दिया था, परंतु अभिनव ने उसका दार्शनिकीकरण कर दिया । एक बात और भी की– विशेषकर नाटच का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उन्होंने नाटचानुभूति या काव्यानुभूति को सर्वथा स्वायत्त सिद्ध किया । उन्होंने बताया कि काव्य या नाटच अपनी प्रस्तुति प्रक्रिया और परिणति– सर्वत्र अर्जन-विसर्जन-प्रवण व्यावहारिक अनुभूति से सर्वथा भिन्न है । उनको व्यवहार तथा शास्त्र सिद्ध किसी भी अनुभूति के खाने में नहीं रखा जा सकता । नाटच की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा– " तत्र नाटचं नाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्त तद-नुकार-प्रतिबिंब-आलेख्य-सादृश्य-आरोप-अध्यवसाय-उत्प्रेक्षा-स्वप्न-माया–इंद्रजालादि विलक्षणं तद्ग्राहकस्य सम्यक्ज्ञानभ्रांति-संशय-अवधारण-अनध्यवसाय-विज्ञानभिन्न तथा आस्वादनरूप संवेदनसंबंधवस्तु रसस्वभावमिति वक्ष्याम: । (**अभिनवभारती**:)। वैसे यह सब कुछ नाटचशास्त्र के अपने अध्यापक भट्टतौत के नाम से सब कहते जाते हैं– पर उनके द्वारा साहित्यशास्त्र की परंपरा में पहलेपहल ये सब बातें आयीं । वे कहते हैं कि प्रस्तुति की दृष्टि से विचार करें तो उसे व्यवहार में जितने समशील प्रसंग मिल सकते हैं उनमें से एक भी नहीं है– अनुकरण, प्रतिबिंब, चित्र, सादृश्य, आरोप, अध्ववसाय, उत्प्रेक्षा, स्वप्न, माया और इंद्रजाल कुछ भी नहीं । ग्राहक की अपनी प्रतीति की दृष्टि से देखे तो यथार्थज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशय, अनवधारण, अनध्यवसाय से भी भिन्न लगता है । वस्तुत: वह नाटच आस्वाद स्वरूप साक्षात्कारात्मक ज्ञान से ग्राह्य **रसात्मक वस्तु** है । भरत ने जहाँ " नाटचं भावानुकीर्तनम् " कहा, वहाँ भी अभिनव ने " अनुकीर्तन " का अर्थ " अनु-व्यवसाय " ज्ञात का ज्ञान–अनुभूत : वासना : की अनुभूति ही बताया । भरत ने जहाँ " रस " को " आस्वाद्य " कहकर वस्तुगत कहा था, वहाँ अभिनव ने

" आस्वादनात्मानुभवः रसः काव्यार्थ इष्यते "– कहकर उसे आत्मगत बताया। तत्वतः वे आत्मा और वस्तु को पृथक् मानते नहीं, अतः बौद्धों का साक्ष्य देकर " स्वाकार इव अभिन्न " बताया मम्मट ने।

काव्यरचनाप्रक्रिया

नाट्यप्रस्तुति से पूर्व काव्य है और काव्य की रचनाप्रक्रिया पर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने रचना का क्रम इस प्रकार कहा है– " तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुण रसरूपतांलौकिकशोकव्यतिरिक्तांस्वचित्तवृत्तिद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नः रसपरिपूर्णकुम्भोच्वनवच्चित्तवृत्तिनि.स्यंदस्वभाववाग् विलापादींश्च समधानपेक्षध्वेऽपिचित्तवृत्तिव्यंजकत्वात्-इतिनयेन अकृतकतथैवआवेशवशान् समुचितच्छंदोवृत्रणादिनियंत्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः " (**लोचन**) विभावादिचर्वणा → हृदयसंवाद → तन्मयीभवन → आस्वाद्यभाव की रसरूपता–परिपूर्ण कुंम्भोच्छलनवत् रसपूर्ण हृदय का छलकना → अनायास समुचित छन्दोवृत्तादिनियंत्रित काव्यात्मक (श्लोकात्मक) परिणति।

सहृदय का स्वरूप–

इस रस की फलात्मक परिणति सहृदय सामाजिक में होती है। अतः ' सहृदय " शब्द की भी इनकी नई व्याख्या मिलती है।
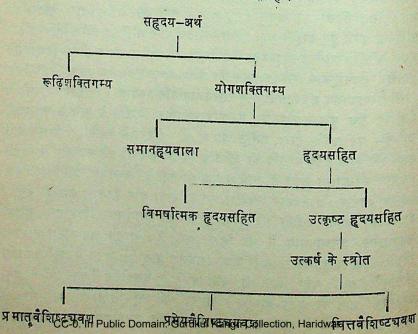
परात्रीशिका या **परात्रिंशिका** में अभिनव ने कहा है– "वीर्यविक्षोभात्मा हि सहृदयता" शुक्रशरीर के स्तर पर मूल शक्ति का ही सार है– काव्यानंद की अभिव्यक्ति उसके निष्क्रिय होने में नहीं, उत्तेजित होने में नहीं अपितु "चल" (स्पंदित) होने में है। यह स्थिति संयम से संभव है। इसलिये नाटचपरिवेश की रागोत्तेजक सामग्री अ-हृदय (असंयत) लोगों के लिये व्यसनिता पैदा करती है जबकि वही सामग्री सहृदयों के हृदय को परिष्कृत कर समुन्नत भूमि पर पहुँचती है। शक्ति के संयत रहने पर सौंदर्य समग्रता में ग्रहित होता है और वह रचनात्मक होता है। अभिनव ने सहृदय का अर्थ समान हृदयवाला कहकर ग्राहक और आश्रय के तादात्म्य की ओर संकेत किया है। "हृदय" का अभिधा में अर्थ करते हुए उसे प्रकाश-विमर्शमय-परमसत्ता के विमर्शांश का पर्याय कहा है और कहा है कि "भाव" की भूमि पर जब संविद् केन्द्रित रहकर विश्रांत होती है तब "विमर्श" जिसे "हृदय" कहते हैं उसकी प्रधानता रहती है और जब ऐन्द्रिक विषय पर चेतना एकाकार रहती है तब प्रकाशांश उद्रिक्त रहता है और ऐसी दशा में प्रमाता "सामाजिक" कहा जाता है। विमर्श रूप हृदय की जिसमें प्रधानता हो– वह "सहृदय" कहा जाता है। "सहृदय" का एक और अर्थ भी किया– वह हृदय जिसमें आस्वादोपयोगी योग्यता या उत्कर्ष हो। इसके अर्जन के लिये तीन स्त्रोत बताए गये १) वर्णनीय तन्मयीभवनयोग्यता २) तादात्म्यसमापत्ति-योग्यता ३) स्वहृदयसंवादभाजकता। वह उत्कृष्ट "हृदय" है जिसमें वर्णनीय से तन्मय हो जाने की योग्यता हो अथवा आश्रय से तादात्म्यापन्न हो जाने की योग्यता हो अथवा जिसका हृदय संवाद में प्रमाण हो या जिसका हृदय संवाद-शाली हो।

भरत के रससूत्र की भी अभिनव की अपनी व्याख्या है। इनकी व्याख्या अभिव्यक्तिवादी मानी जाती है। अभिव्यक्तिवाद व्यक्ति या व्यंजनावाद है– जो काम भट्टनायक भावना और भोग के बल पर संपन्न करते थे, अभिनव वही काम व्यंजना के बल पर कर रहे हैं। भट्टनायक ग्राहक के अपने स्थायी भाव की अभिव्यक्ति की बात नहीं कर रहे थे– अपितु विभावादि से संबद्ध स्थायी ही साधारणीकृत होकर सर्वजन संवेद्य हो जाता था। अभिनव दोनों ही बाते नहीं मानते। वे काव्यानंदात्मक प्रतीति के दो भाग मानते हैं– एक प्रकाशमयी संविद् का, दूसरा चित्तवृत्तियों का। पहला अभिनव से पूर्व ही आगमों तथा सोमानंद और उत्पल के विवेचनों में आ चुका था– तथापि काव्यानंद के संदर्भ में उनके विनियोग की पहल अभिनवगुप्त ने ही की। इनकी धारणा अपने दर्शन के अनुसार यह है कि आनंद तो एकमात्र आत्मपरामर्श से ही होता है– चाहे वह विषयों की भूमिका में हो या चाहे भावों की भूमिका में या निजचित्स्वभाव की भूमिका में।

भावों की भूमिका में होने वाले आत्मपरामर्श में प्रकाशांश वेद्यविश्रांत होता है किन्तु विमर्शांश चित्तवृत्ति में अपेक्षाकृत उद्रिक्त होता है– विमर्श या हृदय की इसी प्रधानता के कारण इस प्रतीति को सहृदयता भी कहते हैं। इसप्रकार निष्कर्ष यह कि भावों की भूमिका में आत्मपरामर्श होने से जो संविद् विश्रांति होती है वही काव्यानंद या रसानुभूति है। विषयानंद में चित्त के व्यवहारोपयोगी अर्जन-विसर्जन में अविश्रांत रहने से जो विघ्न होता है वह यहाँ नहीं होगा– इसलिये प्रतीत को "वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्य" कहते हैं। व्यावहारात् स्थायीभाव से रसोन्मुखी या रसपर्यवसित स्थायी विलक्षण होता है– इसलिये "स्थायी विलक्षणो हि रस:" भी कहा जाता है।

जिन विघ्नों से यह प्रतीति रहित होती है वे कुल सात प्रकार के होते हैं– संभावनाविरह, स्वपरगतदेशकालविशेषावेश, निजसुखादिविवशीभाव, प्रतीत्युपाय-वैकल्य, स्फुटत्वाभाव, अप्रधानता, संशययोग। सर्जक और ग्राहक में भावनाशक्ति होनी चाहिए जिससे वे रसोपयोगी रूप में सामग्री का भावन कर सकें। दूसरा विघ्न केवल ग्राहक से संबद्ध है – रसिक में यदि दूसरों की आँख से अपने को बचाकर नाटचदर्शन की चेतना होगी तो हो गई रसनिष्पत्ति। तीसरे विघ्न का आशय है वैयक्तिक सुखदु:ख से चेतना का ग्रस्त होना। चौथे का आशय है रसप्रत्यायक उपकरणों का अधूरा होना। पाँचवे विघ्न का आशय है सामग्री का स्फुट या बोधगम्य होना। छठे विघ्न का आशय है काव्यगत सामग्री का गौण-प्रधानभाव से सतुलित संयोजन का न होना। सातवे का अभिप्राय है कि सामग्री ग्राहक में संशय पैदा न करे। इन सब प्रकार के विघ्नों से हीन होने पर ही प्रतीति रसात्मक होती है। अभिनव काव्यरस से नाटचरस की प्रतीति को विशिष्ट अर्थात् "पूर्ण" मानते हैं। काव्य में ग्राहक एकला रसानुभूति करता है– वहाँ समष्टि के साथ न रहने से संविद् का वह विकास नहीं होता जो नाटचशाला में समष्टि के साथ सामाजिक रूप में सम्मिलित होने से होता है।

काव्य या नाटचसामग्री से ग्राहक को जो रसानुभूति या आस्वादनात्मक रस की प्रतीति होती है - उसकी प्रक्रिया क्या है? ऊपर कहा जा चुका है कि काव्यानंद "भावना" की भूमि पर निष्पन्न होता है – चित्तविशेष की भूमिका में निष्पन्न होता है। आस्वाद या काव्यास्वाद एक सम्मिश्र प्रतीति है – पानकरस-न्यायेन। इसमें अनेक तत्त्व का मिश्रण होता है - पर सब मिलकर प्रतीति में एकाकार हो जाते हैं – कोई भी अंश पृथक् से उद्रिक्त नहीं रहता। इस प्रतीति में विभावादि सामग्री तो है ही, चित्तगत वासना भी है, बल्कि चित्त की भूमिविशेष पर यह सब होता है–अत: वासना ही प्रधान है–जिसके कारण रसभेद होता है। शैवी धारा में यह चित्त चित् की ही चेतन [illegible] विशेष है–

इसलिये एक तरफ उसमें "प्रकाश विमर्श" क्षमता भी है और दूसरी ओर माया राज्य की वस्तु होने से सत्वरजस्तमोमयता भी है। आस्वाद काल में सामग्री भी अपना व्यवहारोपयोगी रूप त्याग देती है और साधारणीकृत हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप जो चित्त का एकाग्रीकरण होने लगता है वह सत्वांश के अपेक्षित प्राबल्य से। इससे चित्त पर छाए हुए न केवल मोह के बादल ही छंटते हैं अपितु उसका साधारण्य भी हो जाता है–भट्टनायक की भाँति वह व्यष्टिसीमा का नहीं होता अपितु व्यष्टि सीमा के साथ देशकाल की संकोचक चेतना से भी मुक्त हो जाता है-भावमयचित्त देशकालादि से अनालिंगित हो जाता है। उस क्षण में रसोपयोगी रूप में नाटचसामग्री की परिणति जिस प्रक्रिया से होती है–वही प्रक्रिया साधारणीकरण है। काव्य या नाटच सामग्री में रसभावन की यह क्षमता उसकी अभिनयकुशलता या गुणालंकारमण्डित काव्यत्व में होती है। यह उसकी व्यंजनाशक्ति है। यहाँ सामग्री भावक के चित्त से संबंद्ध तो होती है-पर यह संबंध एक प्रकार के लौकिक संबंधों (मेरा ही है, शत्रु का ही है, तटस्थ का ही है) से रहित लोकोत्तर संबंध से जुड़ती है। इस सामग्री के निर्विशेष या भावभूमि के निर्विशेष होने का आशय यह है कि वे व्यवहारोपयोगी व्यक्तिगत लाभ-हानी पैदा करने वाले "विशेष" नहीं हैं। नट की अतीतवाली चेतना और नाटचोपयोगी अनुकार्यवाली चेतना के परस्पर विरोधी अंश विरोधी होने के कारण चेतना-पटल से गलाकर अचेतन में चले जाते हैं–फलतः भावभूमि और सामग्री सभी निर्विशेष हो जाते हैं–साथ ही नाटच में समष्टि के साथ संविद् विकास को भी अवसर रहता है-इस प्रकार नाटच का यह आस्वाद भाव की भूमि पर आत्मपरामर्श से संभव होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त का सारा प्रदेय "रस" विशिष्ट दृष्टि और उसके ही आलोक में उनका किया हुआ विवेचन है।

–राममूर्ति त्रिपाठी

हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय
विश्वविद्यालय आवासगृह
देवासरोड, उज्जैन, (म. प्र.)

साहित्य और इतिहास

साहित्य और इतिहास दोनों की आँख मनुष्य के आचरण पर रहती है और दोनों उसे काल-प्रवाह के मध्य गतिशील पाते हैं। इसलिए ये एक-दूसरे के लिए बहुत उपयोगी और उपादेय सिद्ध हुए हैं। इतिहास ने साहित्य का उपयोग अनेक बार स्रोत के रूप में किया है और अतीत की जानकारी काल-विशेष के साहित्य से जुटाई है जब कि साहित्य ने अनेक बार इतिहास से कच्चा माल लिया है। यद्यपि मनुष्य को आँकने की विधि दोनों में अलग-अलग है, फिर भी वे एक-दूसरे के लिए उपजीव्य रहे हैं। इतिहास जहाँ 'तथ्य' को लेकर चलता है, वहाँ साहित्य 'कल्पना' को। 'तथ्य' और 'कल्पना' प्रायः एक-दूसरे के विलोम माने जाते हैं, लेकिन विलोम पूरक भी हो सकते हैं। साहित्य और इतिहास के संदर्भ में तथ्य और कल्पना का यह संबंध विचारणीय है।

ऐतिहासिक साहित्य में तथ्य का कल्पना में समा जाना आवश्यक होता है, लेकिन सदैव ऐसा हो नहीं पाता। कभी कल्पना तथ्य की अवहेलना कर जाती है तो कभी उससे कुंठित होकर रह जाती है। पौराणिक कथाओं में तथ्य का लोप ही हो गया प्रतीत होता है। अंग्रेजी का 'मिथ' (Myth) शब्द कई बार तथ्य-हीनता के अर्थ में प्रयुक्त होकर संस्कृत के 'मिथ्या' शब्द का अर्थ देने लगता है। शायद इसी आधार पर हिन्दी में उसके लिए 'मिथक' शब्द गढ़ा गया है। अंग्रेजी कोष में 'मिथ' का एक अर्थ 'मनगढ़त बात' दिया गया है।[1] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तथ्य कल्पना में इस सीमा तक विलीन हो सकता है कि उसके अस्तित्व का अभाव प्रतीत होने लगे; फिर भी मिथ, पौराणिक कथा या पुराकथा में तथ्य अवश्य रहता है। इसलिए 'मिथ' साहित्य-रचना के लिए उर्वर-भूमि रहे हैं। कारण यह है कि कल्पना को समर्पित तथ्य साहित्य की अपनी उद्भावनाधर्मी प्रकृति के अनुकूल रहता है। लेकिन ऐसा होने के कारण 'मिथ' की तथ्यात्मकता संदिग्ध भी प्रतीत होती है और उसे 'इतिहास' मानना शंकनीय जान पड़ता है। ऐसी शंका के कारण ही **कामायनी** की आधार-कथा के

रूप में गृहीत 'मिथ' को— जिसे प्रसाद ने 'गाथा' कहा है— कविने इतिहास मानने का आग्रह किया है :–

"प्राय: लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते है। किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संग्रहीत किये थे, उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है; क्योंकि उन चरित्रों के साथ भावनाओं का भी बीच-बीच में संबंध लगा हुआ-सा दीखता है। घटनाएँ कहीं-कहीं अतिरंजित-सी भी जान पड़ती हैं। तथ्य-संग्रहकारिणी तर्क-बुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा होती है। किन्तु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से संबद्ध है ऐसा तो मानना ही पड़ेगा। आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है; परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ से प्रारम्भ होती है, ठीक उसी के पहले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगों की रेखाओं से, बीती हुई और भी पहिले की बातों का उल्लेख स्मृति-पटल पर अमिट रहता है; परन्तु कुछ अतिरंजित-सा। वे घटनाएँ आज विचित्रता से पूर्ण जान पड़ती हैं।"[२]

उपर्युक्त उद्धरण पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगों की रेखाओं से 'स्मृति-पटल पर' 'पहले की बीती हुई बातों' के उल्लेख को प्रसाद ने 'इतिहास' के अंतर्गत इसलिए रखना चाहा है कि उनमें सत्यांश है, फिर भी उन्हें ऐसा मानने में कठिनाई हुई है तो इसका कारण यह है कि यह उल्लेख 'अतिरंजित-सा' होने के कारण ये घटनाएँ आज 'विचित्रता से पूर्ण' जान पड़ती हैं।

प्रसाद की यह दुविधा इतिहास को 'गाथा' या मिथ से अलग रखने के लिए पर्याप्त कारण है। गाथा या मिथ में सत्यांश होते हुए भी तर्क-बुद्धि का अतिक्रमण होता है और ऐसा होने से वहाँ सत्य तथ्यमूलक नहीं होता। दूसरी ओर इतिहास का सत्य तथ्यात्मक होता है। तथ्य के अभाव में सत्य 'इतिहास' नहीं बनता। चूँकि गाथा या मिथ का जन्म सामूहिक चेतना में—सामूहिक अवचेतन के धरातल पर–होता है, इसलिए उसमें मनुष्य का अनुभूत सत्य सामूहिक मन की उर्वरता में आकार लेकर साहित्य के निकट पहुँच जाता है। लोक-साहित्य अंशतः इसी कोटि का होता है, लेकिन इसी कारण पौराणिक आख्यान और लोक-कथाएँ इतिहास कहलाने के अधिकारी नहीं रह जाते। मनुष्य की विकास-यात्रा के दौरान हुए अनुभवों से उद्भूत कल्पना में अनुभूतिमूलक

अतीत-कथा साहित्य और इतिहास के बीच की चीज़ बन जाती है; फिर भी वह न तो 'इतिहास' कहला सकती है न 'साहित्य'। इतिहास वह इसलिए नहीं है कि उसमें तथ्य प्रतीकात्मकता में विलीन हो जाते हैं; साहित्य वह इसलिए नहीं है कि उसमें मनुष्य का सर्जन-कर्म व्यक्त नहीं हो सकता।

यदि अतीत के संबंध से इतिहास और 'गाथा' सजातीय हैं और कल्पना-सृष्टि के संबंध से 'गाथा' और साहित्य तो मनुष्य को समझने के लिए मनुष्य द्वारा किये जाने वाले प्रयत्न की दृष्टि से साहित्य और इतिहास सगोत्रीय हैं। इतिहास तथ्यात्मक होता है, फिर भी तथ्य-संग्रह मात्र इतिहास नहीं होता। अपने उद्भव से आज तक आगे बढ़ने के प्रयत्न में मनुष्य जो कुछ करता आया है, उसके भीतर से उसे समझना इतिहास का लक्ष्य रहा है। इसलिए वह निरे तथ्य-संग्रह में न अटक कर तथ्यों का निर्वचन भी करता है।

जहाँ इतिहास निर्वचन की भूमि पर पदार्पण करता है, वहीं वह साहित्य के निकट पहुँच जाता है। साहित्य भी मनुष्य को समझने-पहचान ने के प्रयत्न में अनेक बार इतिहास का सहारा लेता है। दोनों में अंतर यह होता है कि इतिहास तथ्यों में बंधा रह कर मनुष्य के क्रिया-कलाप का आकलन करता है जबकि साहित्य ऐतिहासिक तथ्यों के बंधन को ढ़ीला कर कल्पना के सहारे ऐतिहासिक तथ्यों में प्राणप्रतिष्ठा करता है। तथ्यों की प्रामाणिकता की जाँच के बिना इतिहास का काम नहीं चलता क्योंकि उसकी साँसें तथ्यों में बसती हैं। इसके विपरीत साहित्य तथ्यों की प्रामाणिकता का मुखापेक्षी नहीं होता। जब साहित्यकार की कल्पना तथ्यों के ढाँचे में जीते-जागते मनुष्य के दर्शन करती है तो इतिहास ऐतिहासिक साहित्य में परिणत हो जाता है। यह बात बहुत कुछ रचनाकार की अपनी रुचि, गति और मति पर निर्भर रहती है कि इतिहास में उपलब्ध तथ्यों में वह क्या देखता है। इतिहास के तथ्य उसके लिए कच्चे माल से अधिक कुछ नहीं होते। यही कारण है कि इतिहास-प्रदत्त सामग्री विभिन्न रचनाकारों की कृतियों में अपनी ऐतिहासिक तथ्यात्मकता खो कर कलाकार की **अपनी** रचना बन जाती है। इस प्रकार साहित्य में इतिहास की परिणति एक तो यह होती है कि स्थूल घटना में प्राण पड़ जाते हैं; दूसरे यह कि वह घटना इतिहास की **दी हुई** वस्तु न रह कर रचनाकार की **अपनी उद्भावना** बन जाती है।

उदाहरण के लिए **वाल्मीकी रामायण** को ले सकते हैं। 'लोकविश्रुत' होने के नाते **रामायण** की आधार-कथा इतिहास की कोटि की ही थी "इक्ष्वाकुवंश-प्रभवः रामो नाम जनैःश्रुतः"। इस प्रख्यात चरित को लेकर काव्य-रचना करते

समय वाल्मीकि ने घटनाक्रम की स्थूल रूपरेखा के भीतर हँसते-बोलते जीवन का साक्षात्कार किया–

हसितं भाषितं चैव गतिर्यावच्च चेष्टितम् ।
तत् सर्वं धर्मवीर्येण यथावत् सम्प्रपश्यति ।।

वाल्मीकि ने राम-कथा के पात्रों को अपनी कल्पना में हँसते-बोलते, चलते-फिरते देखा। वाल्मीकि को जो आधार-कथा उपलब्ध थी, उसमें सब-कुछ व्यक्त नहीं था, बहुत-कुछ गर्भित भी था– "**रहस्यं च प्रकाशं च** यद् वृत्तं तस्य धीमतः ।" वाल्मीकि की कल्पना-शक्ति ने गर्भित कथा के भीतर प्रवेश कर उसे आलोकित कर दिया और इस प्रकार अव्यक्त कथा भी व्यक्त हो गई। ब्रह्मा ने वाल्मीकि को राम की कथा **लिखने, कहने** अथवा **स्मरण करने** का निर्देश न देकर उसे अपने **कृतित्व का रूप देने को** कहा– "कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धांमनोरमाम् ।" साथ ही उन्होंने आदिकवि को यह वरदान भी दिया कि **उनकी** यह **कृति** लोकप्रिय होगी और जब तक **उनकी** इस कृति का लोक में प्रचार रहेगा तब तक उसका कर्ता भी विलुप्त नहीं होगा–

यावद् रामस्य च कथा त्वत्कृता प्रचरिष्यति ।
तावदूर्ध्वमधश्च त्वं लोकेषु निवसिष्यसि ।।

स्पष्ट है कि इतिहास से प्राप्त अथवा लोकविश्रुत स्थूल घटनाक्रम रचनाकार की अपनी कल्पना में अवतार लेकर ही साहित्य में स्थान पा सकता है और जब उसे साहित्य में स्थान मिल जाता है तो वह 'इतिहास' न रहकर रचनाकार की अपनी सृष्टि बन जाता है। यही कारण है कि एक ही आधार-कथा भिन्न-भिन्न रचनाकारों के हाथों में पहुँचकर भिन्न-भिन्न रूप लेकर भिन्न-भिन्न **कृतियाँ** बन जाती है। चन्द्रगुप्त का इतिहास तो एक ही था, लेकिन द्विजेन्द्रलाल राय और जयशंकर 'प्रसाद' के **चन्द्रगुप्त** अलग-अलग हैं। दोनों में कोई कृति एक-दूसरे के लिए 'प्रमाण' नहीं हो सकती। वाल्मीकि और तुलसीदास की मंथराओं के चरित्र में आकाश-पाताल का अंतर है– वाल्मीकि की मंथरा स्पष्टवादिनी स्वामिभक्त दासी है तो तुलसीदास की मंथरा भयंकर कुचक्री। लेकिन इस कारण यह नहीं कह सकते कि तुलसीदास ने मंथरा को अवास्तविक रूप में प्रस्तुत किया है।

फिर भी साहित्य ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति अनेक बार रक्षणशील होता है। इसीलिए ऐतिहासिक अभिलेख के रूप में साहित्य का उपयोग करके उससे इतिहास के लिए सामग्री जुटाना गलत नहीं माना गया है। राजस्थानी **ख्यातों** में

अनेक ऐतिहासिक प्रसंग अंकित हैं। इन रचनाओं में ऐतिहासिक प्रसंगो की यथा-वत्ता की रक्षा करने का पूरा प्रयत्न किया गया है, फिर भी जनश्रुतियों के समावेश के कारण उनकी तथ्यात्मकता अविकल नहीं रह सकी है और **प्रसंगों के ब्यौरों में** रचनाकार की कल्पना सक्रिय हो उठी है। ऐतिहासिक कथा-साहित्य **से ख्यातों** की भिन्नता इस बात में निहित है कि जहाँ ऐतिहासिक कथाओं में रचनाकार अपने मंतव्य के प्रतिपादन के लिए इतिहास की व्याख्या अपने ढंग से करके वर्ण्य प्रसंगों में भी आवश्यकतानुसार फेर-बदल कर देता है और नए प्रसंगों की कल्पना करके घटनाक्रम का कायाकल्प कर देता है, वहाँ ख्यात जैसी रचनाओं में वर्णित मूल प्रसंग यथातथ्य होते हैं और उनके ब्यौरों की कल्पना भी इस तरह की जाती है कि मूल प्रसंगों की यथातथ्यता पर आँच न आने पाए।

ऐतिहासिक प्रसंगों की अक्षुण्णता के प्रति साहित्यकार की सचेतता अनेक बार वहाँ भी देखने में आती है जहाँ रचनाकार का उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्यों का रक्षण न होकर उनके सहारे अपनी बात कहना होता है। इतिहास का आधार लेकर साहित्य की रचना करने वाले को अनेक बार यह लगता है कि ऐतिहासिक तथ्यों को प्रामाणिकता के अभाव से **साहित्यिक कृति का अपना मूल्य** घट जाता है। जयशंकर 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों की भूमिकाएँ देखने से पता चलता है कि वे अपने नाटकों में इतिहास की प्रमाणिकता बनाए रखने के विषय में कितने सचेत थे। और तो और, **कामायानी** में भी जहाँ वे एक पुराकथा को आधार बनाकर रचना कर रहे थे, उन्होंने उसके 'आमुख' में यह सिद्ध करना चाहा है कि उसकी आधार-कथा "इतिहास ही है"। ऐसा साहित्यकार भी, जो किसी ऐतिहासिक चरित्र को अपनी बात कहने का बहाना-भर बनाता है, इस आलोचना से चिंतित हो उठता है कि उसने अपनी रचना में ऐतिहासिक व्यक्ति का चरित्र विकृत कर दिया है। **आषाढ का एक दिन** के नायक कालिदास के चरित्र की प्रामाणिकता को लेकर मोहन राकेश की जो आलोचना की गई, उसके उत्तर में उनसे यह कहते नहीं बना कि इस का नायक **उनकी अपनी सृष्टि** था जिसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता उनके सर्जन-कर्म का अनिवार्य अंग नहीं हो सकती। उन्होंने यह अवश्य कहा है कि, "**कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं,** हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, **नाटक** में वह प्रतीक उस अंतर्द्वन्द्व को संकेतित करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आंदोलित करता है"; फिर भी उन्होंने मानो कालिदास के चरित्र की ऐतिहासिक प्रामाणिकता की रक्षा की आवश्यकता स्वीकार करते हुए लिखा है– "**आषाढ का एक दिन** में कालिदास का जैसा भी चरित्र है, वह उनकी रचनाओं में समाहित उसके व्यक्तित्व से बहुत हटकर नहीं है......।"

तथ्य की प्रामाणिकता इतिहास की माँग है, साहित्य की नहीं; फिर भी साहित्यकारों ने कथानक और चरित्रों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता का सम्मान किया है तो इसका कारण यह है कि साहित्य के पात्र भी समय के आयाम में ही जीते हैं। अपनी बात कहने के लिए साहित्यकार जब इतिहास का सहारा लेता है तो उसे यह चिन्ता होना स्वाभाविक है कि वह जिस भूमि पर अपने पैर टिका रहा है वह ठोस तो है ! जयशंकर 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों में रचनाकार के समय और इतिहास में वर्णित अतीत में साम्य की खोज लेखक की सर्जनात्मक कल्पना का एक महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। अपने युग के अनुरूप और अपनी संवेदनशीलता से उद्भूत कथ्य का विकास उन्होंने घटनाक्रम को ऐतिहासिक प्रामाणिकता के भीतर से किया है।

साहित्यिक कृति में ऐतिहासिक प्रामाणिकता की इतनी चिंता आवश्यक नहीं है। भले ही मोहन राकेश साहसपूर्वक यह बात न कह पाए हों, **आषाढ का एक दिन** की रचना से प्रकट यही होता रहा होता है। रचनाकार जब इतिहास का आश्रय लेकर उसमें प्राण फूंकता है तो यह आश्रय क्षीण या सुपुष्ट किसी तरह का हो सकता है; आवश्यकता इस बात की होती है कि उसकी कल्पना उस आश्रय के भीतर से विकसित हो। जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में ऐतिहासिक आधार सुपुष्ट है और राकेश के नाटकों में क्षीण, फिर भी दोनों रचनाकारों की कल्पना उसके भीतर सक्रिय हुई है। महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि राकेश के कालिदास का चरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक है या नहीं, महत्त्व इस बात का है कि राज्याश्रय में अद्वितीय रचनाशील प्रतिभा की मानसिकता उभर पाई है या नहीं। क्षीण ऐतिहासिक आधार के बावजूद राकेश के नाटक में यह मानसिकता जीवित रूप में उपलब्ध है, इसी में लेखक की सफलता निहित है। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में सर्वत्र ऐतिहासिक आधार सुपुष्ट है, किन्तु उनमें **मृगनयनी** का स्थान सर्वोच्च है क्योंकि उसमें उत्तरमध्यकालीन भारत का सामंती माहौल जीवन्त रूप में अंकित है।

जब साहित्यकार इतिहास में प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सकता तो रचना में समाविष्ट इतिहास कितना ही प्रामाणिक क्यों न हो, उसकी रचना अकारथ हो जाती है। वृन्दावनलाल वर्मा ने **झाँसी की रानी** में इतिहास का जितना ध्यान रखा है, उतना अपनी किसी अन्य कृति में नहीं रखा, फिर भी उक्त उपन्यास उच्च कोटि की साहित्यिक कृति में नहीं बन पाया क्योंकि उसमें वर्माजी की चेतना पर घटनाक्रम इतनी बुरी तरह छा गया कि इतिहास की धड़कनें उन्हें सुनाई नहीं दीं।

यही स्थिति वहाँ भी होती है जहाँ लेखक अपने युग का आरोप इतिहास पर करता है। इतिहासप्रदत्त अतीत के भीतर अपने युग का साक्षात्कार एक चीज़ है और इतिहास पर युगीन अभिप्रायों को बलात् थोपना दूसरी। प्रसाद ने अपने युग के अभिप्रायों को इतिहास में इस तरह समोदिया है कि वे इतिहास में खप-से गए हैं। दूसरी ओर नरेन्द्र कोहिली ने राम-कथा पर समकालीन अभिप्रायों को इस तरह चिपकाया है कि वे असंगत भले ही न लगें, इतिहास में खप नहीं सके हैं। ऐतिहासिक आधार पर साहित्य-रचना करने के लिए आवश्यक है कि इतिहास साहित्यकार की कल्पना में घुल जाए। ऐसा होने पर लेखक के युगीन अभिप्राय मुखर नहीं रह जाते। जब युगीन अभिप्राय सतह पर तिरते रहते हैं तो इतिहास के साथ जबरदस्ती होती जान पड़ती है। जबरदस्ती का भान जितना प्रबल होगा, साहित्य और इतिहास में उतना ही अंतराल रहेगा।

ऐतिहासिक तथ्यों के नाम पर प्रायः ऐतिहासिक प्रसंगों और चरित्रों का उपस्थापन साहित्य में होता रहा है, लेकिन इस प्रवृत्ति के अतिक्रमण के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं। ऐसी रचनाएँ भी हमारे सामने हैं जिनके पात्र इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति हैं, फिर भी जिनके प्रसंग इतिहासप्रदत्त नहीं हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास **बाणभट्ट की आत्मकथा** में बाणभट्ट और हर्षवर्धन के होते हुए ऐतिहासिक प्रसंग लगभग नहीं है। उसमें स्थान पर तत्कालीन सांस्कृतिक वातावरण का अंकन लेखक ने किया है। उपन्यास की ऐतिहासिकता उसकी इसी विशेषता में निहित है।

कभी-कभी इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियों के विषय में दंतकथाएँ चल पड़ती है। उनके आधार पर भी साहित्य की रचना होती है। ऐतिहासिक व्यक्तियों से संबंधित होने के कारण ये दंतकथाएँ ऐतिहासिक प्रसंगों का भ्रम उत्पन्न करती हैं। यह भ्रम तब टूटता है जब कोई उस दंतकथा की तथ्यहीनता उघाड़ कर सामने रखता है। सुदर्शन की कहानी 'बैजू बाबरा' इस प्रकार की रचना का एक उदाहरण है। इस कहानी में प्रख्यात संगीतकार तानसेन को अनजाने-अनचीन्हे संगीतकार बैजू से पराजित होते दिखलाया गया है। इतिहास साक्षी है कि बैजू तानसेन से बहुत पहले हुआ था। दोनों समकालीन नहीं थे। बैजू ऐतिहासिक व्यक्ति था, लेकिन यह कहानी किसी भी तरह ऐतिहासिक नहीं है।

निस्संदेद, साहित्यकार दंतकथाओं के आधार पर भी साहित्य की रचना कर सकता है, लेकिन इस कोटि की रचनाओं का उपयोग स्रोत-सामग्री के रूप में करने से इतिहास भटक सकता है। कहा जाता है कि ऐसे ही भ्रमों से ग्रस्त होने के कारण कर्नल टाड का राजस्थान का इतिहास सर्वत्र विश्वसनीय नहीं रह गया है।

यदि कोई इतिहासकार जायसी के **पद्मावत** के आधार पर इतिहास लिखता है तो वह गलत ही होगा।

साहित्यकार इतिहास की तथ्यात्मकता से कितनी ही छूट क्यों न ले यदि वह उसके तथ्यों को उलट-पुलट देता है तो उसकी रचना ऐतिहासिक कहलाने के अधिकार से वंचित हो जाती है।

इतिहासप्रदत्त सामग्री पर आधारित साहित्यिक कृतियों में तो साहित्य की इतिहास-निर्भरता स्पष्ट ही दिखलाने देती है, लेकिन जो कृतियाँ ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग नहीं करतीं–जिनमें न तो प्रसंग ऐतिहासिक होते हैं, न पात्र, न युग-विशेष का चित्रण–उनमें भी इतिहास समाया रहता है। एक अर्थ में साहित्य एक इतिहासरहित कभी नहीं होता।

प्रत्येक साहित्य-रचना एक कल्पना-सृष्टि होती है और कल्पना लेखक की चेतना का अंग होती है। इस प्रकार प्रत्येक साहित्यिक कृति में रचनाकार की चेतना व्यक्त होती है। स्वभावतः कृति में परोक्ष या अपरोक्ष रूप में साहित्यकार का व्यक्तित्व समाया रहता है, लेकिन व्यक्तित्व के निर्माण में युग की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। प्रत्येक युग कालांतर में इतिहास की वस्तु बन जाता है। इस प्रकार रचना में रचनाकार की चेतना को अभिव्यक्ति के संबंध से इतिहास की पहचान की जा सकती है। रचनाकार अपने समय को चुनौती दे सकता है और विद्रोही बनकर अपने समय के अनेक आग्रहों के विरुद्ध सिर उठा सकता है। वह उस ओर से सर्वथा उदासीन दिखलाई दे सकता है; फिर भी उसकी शिराओं में प्रवाहित रक्त में उसका समय समाया रहता है : उसके अभाव में 'चेतना' जैसी कोई चीज़ नहीं हो सकती। अपने समय और समाज से यदि कोई अछूता बच जाए तो उसका जीवन मूलप्रवृत्तियों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता। इस स्तर पर साहित्य के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

चूँकि साहित्य में समय और समाज की अभिव्यक्ति कलाकार की अपनी चेतना में ढलकर होती है, इसलिए साहित्य में समष्टि-चेतना कभी सीधे व्यक्त नहीं होती। सीधे वह व्यक्त होती है लोक-साहित्य की सामूहिकता में। एक ही युग के कलाकारों की रचनाओं में—यहाँ तक कि एक समय में एक ही नगर के निवासी रचनाकारों के कृतित्व में—उनका समय अलग-अलग ढंग से आकार ग्रहण करता है। सूर, तुलसी, मीराँ, कबीर के कृतित्व में उनका समय भिन्न-भिन्न रूपों में समाया हुआ है। प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल और प्रेमचन्द, तीनों एक ही समय बनारस के निवासी थे, लेकिन उनकी रचनाओं में उनके समय की झलक अलग-अलग तरह से मिलती है। साहित्य में युग कभी सीधे आ धमकता है तो कभी अपने प्रभाव की झलक छोड़ता है। '[illegible] बारहिं बार अकाल पड़ै' जैसी उक्तियों

में इतिहास सीधे पहचान में आता है जबकि **विनयपत्रिका** के दरबारी ढाँचे में उसका प्रभाव शेष है।

लेकिन साहित्य में इतिहास केवल युगीन प्रभाव के रूप में नहीं रहता, परम्परा-विकास के रूप में भी साहित्य-विशेष के स्वरूप-निर्धारण में इतिहास महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। परम्पराएँ समय के प्रवाह में परिष्कृत होती हुई विभिन्न युगों की वैविध्यमयी साहित्य-सर्जना में निरन्तरता बनाए रखती हैं। प्रत्येक साहित्यिक कृति अपने-आप में विशिष्ट होती है, लेकिन उसकी यह विशिष्टता परम्परा-प्रदत्त सामान्यता के भीतर व्यक्त होती है। यह सही नहीं होगा कि परम्परा का संबंध केवल अंतर्वस्तु से होता है। शिल्प की भी अपनी परम्परा होती है। आज, जब विज्ञान के विकास के फलस्वरूप दुनिया सिकुड़ती जा रही है, तो अन्य क्षेत्रों के समान साहित्य में भी अन्तर्राष्ट्रीयता का ज़ोर बढ़ रहा है। इसलिए अब परम्परा-विकास की समझ स्वभाषा-साहित्य और स्वदेशी साहित्य के अध्ययन से ही प्राप्त नहीं की जा सकती। हमारे साहित्य को प्रभावित करने वाले पराये साहित्य की परम्परा का ज्ञान भी इस संबंध में सहायक हो सकता है क्योंकि हमारे साहित्य के इतिहास-निर्माण में उसका हाथ रहता है।

परम्परा कितनी भी समृद्ध क्यों न हो, युगीन प्रभाव से अछूती नहीं रह सकती। कभी-कभी साहित्य की परम्परा युगों को लाँघ जाती है–यहाँ तक कि भाषा के विकास का भी अतिक्रमण कर जाती है। प्राकृत-अपभ्रंश के साहित्य की परम्पराएँ मध्यकालीन हिन्दी साहित्य तक चली आई हैं। इससे साहित्यिक धाराओं की निरंतरता का जो बोध होता है, उससे युगीन प्रभाव की प्रतीति क्षीण होती है। इसका एक कारण यह भी है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में युगीन प्रभाव का आकलन बहुत स्थूल रूप में किया गया है। यदि सूक्ष्म रूप में विचार किया जाता तो यह कहने के बावजूद युगीन प्रभाव को पहचाना जा सकता था कि "वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मतों को मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्ग-दर्शक हैं"।[3]

साहित्य के माध्यम के रूप में भाषा परम्परा से संस्कार प्राप्त करती है, लेकिन वह परम्परा से बँधती नहीं। परम्परा से गृहीत साहित्यिक भाषा को युग का संस्पर्श अपनी पहचान देता है। तुलसीदास ने विनयपत्रिका में ब्रज भाषा का प्रयोग किया है और ब्रजभाषा उन्हें परम्परा से प्राप्त हुई थी, लेकिन उस भाषा में जब वे 'गरीबनेवाज' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसके भीतर उनके युग का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। युग का यह प्रभाव सभी कवियों में एक ही

तरह से नहीं मिलता। कलाकार का अपना व्यक्तित्व परम्परा-प्रदत्त और युग-संदर्भित भाषा को एक निजी भंगिमा प्रदान करता है; लेकिन कलाकार के अपने वैशिष्टच के सहारे ही उसकी भाषिक संरचना नहीं समझी जा सकती। परम्परा और युग की अंतःक्रिया के रूप में इतिहास का योगदान साहित्य की भाषा के निर्माण में अवश्य रहता है। वस्तुतः साहित्य से इतिहास का नाता परम्परा और युग की अंतःक्रिया के रूप में रहता है।

रचना-काल के प्रभाव और परम्परालब्ध संस्कार का अपने भीतर समाये रखकर भी साहित्य दोनों में से किसी का बंधन स्वीकार नहीं करता। वह परम्परा को पचा कर उससे नई ऊर्जा प्राप्त करता है और यूग-सम्पृक्त रहते हुए वह युग का अतिक्रमण करता है। साहित्य की मानवीय सार्थकता युग के परे भी उसके मूल्य की प्रतिष्ठा करती है। इसीलिए साहित्य का मूल्यांकन रचना-काल के संबंध से नहीं किया जा सकता। केशवदास की **रामचंद्रिका** में व्यक्त काव्य-प्रवृत्ति मुगलकालीन हिन्दू नरेशों एवं उनके दरबार की काव्य-रुचि के प्रकाश में समझी जा सकती है, लेकिन इसी नाते उक्त रचना एक महान् काव्य-कृति नहीं मान ली जा सकती कि उसने अपने युग की एक विशेष प्रकार की काव्य-रुचि को तृप्त किया था। नंदतिक बोध युगसंदर्भित हो सकता है, लेकिन जब तक उसमें युग के अतिक्रमण की क्षमता न हो, वह किसी महान् कृति को जन्म नहीं दे सकता। जिस प्रकार रचनाकार का अपना युग उसके कृतित्व के स्वरूप-निर्धारण में योग देता है उसी प्रकार पाठक के अपने युग की मूल्य-दृष्टि उससे अपनी तुष्टि की माँग करता है। रचनाकार आगामी युगों की मूल्य-दृष्टि और नंदतिक रुचि का पूरी तरह तो क्या, अंशतः भी अनुमान नहीं लगा सकता, किन्तु उसकी इस असमर्थता को उसकी व्यापक मानवीय अभिरुचि और सूक्ष्म नंदतिक अंतर्दृष्टि दूर करती है। इन्हीं के बल पर साहित्य-रचना इतिहास को अपने भीतर समाहित करके उससे ऊपर उठ जाती है। ऐसा होने पर साहित्य की इतिहास-सापेक्षता की अंतिम परिणति इतिहास के अतिक्रमण में होती है।

५६, गोल्फ कोर्स
जोधपुर (राजस्थान)

—जगदीश शर्मा

ग्रन्थ-समीक्षाएँ

— १ —

१. मिश्र, कैलासपति, **काश्मीर शैव दर्शन : मूल सिद्धान्त**, अर्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, १९८२; पृ. २४+२००, सजिल्द, मूल्य रु. २५

२. मिश्र, कैलाशपति, **शैव-सिद्धान्त दर्शन**, अर्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, १९८२; पृ. २१+११९, मूल्य रु. २५.

काश्मीर प्रांत में निष्पन्न हुआ शैवदर्शन मूलतः दर्शन की एक विशुद्ध परंपरा का स्त्रोत था। उसके उद्‌भव के पीछे कुछ अन्य दार्शनिक परंपराओं का सहयोग ज़रूर हो सकता है। लेकिन वह अपने में एक स्वतंत्र एवं प्रगल्भ दर्शन था। उस दर्शन की पीठिका मानव जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण अंगों को एक दार्शनिक परिवेश में सम्मिलित करके रख देने की थी। अतः उसमें न केवल ज्ञानात्मक अंग पर जोर था बल्कि ज्ञानात्मक एवं कर्मात्मक इन दोनों अंगों की पूर्ण संतुलित मिलावट थी। इस संतुलित मिलावट को पार्श्वभूमि में रखकर विश्व, मनुष्य-जीवन एवं उसका अनुभव इनका समग्र विचार उस दर्शन का विषय एवं कथ्य रहा है। इसी कारण वह न केवल दर्शन रहा बल्कि दर्शन की परंपरा में प्रसृत हुआ। उस दर्शन के विकासकाल के उत्तरार्ध में उसे तंत्र का रूप मिल गया। काश्मीर शैव दर्शन की तंत्रात्मकता को वैसे जरा सूक्ष्मता से ही देखना आवश्यक है। क्योंकि यह केवल तंत्र नहीं बना रहा, वह एक तंत्र-दर्शन में विकसित हुआ, तंत्रदर्शन की हैसियत से अनेकों ज्ञानविधाओं को उनके विकास एवं रचना के संदर्भ देता रहा। अतः काश्मीर शैव दर्शन के मूल सिद्धान्तों को परखना न केवल ऐतिहासिक महत्त्व की बात है लेकिन वह तात्त्विक परिशीलन की एक महत्त्वपूर्ण विधा भी बन गयी है। इस दृष्टि से देखा जाए तो डॉ. कैलाशपति मिश्र की दो पुस्तकें **काश्मीर शैव दर्शनः मूल सिद्धान्त** एवं **शैव सिद्धान्त दर्शन**

अवश्य ही स्पृहणीय हैं। इन दो पुस्तकों में डॉ. मिश्र ने बड़ी सरल एवं सुबोध शैली में शैव दर्शन एवं काश्मीर शैव दर्शन के मूल सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं।

इन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हुए डॉ. मिश्र की दृष्टि एक संशोधक की रही है यह इसमें महत्त्वपूर्ण बात है। वे हमें ऐतिहासिक पार्श्वभूमि पर विषय का परिचय करा देते हैं। इस परिचय का महत्त्व यह भी है कि शैव दर्शन के विस्तृत काल एवं साहित्य के बारे में हमें जानकारी मिलती है। वैसे देखा जाए तो दोनों पुस्तकों का ढाँचा तथा पद्धति कम-अधिक मात्रा में करीब-करीब ऐक जैसी ही है। ऐतिहासिक उपन्यास से लेखक हमें इन दर्शनों की ज्ञानमीमांसा का परिचय करा देते हैं। इन दर्शनों की अपनी एक ज्ञानमीमांसा रही है। उसकी दूसरी खासियत यह है कि इन दर्शनों के तात्त्विक विकास का सारा रुख इनकी ज्ञानमीमांसा पर ही पूरा निर्भर करता है। जैसा कि लेखक बताते हैं, 'काश्मीर शैव दार्शनिक ज्ञान को आत्मा का स्वरूप मानते हैं।' (पृ. २१) और, 'काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ज्ञान क्रियारूप है।' (पृ. २१) यह ज्ञान कैसे संभव है? 'इसके उत्तर में काश्मीर शैव दार्शनिक यह मानते हैं कि चेतना स्वतंत्रतापूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकती है। पशु-अवस्था में चेतना जब मल से संसिक्त तथा शरीर आदि के बंधन से सीमित रहती है तो यह ज्ञान के साधनों पर निर्भर होती है।' (पृ. २४) इस संदर्भ में प्रमाण, प्रामाण्य एवं भ्रमज्ञान की भी चर्चा की गयी है। इस तरह ज्ञान-मीमांसा प्रस्तुत करते हुए लेखक **शैव सिद्धान्त दर्शन** में ज्ञान की परिधि, ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान के प्रमाण तथा प्रामाण्य इनका भी विचार थोड़े में प्रस्तुत करते हैं।

ज्ञान-मीमांसा के उपरान्त दोनों पुस्तकों मे जो विषय प्रस्तुत किया है वह शैव दर्शन एवं काश्मीर शैव दर्शन के मूलभूत सत्ताशास्त्रीय, विश्वस्वरूप सृष्टयुत्पत्ति आदि सिद्धांतों के संबंध में किया विवरण है। इन में कारणता शिवशक्ति-स्वरूप, शिव का सृष्टि से संबंध, सृष्टिक्रम, आत्मा, बंधन, मोक्ष आदि विषयों पर दोनों पुस्तकों में चर्चा प्रस्तुत की है। **शैव दर्शन सिद्धांत** में ईश्वर एवं आत्मा के अस्तित्व के लिए दिये तर्कों का विवरण भी समाविष्ट है। वस्तुतः यह पूरा विषय ही शैवदर्शन की ज्ञान-मीमांसा का परिष्कृत रूप माना जा सकता है इतना उसकी ज्ञान-मीमांसा एवं सत्ता-मीमांसा में अधिक गहरा संबंध है। इस संबंध को लेकर ही इस दर्शन की परंपरा का असली रूप स्पष्ट हो जाता है। लेखक अपनी दोनों पुस्तकों में इस दृष्टि से अवश्य प्रयत्न करते हैं। लेकिन उन संबंधों का साक्षात् उससे भी अधिक प्रकर्षता से किया जा सकता है, ताकि वह दार्शनिक दृष्टि के लिए पोषक हो। शैव दर्शनों के करीब करीब सभी महत्त्वपूर्ण विषय एवं तत्त्व इस चर्चा में आ जाते

हैं और उनके परस्पर संबंधों से हम अच्छी तरह वाकिफ हो जाते हैं यह भी इन पुस्तकों की विशेषता है ।

इस विषय को प्रस्तुत करते हुए लेखक जिस शैली को अपनाते हैं उस पर भी थोडा सोचना आवश्यक है । प्राय: हम अद्वैत वेदांत, सांख्य, नव्यन्याय इन दर्शनों से अधिक परिचित होते हैं । हमारी संस्कृति पर भी इन दर्शनों का प्रभाव अन्य दर्शनों की अपेक्षा कुछ अधिक ही रहा है । इन दर्शनों के तत्त्वों और सिद्धान्तों को लेकर उनकी तुलना में लेखक हमें शैवदर्शन के तत्त्व एवं सिद्धान्त समझाने की कोशिश करते हैं । यह शैली बड़ी उपयुक्त है; लेकिन उसकी मर्यादाओं को भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिए । यह शैली हमें परिचय के लिए जितनी सुविधाजनक मालूम होती है उतनी भेदग्रहण के लिए उपयुक्त साबित नहीं होती । साथ ही, यह शैली तुलना को अधिक प्रवृत्त करके चिकित्सा में कम रस लेती है । दार्शनिक चिंतन में, खासकर परिचायक उपोद्घातों में तुलना के साथ ही चिकित्सक मीमांसा भी आवश्यक होती है । किसी सिद्धांत को लेकर केवल उसके असली रूप में विश्लेषण करते रहने से हम उसकी सतह तक बड़ी आसानी से जाकर उसकी जड़ पकड़ सकते हैं । इस दृष्टि से भी प्रस्तुत शैली का प्रयोग उतना ठीक नहीं लगता है ।

भारतीय परंपरा में दर्शन प्राय: वेदांत-दर्शन के विचारों से काफी प्रभावित रहा है । साधारण जनों की कल्पनाएँ, विचारधाराएँ तथा प्रवृत्तियाँ ज्यादा करके पूर्व-मीमांसा एवं उत्तर-मीमांसा इन दर्शनों का अनुचरण करनेवाली रही हैं । अतः हर दार्शनिक समस्या एवं तत्त्वों को वेदांत की भूमिका से न केवल देखा ही जाता है बल्कि नपा-तुला भी जाता है । शुद्ध दार्शनिक विमर्श की दृष्टि से इस वस्तु-स्थिति को स्वीकारना कष्टकारक एवं हानिकारक हो सकता है । क्योंकि ऐसी धारणा में हमारा विचार वेदांत ने निर्धारित की हुई विचारधारा के अनुरूप ही चलता रहता है । भारतीय परंपरा पर वेदांत का इतनी भारी असर है कि दर्शन के अभ्यासक भी अपने को उससे मुक्त किये बिना नहीं रह पाते हैं । हर किसी विचार या दर्शन को प्रस्तुत करना हो तो वह वेदांत ने निर्धारित की हुई विचार प्रणाली के अनुसार ही होता है । और वेदांत दर्शन का भी कभी एक रूप नहीं रह पाया है । श्रीमत् शंकराचार्य के नाम अनेकों तत्त्वों एवं सिद्धांतों तथा दर्शनरूपों को जुड़ा दिया गया है । किसी दार्शनिक परंपरा के मूलाधार समझते हुए हमें इस बात पर विशेष ध्यान देकर ही आगे चलना होगा । प्रस्तुत पुस्तकों को पढ़ते हुए भी इस समस्या पर विचार करने को हम बाध्य हो जाते हैं । हमारे अन्यान्य प्राचीन दर्शनों एवं दार्शनिक परंपराओं का अध्ययन एवं विश्लेषण जितना शुद्ध रूप में हो सके उतना करने की जरूरत है । इससे उन

दर्शनों एवं दार्शनिक परंपराओं की अपनी-अपनी विशेषताएँ हम ठीक तरह से समझ पाएँगे। शैव दर्शन जैसे वेदांतेतर दर्शनों का प्राथमिक परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उनका वेदांत, सांख्य आदि अन्य दर्शनों से तौलनिक विश्लेषण प्रस्तुत करना अनुचित नहीं कहा जाएगा। फिर भी आरंभ से लेकर वेदांतादि दर्शनों के सहारे ही ऐसे दर्शनों को समझने के बजाय उनके विचारों का उद्‌गम एवं विकास स्वतंत्ररूप से केवल उन्हीं दर्शनों के अपने-अपने परिवेश में प्रस्तुत करना शायद अधिक लाभप्रद हो सकता है। प्रस्तुत ग्रंथों के लेखक का इस दृष्टि में ध्यान है ऐसा दिखाई देता है। अतः एक अपेक्षा निर्माण होती है कि इस शैली पर अधिक जोर देकर ही इन विचारों का विवरण क्यों न प्रस्तुत किया जाए ? हरेक दर्शन की अपनी-अपनी शैली होती है, अपनी-अपनी धारणाएँ होती हैं' अपने-अपने अनुबंध होते हैं जिनके आधार पर ही उन दर्शनों की रचना एवं विकास होते रहते हैं। उन मौलिक रचनाओं, धारणाओं एवं अनुबंधों को पकड़कर ही उनकी शैली में प्रस्तुत किया विवरण उक्त दर्शन का अधिक मान्य विवरण हो सकता है। वेदांत ने जरूर हमें एक दृष्टि दी हो। लेकिन ऐसा मानने की कोई जरूरत नहीं है कि उसी दृष्टि से अन्य दर्शनों का भी परिशीलन हो। हरेक दर्शन की अपनी अपनी दृष्टि होती है, उसी दृष्टि का परिशीलन एवं अनुसरण करके ही उक्त दर्शन का विचार करना अधिक न्यायसंगत होगा।

अर्थात् ऐसी स्थिति में एक और महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी चाहिए। कभी-कभी किसी दर्शन या दार्शनिक परंपरा के विकास में उसे अन्य दर्शनों के कुछ तत्त्वों, सिद्धांतों आदि का योगदान होता है। उस योगदान को ध्यान में रखकर ही हमें उक्त दर्शन के विकास के सोपान देखने पड़ते हैं। कुछ अभ्यासकों का कहना है कि काश्मीर शैव दर्शन के विकास में बौद्धदर्शन के विज्ञानवाद की धारा का कुछ योगदान रहा है। एक दृष्टि से देखा जाए तो यह विचार सही मालूम पड़ता है। फिर इस विचारधारा को मद्दे नजर करते हुए काश्मीर शैव दर्शन की ज्ञानमीमांसा का परिशीलन अधिक लाभप्रद हो सकता है।

प्रस्तुत पुस्तकों की यह एक बड़ी विशेषता रही है कि उनकी भाषा एवं विषय को समझाने की शैली सीधी एवं सरल होने के कारण विषय का उपन्यास सुलभ रहा है। साथ ही लेखक की तौलनिक दृष्टि अन्य संबंधित महत्त्वपूर्ण दार्शनिक मतों का जिक्र करती रहती है। इसलिए एक ही विषय पर अन्य दर्शनों के मतों की भूमिका समझ जाने से आगे चलकर उसपर अधिक विचार करने की प्रेरणा भी प्रबल होती है। यह बात हमें एक व्यापक दृष्टिकोन बनाने के लिए भी काफी उपयुक्त साबित हो सकती है। इस व्यापक दृष्टिकोन से शैव दर्शनों का

मूल्यांकन अवश्य ही बदल जाएगा। लेकिन यह विषय एक स्वतंत्र संशोधन-कार्य का प्रयोजन होगा।

शैव दर्शन और उसमें भी विशेष कर काश्मीर शैव दर्शन हमें दर्शन एवं जगत् की ओर देखने की एक अनूठी दृष्टि देता है। इस दृष्टि का जिक्र उपनिषद् के संदर्भ में करते हुए लेखक एक बड़े महत्त्वपूर्ण विचार को उद्वेलित करते हैं। शैवदर्शन की यह दृष्टि न केवल विचार तक सीमित है बल्कि आचार में भी उसका बड़ा महत्त्वपूर्ण अंश निहित है। यह दर्शन मनुष्य के ज्ञान एवं जीवन का समग्ररूप से ग्रहण करने का यत्न करता है। इस दर्शन के परिशीलन से इन बातों को पाना ही असल में अध्ययन की इष्ट फलप्राप्ति कहनी चाहिए। इस फलप्राप्ति को हम अवश्य ही दोनों पुस्तकों के उपसंहार में देख पाते हैं। अर्थात् एक ही पुस्तक में इस विशाल दर्शन के तत्त्वों को सम्मिलित करने की मर्यादाओं से मुक्त रहना असंभव है। फिर भी इस तरह का प्रयास–विशेषकर हिंदी भाषा में–अवश्य ही सराहनीय है, जिससे न केवल साधारण पाठक की जिज्ञासाएँ मिट सकती हैं बल्कि विशेष अध्येताओं के लिए भी विचार-प्रवर्तक दृष्टि मिल सकती है।

– सु. ए. भेलके

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे– ४११ ००७

– २ –

सच्चिदानंद सिंह 'समीर'; **बिंधा हुआ आदमी (काव्य संग्रह);**
प्रतीक्षा प्रकाशन, बम्बई; **पृष्ठ संख्या १०० मूल्य : अठारह रुपये**

सच्चिदानंद सिंह 'समीर' का नवगीत संग्रह **बिंधा हुआ आदमी** अपनी समग्रता में कवि की बेचैन मनीषा की आकुल अभिव्यक्ति है। विभिन्न पारिवेशिक दबाव में जीवन की दुर्लंघ्य जटिलताओं के बीच झटपटाते हुए निरुपाय आम आदमी की विवशताओं और वेदनाओं को इन गीतों में वाणी मिली है। निरंतर क्षीण होती हुई मानवीय संभावना के साक्ष्यपर आज संवेदनशील मनुष्य का अनास्थित और संशयग्रस्त हो जाना स्वाभाविक है। न्यस्त स्वार्थों में उलझा आज का मनुष्य मानवी मूल्यों के प्रति विरक्त हो गया है। इस संदर्भ की भयानकता को अभिव्यक्ति देते हुए समीरजी कहते हैं, "आज के संदर्भ में किस आदमी का नाम लूं। हर संगठन फूटा हुआ। हर आदमी टूटा हुआ। हर आचरण जूठा हुआ। हर व्याकरण झूठा हुआ।" कवि का आहत मन, व्यथा चरमदशा में अनुभव करता है– "एक सत्य बेचकर झूठ मैं खरीद लूं। इसलिए कि झूठ आज जिंदगी का धर्म है।" इसी विपरीत परिस्थिति की भयावहता में कवि अनेक बार अपनी दिशा न खोज पाने के कारण, पराजय बोध से त्रस्त होकर कह उठता है–"दंगा हुआ चिंतन, बंधा हुआ लेखन। घुनी हुई मेधा, घुना हुआ जन-मन। किसको वचन दूं। किसको नयन दूं। खीझता है मुझ में बिंधा हुआ आदमी।"

राजनैतिक व्यंग्य नई काव्य-धारा का एक प्रमुख स्वर है। स्वतंत्र भारत में प्रत्येक स्तरों पर होने वाला मोह-भंग, दलीय राजनीति के कुचक्रों में पिसती हुई आम जनता की उपेक्षा, अन्यान्य योजनाओं की व्यावहारिक व्यर्थता, पूंजीपति, राजनेता और अमलातंत्र के षड्यंत्रों से शोषित सर्वहारा की पीड़ा, महानगर के यांत्रिक जीवन में मानवीय मूल्यों का निरंतर ह्रास, प्रदर्शित आदर्शों में निहित स्वार्थ परक संकीर्णता आदि पर समीरजी ने तीखा प्रहार किया है। वे अनुभव करते हैं– "रेखा भी बिन्दु से विरक्त हो गई। संघ शक्ति व्यक्ति में विभक्त हो गई।" वे अन्यत्र कहते हैं– "कुर्सी से उलझे प्रश्नों से। चिंतित हैं बैरागी भीत। अपनी झोली भर जाने तक। गाते हैं जनता गीत।" इस प्रकार के तीखे व्यंग्यों का स्वर पूरे संग्रह में सर्वाधिक उदग्र है। समीर जी के इन व्यंग्यों को आत्म-मंथन की पीड़ा को सहजता से देखा जा सकता है। कुछ स्थलों पर कवि भावी

निर्माण के प्रति संकल्पशील होने का प्रयत्न भी करता है, किन्तु यह स्वर अपेक्षाकृत मंद है।

समसामयिक यथार्थ जीवन-बोध को तार्किक संगति के साथ गीतों में अभिव्यक्त करना नवगीत-विद्या की बुनियादी शर्त है। 'समीर' जी ने अपनी अभिव्यक्ति में गीत की अनेक लयों और धुनों का उपयोग किया है। अनेक लोक-धुनों का सफल उपयोग नवगीत की संभावना संपन्न बनाता है। उनकी भाषाप्रवाहपूर्ण और समावेशक प्रकृति की है। 'समीर'जी ने अनेक गतिशील और संश्लिष्ट बिंबों से अपने गीतों को समृद्ध किया है। उनके प्रतीक–विशेष रूप से राजनैतिक प्रतीक–विचारों को उद्वेलित करने में समर्थ हैं।

इतना अवश्य कहना है कि दृष्टि की प्रतिबद्धता के कारण कृति में एकरसता उत्पन्न हो गई है। किसी रचनात्मक समाधान की अपेक्षा खीझ, झुंझलाहट और पराजयबोध का स्वर ही अधिक मुखर है। कहीं कहीं पर– "आओ गवार हूँ तुमको सँवार दूँ", "आओ नागर बोध करा दूँ", "आओ शासन-बोध करा दूँ" जैसी पंक्तियों में मसीहाई अंदाज भी प्रकट हुआ है। कुल मिलाकर यह संग्रह कवि की संभावना के प्रति आश्वस्त करता है।

– रामजी तिवारी

हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे ४११ ००७

– ३ –

ओदोलेन स्मेकल; **मेरी प्रीत तेरे गीत** (काव्य संग्रह); शान्तिकुञ्ज प्रकाशन, एं–२०/४, राणाप्रताप बाग, दिल्ली–११०००७; पृष्ठ सं. १४६, मूल्य : ५० रुपये.

डॉ. ओदोलेन स्मेकल चेकोस्लोवाकिया के एक ऐसे हिन्दी-सेवी विद्वान् हैं जिनकी बहुमुखी प्रतिभा और अथक परिश्रम की अनन्त समता पर हिन्दी को अभिमान होना स्वाभाविक है। वे विगत तीस वर्षों से प्राय: विश्वविद्यालय में एक प्राध्यापक के रूप में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के साथ ही अपनी मौलिक रचनाओं से उसे समृद्ध करते रहे हैं। अनुवादों के माध्यम से हिन्दी और चेक भाषा के परस्पर संबंधों को प्रगाढ़ बनाने का उनका प्रयास स्तुत्य है। प्रस्तुत काव्य-संग्रह **मेरी प्रीत तेरे गीत** न केवल उनके हिन्दी-प्रेम और हिन्दी-ज्ञान को प्रमाणित करता है अपितु भारतीय संस्कृति और भारत देश के प्रति उनके गहरे प्रेम को भी उजागर करता है।

इन कविताओं के संबंध में डॉ. स्मेकल की स्वीकारोक्ति है कि "अधिकांश कविताएँ भारत के प्रति मेरे गहरे प्रेम की अभिव्यक्ति हैं। इस कर्मभूमि से अनेक प्रत्यक्ष साक्षात्कार के फलस्वरूप इनमें मेरे भारतीय संस्कार–देश की गरिमा, आशा-निराशा, भूख, निर्धनता, दैन्य, भव्यता, सुख-दुःख तथा अन्य यथार्थ दर्शन–प्रविष्ट हुए हैं।" उनका यह प्रेम पर्यटक का मोह न होकर आत्मिक और स्थायी है। इन कविताओं में भारत के बाह्य परिवेश के साथ ही उसकी आंतरिकता को समग्रता से देखने का प्रयत्न किया गया है। दलित शोषित समाज के प्रति कवि की संवेदना एक भारतीय जैसी है। वे निराला की भाँति मजदूरिन को देखकर कह उठते हैं– "वह भारत की नारी। जिसके पसीने से। खिल उठे भारत में। कमल जैसे भवन। तो फिर। कैसे न करूं। ऐसी नारी का स्तव।" चौपाटी पर चने बेचने वाले बच्चे, कनाटप्लेस की भिखारिन, पान बेचने वाली बीमार बहन जैसे पात्रों का चित्रण कवि की मानवीय करुणा और आत्मीय सहानभूति का पुष्ट प्रमाण है। समुद्र के किनारे ठण्ड़ी हवा में उकड बैठे फेरीवाले बच्चे के प्रति कवि के उद्गार दर्शनीय हैं– "काश! गरजते सागर के किनारे। बने बगल में। प्रातः जाग उठते। किसी सैयापर। बेचारे।" डॉ. स्मेकल भारत की विकृतियों का चित्रण गहरे आत्मीय लगाव और आत्ममंथन की तीव्र वेदना के साथ करते हैं। यही कारण है कि विदेशी पर्यटकों को सावधान करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहते हैं– "भारत के पर्यटको। ज्ञात-अज्ञात। कलियुग वह घोटू माया। खींचना मत। उन नकारी दृश्यों की। दारुण छाया।"

डॉ. स्मेकल हिन्दी के निष्ठावान् उपासक हैं। वे उसे अपनी कर्म-भाषा मानते हैं। उसके विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार के आकांक्षी हैं। यही कारण है कि भारत में हिन्दी की अनिश्चित अवस्था और भारतीयों में व्याप्त अंग्रेजी के प्रति मोह उन्हें संक्षुब्ध कर देता है। उनकी अनेक कविताओं में यह भावना अभिव्यक्त हुई है। 'राज भाषा भारती' शीर्षक कविता में हिन्दी की शक्ति और उसकी वर्तमान स्थिति को बड़े प्रभावी ढ़ंग से चित्रित किया है। उनका स्पष्ट मत है कि "निष्प्राण हो गया वह सार्वभौम प्राणी। विदेशी बोली में प्रवीण। निजी माता की वाणी को। तुतलाता। लंगडे लूले तोते के समान।" उनका विश्वास है 'पुराने मालिकों की भाषा लादे हुए' यह देश विकास नहीं कर पायेगा। इसलिए स्वतंत्र भारत में भाषा की दासता मिटाने के वे भारतीय मित्र को गुह्यमंत्र देते हुए कहते हैं– 'मौन कर दो। अपने मन में उसे। जिसने तुम्हें। बदल दिया दास में।"

डॉ स्मेकल की जीवन दृष्टि आध्यात्मिकता और भौतिकता मध्यवर्ती समन्वित दृष्टि है। वर्तमान जीवन की भीषण चुनौतियों के बीच भी वे भावी संभावनाओं के प्रति निराश नहीं होते। वे मानते हैं– "प्राणों की कटुता में। नित बहता रहता। मधुमास।" जीवन-धर्म की प्रतिष्ठा करते हुए वे कहते हैं- "चार पुरुषार्थ कौन नहीं मानता। किन्तु धर्म की पूर्ति के लिए। मैं कर्म की स्तुति। प्रथमतः करता हूँ।" किन्तु उनके लिये कर्म की स्तुति का लक्ष्य भौतिक योग की उपलब्धि नहीं वरन् जीवन को चरम सार्थकता रहा है। इस सार्थकता को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं "जीते जी बन मुक्त चेता। बन अपरिग्रहवान्। जीते ही जीते अपना ले। संतुलित निर्वाण।"

काव्यत्व की दृष्टि से इन कविताओं में अनुभूति की गहनता निश्छल आत्मदान, तन्मयता, आत्म-मंथन के साथ प्रभावी व्यंजक उपकरणों का सुन्दर उपयोग किया गया है। गंभीर भावों को सरल भाषा में प्रभावी अभिव्यक्ति प्रदान करने का सामर्थ्य विशेष लक्षणीय है। कवि का प्रकृति-प्रेमी भावुक मन तन्मयता के क्षणों में मोहक बिंबों के विधान में अत्यन्त सफल है। प्रतीकों के माध्यम से विचारों को धार देने का उपक्रम भी ध्यातव्य है। अलंकारों की अनायास प्रस्तुति कहीं भी संप्रेषण में बाधक नहीं बनती। भाषा का प्रयोग अत्यंत उदार और व्यापक है। यत्र-तत्र विचलन की स्थितियों के बावजूद भी, यह स्मरण रखते हुए कि डॉ. स्मेकल एक चेक भाषी हिन्दी कवि हैं, उनकी-उपलब्धियाँ स्तुत्य हैं।

– रामजी तिवारी

हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

३६. **डॉ. विनोद शंकर**
दर्शन विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र (हरियाना)

४३. **डॉ. कैलाशपति मिश्र**
२७, दीनदयालनगर कालोनी
वाराणसी २२१००१.

४४. **डॉ. सुरेन्द्र वर्मा**
प्रिन्सिपल्स हाऊस
गवर्नमेन्ट कॉलेज
जावरा–४५६२२६

४५. **डॉ. ब्रजनारायण शर्मा**
दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर (म. प्र.)

४६. **श्री. यशदेव शल्य**
पी–५१, मधुबन पश्चिम
टोंक फाटक, जयपुर–३०२०१५
(राजस्थान)

४७. **डॉ. विजयकुमार सिन्हा**
१४३, अनुग्रहपुरी कालोनी
गया (बिहार)

४८. **डॉ. श्रीरंग संगोराम**
हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे ४११००७

साभार अभिस्वीकृति

कक्कड़, चन्द्रकान्ता; **सूनी राखी : कहानी संग्रह**; राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, १९८३; अजिल्द रुपये ११–००.

महता, जीवन; **कविता मेरे लिये : काव्य संग्रह**; राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, १९८२; अजिल्द रुपये १०–००.

जोशी, कैलाश; **चेतन अवचेतन**; राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, १९८२; अजिल्द रुपये ७–५०.

शर्मा, चन्द्रधर; संपादक, प्रकाश आतुर; **गुलेरी : व्यक्तित्व और कृति**; राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, १९८३; अजिल्द रुपये १२–००.

जैन, सागरमल; **जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १ व २**; राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, १९८२; अजिल्द रुपये ७०–००. हरेक भाग का

प्राकृतिक जगत्

'प्रकृति' शब्द का प्रयोग साधारणतः 'बाह्य जगत्' और 'स्वभाव' इन दो अर्थों में होता है। सांख्य ने इस शब्द का प्रयोग 'जगत्-स्वभाव' के अर्थ में किया है, जिसका विपरीत 'पुरुष' है जो चित्स्वभाव है। इस तरह सांख्य के अनुसार प्रकृति जड़ है। किंतु यहाँ हम सांख्य को आधार बनाकर नहीं चल रहे हैं और न प्रकृति का जड़ के रूप में निरूपण हमारा प्रयोज्य है। भारतीय दर्शन के अधिकांश सम्प्रदायों की प्रकृति विषयक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवधारणा 'अनात्म' है। हेगल[1] ने भी प्रकृति को इतर (अदर) के रूप में निरूपित किया है। किन्तु 'इतर' या 'अदर' 'अनात्म' से सर्वथा भिन्नार्थक है। इसमें भारतीय अवधारणा हमें हेगल की तुलना में अधिक अर्थगर्भ प्रतीत होती है (यद्यपि भारतीय दार्शनिकों ने आत्म में सब कुछ समाहित कर इसे अत्यधिक विपुलता दी है।) हेगल की अवधारणा एक सीमा तक सांख्य के 'पदार्थ' के अनुरूप है,[1] यद्यपि एक सीमा तक ही। किन्तु प्रकृति की अनात्म-रूप अवधारणा यहाँ हमारे लिए विशेष रूप से विचार्य नहीं है। प्रकृति प्रथमतः और सहज रूप से इन्द्रिय-गोचर प्रस्तुति का आधार तत्त्व है। सामान्यतः लोग इन्द्रियगोचर प्रस्तुति को ही प्रकृति कह देते हैं, [2] किन्तु 'इन्द्रिय गोचर' को यदि हम व्यापक अर्थ में भी लें, जिसमें अध्यवसाय भी सम्मिलित है, तो भी वह प्रकृति नहीं है, उसे प्राकृतिक कह सकते हैं। प्रकृति इसमें व्यक्त तत्त्व है। अवश्य वह तत्त्व इन्द्रिगोचर नहीं है, इन्द्रिय-गोचर संख्या और परिमाणवाले विशेष विषय होते हैं, प्रकृति अखंड और परिमाण को धारणा करने वाला अपरिमेय तत्त्व है। किन्तु यह इन विशेषों से उद्ग्रहण (एब्स्ट्रेक्शन) भी नहीं होती, इसीसे यह सामान्य भी नहीं होती, [3] यह विशेषों के साथ, उनके आधार-तत्त्व के रूप में, उतनी ही साक्षात् होती है जितने विषय। इस तत्त्व का क्या स्वरूप है?

इस प्रश्न को हम अगले लेख के लिये स्थगित कर यहाँ प्राकृतिक जगत् के स्वरूप पर विचार करेंगे। इसका स्वरूप क्या है?

इस प्रश्न के उत्तर की दो दिशाएँ हो सकती हैं : एक प्रामाण्य की दिशा और दूसरी वस्तु-स्वभाव-निरूपण की दिशा। प्रामाण्य की दिशा के अवलंबन पर विचार का केन्द्र मानव-चेतना हो जाती है और तब हम इस प्रकार के प्रश्नों के साथ अग्रसर होते हैं कि, इसका ही क्या प्रमाण है कि बाह्य जगत् सत् है ? अथवा " बाह्य जगत् ज्ञान-सापेक्ष होने से यह ज्ञान-विषय मात्र, और इस प्रकार प्रतिभास या आभास मात्र, ही नहीं है ? " और तब, जो स्वतः नहीं है उसके आभासित होने का हेतु ढूंढने का प्रसंग उपस्थित होता है, जिसके उत्तर में एक ओर बौद्ध, वेदांतिक और सांख्यीय आदि मत हैं और दूसरी ओर कांट, फिख्ते और शोपेन्हावर आदि के मत हैं, जिनके अनुसार प्रतिभास का हेतु वासना या संकल्प है। यद्यपि ये दोनों प्रकार के मत जगत् का आविर्भाव व्यक्ति-चित्त के विकल्प या संकल्प में नहीं देख कर अतिवैयक्तिक चित् या चित्त में देखते हैं, किंतु उनके दर्शन में विकल्प या संकल्प अतिवैयक्तिक चित्त में किस प्रकार उद्भूत या निहित हो सकते हैं, इस संबंध में पर्याप्त सन्तोषजनक विचार नहीं मिलता। एक तीसरे प्रकार का मत ईश्वरीय सृष्टि विषयक है। यह मत प्रकृति को एक नियतिमय (टीलियोलोजीकल) व्यवस्था के रूप में देखता है जिसका नियामक उससे इतर है। यह इतर आत्मचेतन प्रत्यय भी हो सकता है, और अनात्मचेतन प्रत्यय भी। अनात्मचेतन प्रत्यय किस प्रकार व्यवस्था का नियामक हो सकता है, यह एक अत्यन्त समस्यात्मक प्रश्न है, जिससे सृष्टि का ईश्वर-कर्तृत्व सूचित देता है, किंतु ईश्वर की कल्पना में यह एक अलंघ्य बाधा है कि इतर से व्यावृत्ति के बिना अस्मिता कैसे सम्भव है और अस्मिता के बिना कर्तृत्व कैसे सम्भव है ? **ऐतरेय उपनिषद्** में आत्म-चेतना का आविर्भाव इतर के साथ ही कहा गया है– आत्म-अचेतन तत्त्व आत्म और अनात्म के द्वित्व में आविर्भूत होता है– "असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मानं स्वयमकुत।" [३] यही कल्पना फिख्ते और शेल्लिग में भी है। किन्तु इन सबमें प्रकृति ही इतर है जो चैतन्य में आत्मचेतना के साथ ही आविर्भूत होती है। ईश्वरीय सृष्टि की कल्पना में प्रकृति ईश्वर का इतर नहीं है, वह प्रकृतितत्त्व (उपादान) है जो ईश्वर द्वारा प्रयुक्त है। सांख्य ने इसका एक दूसरा समाधान प्रस्तुत किया है, जो अद्भुत सूझ का परिचायक है। उसके अनुसार प्रकृति स्वरूपतः अपेक्षी तत्त्व है, उसका प्रत्यय तद्बाह्य है, किंतु वह प्रत्यय पुरुषगत नहीं है, वह प्रकृतिगत, पुरुषोल्लेखी है। ४

दूसरा मार्ग वस्तु-स्वभाव-निरूपण का है। यद्यपि यह मार्ग प्रथमतः अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, किंतु थोडा गहराई से देखने पर यह अपनी अगम्यता प्रकट कर देता है। वास्तव में कांट की स्वलक्षण या स्वगत वस्तु (थिंग इन-इट्-सेल्फ) की प्रपत्ति इसका एक उत्कृष्टतम दार्शनिक उदाहरण है। कांट को इसके

संबंध में यही श्रेय दिया जाना चाहिए कि उसने दर्शन की एक बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या को इतनी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया। कोई निरूपण विकल्पगत प्रत्ययों या प्रपत्तियों के बिना नहीं हो सकता और कोई स्वभाव अवधारण या प्रत्यय से विलगाया नहीं जा सकता। 'देशगतत्व' एक साथ भौतिक वस्तु-स्वभाव और भौतिक वस्तु-अवधारणा है, इसी प्रकार 'गोत्व' और 'मनुष्यत्व' हैं। कुछ दार्शनिक इन्हें केवल अवधारणाएँ और इस प्रकार सत्त्वतः निराधार मानते हैं, और दूसरे इन्हें बुद्धिगम्य वस्तुएँ। हमें इनमें पहला मत पूर्वाग्रह-ग्रस्त प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें एक मत केवल संवेद को वस्तु-प्रकाशन-समर्थ मानने वालों का है और दूसरा वस्तु को अगम्य मानने वालों का। किंतु केवल संवेद को ही वस्तु-प्रकाशक में भी वस्तु-स्वभाव का एक प्रकार का निर्धारण है, और अगम्य कहने में एक दूसरे प्रकार का निर्धारण है। यदि यह मानें कि "अगम्य" कहने में कोई निर्धारण नहीं है, तो वास्तव में यह अगम्य भी नहीं है, न गम्य ही है, तब उसके वस्तु-स्वभाव होने का प्रश्न भी उत्पन्न नहीं होता। यह बात कांट में स्पष्ट है— वस्तु-स्वभाव उसके अनुसार विषयता की कोटियों में अवधार्य नहीं है, किंतु संकल्प में वह प्रकाशित होता है। कांट यहां उसे 'संकल्प की कोटियों में निर्धार्य' भी कह देता है, जिसे यहाँ उत्प्रेक्षात्मक प्रयोग के रूप में ही देखना चाहिए। किन्तु विषयात्मक रूप से अनिधार्य अनवगम्य नहीं होता, जैसे डेकार्ट और शंकर का 'अहं' और शंकर का ब्रह्म अगम्य नहीं है, यद्यपि वे विषय-रूप कोटियों या अवधारणाओं के लिए अगम्य हैं। यही बात कांट की स्वलक्षण वस्तु (स्वतंत्र संकल्प) के लिए भी है।

वस्तु-स्वभाव की आदिकल्पनीयता के आधार में एक दूसरी बड़ी भ्रांति है, कि चित्त स्वयं वस्तु नहीं है, अथवा, वस्तु है किन्तु तब अपने स्वरूप में वह उसी प्रकार अविकल्पनीय (अनवधार्य) है जिस प्रकार अचैतसिक वस्तु या वस्तुएँ हैं। अब यदि चित्त वस्तु है और विकल्प चैतसिक हैं, तब विकल्पों को भी वास्तविक होना चाहिए, और यदि चित्त वस्तु नहीं है तब अवश्य विकल्प भी वास्तविक नहीं है, किन्तु तब ज्ञान या भ्रम के आधार भी नहीं हो सकते। इसका एक हल चित्त को विषयापेक्षा (इंटेंशन) के रूप में परिभाषित करके निकाला गया है, जिसके अनुसार चित्त वस्तु की अपेक्षा मात्र है। किन्तु यह हल वास्तव में चित्त और अचित्त दोनों को अवस्तु बना देता है और केवल चैतसिक को वस्तु-अपेक्षा के रूप में शेष छोडता है। यहाँ कहा जा सकता है कि अपेक्षा का विषय चैतसिक नहीं होता, वह अचैतसिक ही होता है; किन्तु यह सही नहीं है। अवश्य उसे ज्ञानात्मक दृष्टि से अचैतसिक कह सकते हैं, किन्तु सत्त्वतः उसे चैतसिक द्वारा

अचैतसिक का आक्षेप ही कहा जाएगा, उसे बाह्यात्मक प्रत्यय (आइडिया एक्स्टर्नेलाइज्ड) के जितना भी बाह्य नहीं कहा जा सकता।

किन्तु वेदान्त और कुछ बौद्ध दर्शन सम्प्रदाय अचित्त या अचैतसिक को चैतसिक का आक्षेप मात्र मानते हैं और स्वयं चैतसिक को भी मिथ्या मानते हैं। दूसरे शब्दों में, उनके अनुसार केवल चैतन्य ही सत् है, चित्त और अचित्त दोनों मिथ्या हैं। किन्तु कठिनाई यह है कि इस सत् और असत् दोनों के स्वरूप के लिए प्रमाण चैतसिक ही बनता है : उपाधि की निस्वभावता स्वयं उपाधि में ही अपने को प्रकट करती है। परिणामतः यदि इन मतों का स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी वस्तु-स्वभाव का निरूपण सम्भव नहीं है, केवल निस्वभाव (असत्) का निरूपण ही सम्भव है। इस प्रकार वस्तु-जगत् का निरूपण केवल निरूपण के– आत्मनिरूपण के– मार्ग से ही सम्भव है। किन्तु अंततः परिस्थिति यही होने पर भी निरूपण या ज्ञान अपने प्रथम प्रवर्तन में जिसका साम्मुख्य करता है वह आत्म-भिन्न निरूप्य या विषय ही होता है। उसकी सत्ता चाहे जो भी हो, उसका धर्म निरूपण-बाह्य ही प्रकट होता है – दूसरे शब्दों में, अर्थ (वस्तु) चाहे असत् ही हो, किन्तु अवभासित वही होता है। यहां हम इन अवभासित अर्थों पर ही, उनकी सत्यता-असत्यता के प्रश्न से निरपेक्ष, विचार करेंगे।

बाह्यार्थों में यद्यपि हमारी रुचि का अधिकतम और प्रमुखतम विषय मनुष्य ही होता है, उसके अनन्तर मनुष्यकृत उपकरण, उसके अनन्तर पशु-पक्षी, और वास्तव में भौतिक रूप में गृहीत नहीं होता, ग्रह-नक्षत्र यहां तक कि नदी-पर्वत भी, देवों के देहों के रूप में, अथवा कम से कम प्राण और चेतनावान् व्यक्तियों के रूप में, गृहीत होते हैं। बहुत से भारतीय दार्शनिक ही नहीं, ग्रीक दार्शनिक भी- प्लेटो पर्यन्त- ग्रह- नक्षत्रों को देवात्माओं के अधिवासों या देहों के रूप में ही देखते हैं। किन्तु तब भी, किसी प्रकार से, जब हम जगत् के सम्बन्ध में विचार करते हैं. तब उसकी भौतिकता ही हमारे विचार को अभिभूत करती है। वास्तव में अजैव प्रकृति की भी शुद्ध भौतिक के रूप में कल्पना अपेक्षाकृत बहुत बाद की बात है। किन्तु 'शुद्ध भौतिक' का क्या अर्थ है, यह भी अपने आप में कोई सर्वसम्मत तथ्य नहीं है। किन्तु यहाँ देशात्मकता या विस्तारात्मकता को इसका एक अनिवार्य धर्म मानकर आरम्भ कर सकते हैं। यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट और लॉक ने इसीको भौतिक का एकमात्र धर्म माना, कांट ने एक दूसरे प्रकार से इसकी पुष्टि की जब उसने बाह्य संवेदन का आकार देश को कहा। किन्तु भारतीय दर्शनों में पाँच प्रकार के बाह्य संवेदनों के अनुरूप भूतों के भी पांच प्रकारों की कल्पना की गई है, जो अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है। किन्तु तब यह प्रश्न

रह जाता है कि क्या इन पांच में कोई एकता है ? यदि नहीं है तो इन्हें एक वर्ग में किस आधार पर रखा जाता है ? यदि इसका उत्तर दिया जाय कि यह वर्गीकरण ज्ञानेन्द्रिय विषयता के आधार पर है, तब आगे यह प्रश्न हो सकता है कि पांच ज्ञानेन्द्रियों में क्या एकता है ? यदि उत्तर हो कि एकता विषयता (अपेक्षा) की है, तो यह विषयता अनुभूति (इच्छा, भावना आदि) और विचार में भी होती है, केवल इन्द्रियों में ही नहीं होती। दूसरा उत्तर हो सकता है कि एकता बाह्यता में है, अर्थात् जो विषय बाह्यता-धर्म से संयुक्त हैं वे भौतिक हैं, और इन विषयों की विषयता केवल इन्द्रिय-मूलक ही होती है। किन्तु तब शब्द स्पर्श, गन्ध और रस किस प्रकार बाह्यता से युक्त हैं ? यदि कहें कि शब्द का ग्रहण हमें बाह्यता के भाव के सहित होता है, तो यह उस प्रकार स्वतः स्पष्ट नहीं है जिस प्रकार रूप के सम्बध में यह स्पष्ट है। स्पर्श का अनुभव अवश्य कुछ अवस्थाओं में विस्तार और बाह्यता के साथ होता है, उदाहरणतः तर्जनी में सर्वाधिक, किन्तु शीत, गरम का अनुभव इस प्रकार नहीं होता। रस का अनुभव पूर्णतः अबाह्यात्मक होता है। यदि कहें कि यह अनुभव किसी रसदायक आधार-वस्तु के सहित होता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि इस वस्तु का बोध स्पर्शमूलक होता है, स्वयं रसास्वाद वस्तु-अपेक्षी नहीं होता। यह केवल रूप का अनुभव है जो स्पष्टतः और अनिवार्यतः दैशिक आकार के सहित होता है। इसीसे केवल यह प्रतिज्ञप्ति ही विश्लेषणात्मक है कि "कोई भी वस्तु यदि वह वर्णात्मक है तो वह विस्तारात्मक भी है", किन्तु यह प्रतिज्ञप्ति विश्लेषणात्मक नहीं है कि कोई भी वस्तु, यदि वह गन्धवान् है तो वह विस्तारवान् भी है। इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रिय-विषयों के लिए भी है, अर्थात्, विस्तार उनका स्वरूप धर्म नहीं है। इस पर यदि कहा जाय कि सब ज्ञानेन्द्रियाँ परस्पर निर्भर रूप में व्यापार करती हैं और मनुष्य में दर्शनेन्द्रिय मुख्य नियामक होती है, तो यह दार्शनिक युक्ति नहीं है, क्योंकि जन्मान्ध मनुष्यों में यह इन्द्रिय ही नहीं होती किन्तु तब भी उनमें विषय की बाह्यता का बोध होता है। इसके उत्तर में यदि कहा जाय कि कुछ स्पर्श बाह्यता और विस्तार के सहित होते है और ये जन्मान्ध व्यक्तियों में विस्तार और बाह्यता की अवधारणा के आधार बनते हैं, तो यह भी सही नहीं है, क्योंकि एक तो यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार से ही कोई स्पर्श घटित हो। यदि किसी व्यक्ति को पीठ के बल लिटाकर उसकी पीठ को संज्ञा-शून्य कर दिया जाय तब वह शीत-गरम का अनुभव बिना विस्तार के ही करेगा और न तब उसे अन्य इन्द्रियों से ही विस्तार का ग्रहण होगा। इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि यह स्वाभाविक नहीं है। यह सही है, किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि देश सब बाह्य संवेदनों का आकार नहीं है। यह केवल रूप

का आकार है और कुछ स्पर्शों का सहगामी है। इस पर भी यह कहा जा सकता है कि देश भौतिक वस्तु का मूल धर्म है, अथवा कहें भौतिकता और देशात्मकता पर्यायवाची हैं, और यह धर्म केवल दर्शनेन्द्रिय को ही सम्यक् रूप से प्रकट होता है। किन्तु यह सर्वथा दूसरी बात होगी और इसके लिए प्रमाण की अपेक्षा होगी, जो प्रमाण ज्ञानेन्द्रियमूलक अनुभव के विवेचन से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

वास्तव में बाह्यता रूप-रसादि मूलक और इस प्रकार इन्द्रिय विषयक नहीं होकर इनसे प्राक् होती है, यह चित्त की जगत्प्रवृत्ति में अन्तर्निहित भाव है जो स्वयं देह का भी हेतु कहा जा सकता है, अथवा कहें जो स्वयं इन्द्रियों के उपकरणों (आँख, कान आदि अंगों) से युक्त देह-रूप में व्यक्त होता है [५]। बाह्योन्मुखता का यह भाव ही इन्द्रिय-विषयों का आकलन बाह्य देश में करता है, उस देश का कोई निश्चित आकार भी आकलित हो, यह आवश्यक नहीं है। यह स्थिति अविकसित पाशव स्तर पर, अथवा हमारे शुद्ध स्पर्शमूलक देश-ग्रहण के स्वरूप पर विचार से अधिक स्पष्टता से देखी जा सकती है। कुत्ता दूसरे कुत्ते का शब्द सुनकर चौंकता है और सहज ही उसे बाहर किसी वस्तु (कुत्ते) में स्थानित करता है, पक्षी धमाका सुनकर भयभीत होता है और उस शब्द को बाहर स्थानित करता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि व्यष्टि-पक्षी धमाके का आकलन स्पष्टतः बाह्य देश में करता है, यह नहीं कहा जा सकता, सम्भवतः वह केवल उससे भयभीत होता है। किन्तु इस भय का मूल 'अन्य से आघात' के अभिज्ञान में ही होता है। इसलिए धमाके से भय अन्य से, अर्थात् अपने से बाहर किसी से आक्रमण के आगमनात्मक अभिज्ञान को पूर्वकल्पित करता है। यह अभिज्ञान व्यष्टिमूलक हो, यह आवश्यक नहीं है, यह आनुवंशिक अथवा सहज भी हो सकता है: केंचुआ भूख लगने पर भोजन अन्वेषणार्थ किसी व्यष्टिगत अभिज्ञान के बिना ही अग्रसर होता है। देश की उत्पत्ति का यही मूल है। अन्यथा न शब्द के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी दैशिक आकार में घटित हो और न भूख के लिए ही यह आवश्यक है कि उसकी संतुष्टि में किसी दैशिक आकारिक वस्तु का बोध हो। यही बात रस और गंध के लिए भी है।

यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि, हम वस्तुओं का बाहर साम्मुख्य करते हैं, और दूसरे कुत्ते के शब्द से चौंका कुत्ता अपने पिछले अनुभव से कुत्ते और शब्द का सम्बन्ध जानता है। यह सही है, किन्तु 'दूसरा कुत्ता' यहाँ रूप और स्पर्श गुणों की अधिष्ठानभूत वस्तु का वाचक है जिसे तीसरे एक और गुण (शब्द) का अधिष्ठान बनाया जा रहा है। अब यदि कुत्ता जात्या ही चक्षुविहीन होता तब भौंकने वाला कुत्ता यहाँ केवल स्पर्श का अधिष्ठान होता, जिसे शब्द से

और जोड़ा जा रहा है। किन्तु तब ऐसी स्थिति में कुत्ते को शब्द के अधिष्ठान-रूप में अबाह्य क्यों नहीं देखा जाता ? स्पर्श के लिए भी यह आवश्यक नहीं है कि उसका अधिष्ठान बाह्य ही हो। ऐसी स्थिति में, दुःख और इच्छा के, अथवा खुजली और पीड़ा के एक ही अबाह्य अधिष्ठान के ग्रहण के समान कुत्ते का भी शब्द और स्पर्श का अबाह्य अधिष्ठान अन्य कुत्ता नहीं होता, वह स्वयं होता है। यह सही है, किन्तु इससे केवल यही सिद्ध होता है कि अन्य कुत्ते की बाह्य ज्ञान-विषय-रूप में उपस्थिति मेरी बाह्योन्मुख प्रवृत्ति के कारण है, जो प्रवृत्ति संवेदों का संयोजन बाहर देश में करती है, यह स्पर्श संवेद-विषय का धर्म नहीं है। अब यदि यह बात सही है तब इस देश का आकार भी बाह्योन्मुखता के क्रियान्वयन की विधा के अनुसार ही निर्धारित होगा, जो विधा अंततः चेतना की जगद्भाव में आत्माभिव्यक्ति की विधा से निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए दर्शनेन्द्रिय सहित और उससे रहित जीवों के देश का आकार समान नहीं हो सकता। यही बात अन्य इन्द्रियों के लिए भी सही है। और यह द्रष्टव्य है कि भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न इंद्रियां प्रमुख होती हैं और इस प्रमुखता के अनुसार ही जगद्भाव की विधाएँ भी भिन्न-भिन्न होना अनिवार्य है। यह द्रष्टव्य है कि मनुष्य में देश का निर्धारण पाशव निर्धारणों से बहुत मौलिक रूप से भिन्न होता है, जिसका कारण मनुष्य की विषय-ग्रहण वृत्ति की आवेग और वासना से पर्याप्त स्वतंत्र होने की सामर्थ्य है। किन्तु तब भी हमारा विषय-मूलक देश-ग्रहण किस सीमा तक विषीयमूलक आग्रहों से निर्धारित होता है, यह हम अंशतः एक ही दृश्य के अनभ्यस्त ग्रहण और कलाकार द्वारा ग्रहण में तुलना से देख सकते हैं।

यहाँ चेतना मूलक सृजन के हमारे मूलगामी सिद्धान्त का कुछ और विशदीकरण आवश्यक है। हमारे उपर्युक्त प्रतिपादन के अनुसार हमारा इन्द्रिय-विषय-ग्रहण चेतना की बाह्योन्मुख प्रवृत्ति का परिणाम है, क्योंकि अन्यथा ऐन्द्रिय संवेदों का संयोजन बाह्य विषय के रूप में होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि स्वयं संवेदनों में, चाक्षुष संवेदनों को छोड़कर, ऐसा कुछ नहीं है कि वे अधिष्ठान के रूप में किसी बाह्य वस्तु की अनिवार्यतः अपेक्षा करें। तब देह में इन्द्रिय-द्वारा या उपकरण (आँख, कान आदि) भी इसी प्रवृत्ति के परिणाम होने चाहिए, क्योंकि उपकरण केवल प्रयोजनोपकार के लिए ही अस्तित्व में आते हैं। इस के अतिरिक्त, स्वयं देह भी केवल बाह्योन्मुख वृत्तिता को ही प्रदर्शित करती है, मानों इस प्रवृत्ति ने अपने क्रियान्वयन के लिए ऐसे उपकरण का आविष्कार किया हो जो बाह्यता के नियोजन के लिए बाह्यात्मक क्रिया का केन्द्र हो सके। देह को 'बाह्याभिसारी चेतना' के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है, क्योंकि बाह्योन्मुख प्रवृत्ति के संतोष के लिए बाह्याभिसरण अनिवार्य है और बाह्याभिसरण के लिए बाह्यता के बीच स्थित

बाह्यता, अर्थात् ऐसी स्थिति अनिवार्य है जो अपने को सबसे और सबको अपने से, बल्कि अपने को अपने से भी, बाहर रख सके। इसके लिए देशगत सीमित अस्तित्व है। यह दशा केवल मूर्त (भौतिक) माध्यम से ही प्राप्त हो सकती है, क्योंकि अमूर्त या अदैशिक स्वभावतः बहिष्कारक नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए विचार को लें। विचार चेतना की एक दूसरे प्रकार की सीमित या अवच्छिन्न अभिव्यक्ति है, जैसा कि उस की अनिवार्य द्वन्द्वात्मकता से प्रकट होता है। किन्तु यह अवच्छिन्नता भाषा के सहारे ही अस्तित्व ग्रहण करती है, जो अंशतः भौतिक है, और उसी अंश तक विचार भी सीमितता या अवच्छिन्नता से उपहित होता है। विचार द्वारा एक द्वन्द्व का व्यापकतर द्वन्द में अतिक्रमण और स्वयं अपने अतिक्रमण की सामर्थ्य, जिसका उल्लेख हमने पहले लेख में किया था, सीमा की इसी आंशिकता के द्योतक हैं। किन्तु मूलतः विचार भी बाह्यता की प्रवृत्ति के पोषक के रूप में ही उत्पन्न होता है: ऐन्द्रिक ग्रहण का स्वतंत्र बाह्यार्थ के रूप में सम्यक् रूप से निर्धारण अध्यवसाय के द्वारा ही होता है। इन्द्रियों में दर्शनेन्द्रिय बाह्यात्मक ग्रहण में सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि इसका विषय स्पष्टतः दैशिक आकार से युक्त होता है, और विचार इस प्रवृत्ति की पराकाष्ठा है, क्योंकि केवल यही सभी इन्द्रिय-विषयों का दर्शननेन्द्रिय द्वारा गृहीत देश में स्वतंत्र बाह्य वस्तु के रूप में निश्चय करता है।

किन्तु वस्तु की बाह्यता और स्वतंत्रता अपनी पूर्णता तब प्राप्त करती है जब वह पूर्ण रूप से विचार को समर्पित हो जाती है और ऐन्द्रिकता से मुक्त हो जाती है। वास्तव में इन्द्रियविषयक बाह्यता विषयनिष्ठ धर्म नहीं होकर प्रवृत्तिमूलक भाव ही होती है। विषय-धर्म के रूप में बाह्यता अध्यवसाय के द्वारा ही आविर्भूत होती है, जो विषय को चेतना से पृथक् ग्राहक के विरुद्ध ग्राह्य के रूप में स्थिर करता है। अध्यवसित इन्द्रिय-गोचर वस्तु का तत्त्व इन्द्रिय-अगोचर, और शुद्ध विचार-गोचर भौतिकता है जो रूप-रस-गन्ध आदि से रहित है। इसका देश अवश्य दर्शनेन्द्रिय-गम्य देश के तारतम्य में होता है, किन्तु तब भी उससे अत्यधिक दूराकृष्ट होता है: यह पूर्णतः ज्यामितिक है, जिसमें रूप का लेशमात्र भी अग्राह्य होता है। बिन्दु और रेखा की यूक्लिडीय परिभाषा इसका स्पष्ट प्रमाण है।

यहाँ भौतिक वस्तु-विषयक ज्ञान के चार स्तर देखे जा सकते हैं—(१) ऐकेन्द्रिय विषयक, (२) इतरेन्द्रिय-समर्थित, (३) अध्यवसाय विनिश्चित इन्द्रिय-विषयक और (४) निरिन्द्रिय अध्यवसायगत आत्मविमर्शमूलक। यह स्तर-क्रम वस्तु के विषयी से स्वतंत्र स्वरूप-विनिश्चय का क्रम है। किन्तु जैसे-जैसे हम इसमें विषयी से स्वतंत्र होते जाते हैं वैसे-वैसे विशेष से सामान्य की ओर तथा मूर्त और ठोस से अमूर्त और अगोचर की ओर अग्रसर होते जाते हैं। यह क्रम एक ओर

विषयिनिष्ठता से मुक्ति का है और दूसरी ओर प्रत्यक्ष से विकल्प की ओर अग्रसरता का। अब, यदि इन्द्रिय बाह्य वस्तु की साक्षात्कारक है तब अध्यवसाय, और उसके आगे आत्मविमर्शी अध्यवसाय (रीफ्लेक्टिव जज्मेंट) अवस्तु-विषयक होगा, और यदि अध्यवसाय वस्तु-ग्राहक है तब इन्द्रिय वस्तु-संकेतक भले ही मान ली जाय किन्तु वह वस्तु-ग्राहक किसी भी प्रकार नहीं मानी जा सकती। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को साक्षात्कारात्मक कहने वाले दार्शनिक, जैसे दिङ्नाग, इसमें एक छोर पर हैं और भौतिक विज्ञान को वस्तु-प्रापक कहने वाले दार्शनिक दूसरे छोर पर। यहाँ कांट बीच की भूमि पर है, और वह इन्द्रिय तथा अध्यवसाय दोनों को संयुक्त रूप से प्रतिभास कहता है, जिसमें प्रतिभासित बाह्य वस्तु होती है। किन्तु तब भी, यदि उसे कटघरे में खड़ा किया जाय तो वह कहने को बाध्य होगा कि इन्द्रिय वस्तु के निकटतम होती है। किन्तु दूसरी ओर वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष जैसा कोई ज्ञान या ग्रहण नहीं मानता, उसके अनुसार संवेद देश या काल के आकार, संवेद-समन्वय (एप्पर्सेप्शन) और विकल्प इन तीनों के बिना घटित नहीं होते, वे सायुज्य में ही घटित होते हैं, जैसे गाय व्यक्ति-जाति सायुज्य के बिना अस्तित्व में नहीं आती।

स्पष्टतः कांटीय समाधान सत्ता-विषयक नहीं होकर ज्ञान-विषयक है। सत्ता-विषयक इसे इसी रूप में कहा जा सकता है कि इसके अनुसार ज्ञान के लिए सत्ता सब प्रकार से अगम्य है। वास्तव में यदि हम ज्ञान को इस प्रकार ही परिभाषित कर लेंगे कि वह संवेद के आगे नहीं जा सकता, जबकि वस्तु उसके परे है, तब यह केवल पुनरुक्ति मात्र है कि ज्ञान का विषय प्रातिभासिक होता है, सत्ता नहीं होती। किन्तु जो मार्ग कहीं पहुँचता ही नहीं उसके अवलंबन का औचित्य ही क्या, यदि उद्देश्य केवल भ्रमण ही नहीं हो तो ?

किन्तु अन्य मार्ग भी कोई सहज प्रशस्त नहीं हैं। यदि बाह्यता को केवल बाह्यात्मक प्रवृत्ति का परिणाम मान लिया जाय और बाह्य वस्तुओं को इस प्रवृत्ति द्वारा जनित इन्द्रिय और अध्यवसाय का परिणाम, तब भी स्थिति में कोई मौलिक अन्तर नहीं आता, क्योंकि तब हम वस्तु को पूर्णतः खो बैठते हैं। तब दूसरा मार्ग क्या है ?

वास्तव में हमारे समाधान के प्रयत्न का मार्ग स्वयं प्रयत्न की वस्तुता की दिशा में है : जगद्भाव सत् चैतन्य में सत् प्रवृत्ति है और यह प्रवृत्ति इन्द्रिय और बुद्धि के माध्यम से भौतिक वस्तुजगत का सर्जन करती है। किन्तु यह समाधान आकारिक दृष्टि से अपर्याप्त नहीं होने पर भी उसी प्रकार असन्तोषजनक प्रतीत होता

है जिस प्रकार वर्ण्य व्यक्ति के निश्चय के अभाव में वर्णन प्रतीत होते हैं। भौतिक सत्ता इस अर्थ में बाह्य है कि यह चित् के सम्मुख उसकी इच्छा-अपेक्षा के बिना स्वतः प्रस्तुत होती है और उसकी इच्छा-अपेक्षा के अनुसार वहाँ से नहीं हटती। इसके अन्य सब गुण-धर्म---रूप-रसादि और देश-कालादि--- चैतन्य में अन्तर्भूत (अपचयित–रिड्यूस) किये जा सकते हैं किन्तु यह धर्म (अनपवार्यता) इस प्रकार अपचयित नहीं किया जा सकता। किन्तु यह प्रपत्ति सही नहीं है, क्योंकि यह सही होने पर भी, कि ऐन्द्रिक विषय का आविर्भाव और तिरोभाव ग्राहक की इच्छा के अधीन नहीं होता, यह स्थिति उस विषय को चित् से स्वतंत्र प्रतिष्ठा नहीं दे देती, क्योंकि स्वय इच्छा और विचार का भी आविर्भाव स्वतः और अनपवार्य होता है। यदि कहा जाय कि इच्छा और विचार भी प्राकृतिक हैं, तो यह तर्क अपुष्ट है, क्योंकि "प्राकृतिक" और "भौतिक" एक ही बात नहीं है, इच्छा और विचार प्राकृतिक तो हैं किन्तु भौतिक नहीं हैं, और यहाँ हम भौतिकता पर विचार कर रहे हैं। यदि यह कहा जाय कि इच्छा और विचार का अविर्भाव मानसिक अभ्यास से रोका जा सकता है, तो संवेद विषय का आविर्भाव भी सम्पर्क हटाकर रोका जा सकता है, और अवधान नहीं होने पर वह अग्राह्य होता ही है।

किन्तु इस प्रसंग में मौलिक महत्त्व की बात यह है कि निर्विकल्पक इन्द्रिय-विषय में प्रस्तुति का नाविन्य तो होता है किन्तु बाह्य अनिवार्यता नहीं होती, क्योंकि बाह्यता और अनिवार्यता वस्तु-विनिश्चय के अंग होते हैं और परिणामतः अध्यवसाय के विषय होते हैं। किन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इन्द्रियगम्यता भौतिकता का कोई मौलिक धर्म नहीं है, भौतिक विज्ञान उसे इससे परिभाषित नहीं करता। इसका मूल धर्म सम्भवतः अचैतसिक जड़ता को कहा जा सकता है और तदनुसार मूल लक्षण आन्तर-राहित्य अथवा नितांत बहिर्भाव को, तथा समान्यात्मकता, और पारिमाणिकता को कहा जा सकता है। वास्तव में दूसरा लक्षण पहले से आपादित होता है, क्योंकि विशिष्टता स्वगत धर्म के रूप में भौतिक नहीं होकर चैतसिक, या कहें प्रत्ययमूलक, होती है। उदाहरण के लिए दो प्रस्तर-खंडों में, अथवा प्रस्तर और स्वर्ण में, कोई मौलिक भेद नहीं है, दो प्रस्तर-खंड उस प्रकार एक जाति के दो व्यष्टि नहीं होते जिस प्रकार दो गायें एक जाति की दो व्यष्टि होती हैं, अथवा दो घट एक धर्म से अधिष्ठित दो व्यष्टि होते हैं; वे केवल इस बात में भिन्न होते हैं कि वे अपने बीच दैशिक अवकाश से पृथक्कृत होते हैं। इससे एक प्रस्तर-खंड को तोड़कर कभी भी दो बनाये जा सकते हैं, किन्तु न घट को तोड़कर दो घट बनाये जा सकते हैं और न गाय को काटकर दो गायें बनायी जा सकती हैं। प्रस्तर और स्वर्ण में प्रकटतः बहुत भेद

होने पर भी तत्त्वत: केवल मात्रा भेद है, इनके मालीक्यूल्स में केवल परमाणु-भेद है, जिनमें पुन: संख्या-भेद मात्र है।

किन्तु भौतिकता के चाहे कोई भी धर्म और गुण माने जाय, यदि इसे ज्ञान-विषय के रूप में परिभाषित किया जाता है तब यह ज्ञान में अन्तर्भूत (अपचयित) हो जाती है और यदि ज्ञान-विषय के रूप में परिभाषित नहीं किया जाता है तब इसका कोई निरूपण या परिभाषा सम्भव ही नहीं हो सकती। ऐसा इसलिए है क्योंकि भौतिक वस्तु आन्तर-रहित होती है, और आन्तर-रहित होने से यह या तो ऐन्द्रिक ग्रहण में अशेष्य हो जाती है, अथवा बौद्धिक ग्रहण में, अथवा दोनों में संयुक्त रूप से। और इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ता कि हम ऐन्द्रिक को केवल बाह्य लक्षण या विषयिमूलक गुण मानकर केवल बौद्धिक को ही वस्तु-मूलक मानते हैं, याकि दूसरे को विषयिमूलक उपचार (आरोप) मानकर केवल प्रथम को वस्तु से सम्बन्धित करते हैं, याकि दोनों को वस्तु पर बाह्यारोप मानते हैं, याकि भौतिक को अवस्तु मानकर इन दो से, अथवा इनमें दूसरे से, उत्कृष्ट मानते हैं। भौतिक में जो इन दोनों से अतिरिक्त शेष रहता है और जो इनमें अन्तर्भाव्य नहीं है वह है ज्ञान से बाहर देश में सत्ता, जिसका मूल चित्त की जगत्-प्रवृत्ति में है।

किन्तु इस अत्यन्त सामान्यात्मक निरूपण के उपरान्त बहुत कुछ है जो भौतिक जगत् के सम्बन्ध में निरूपणीय है, उदाहरण के लिए विभिन्न भौतिक वस्तुओं का अपना वैलक्षण्य। वास्तव में 'भौतिक वस्तु' के साथ बहुवचन का प्रयोग उस प्रकार उपयुक्त नहीं है जिस प्रकार निर्मित वस्तुओं– घट, मेज, आदि– के साथ, क्योंकि भौतिक जगत् में व्यष्टिता या वैयक्तिकता नहीं है। किन्तु भौतिक जगत् में संरचनाएँ (स्ट्रक्चर्स), संस्थान (पेटर्न्स) और गतियाँ हैं जो एक नियम और व्यवस्था को प्रकट करती हैं। प्रस्तरों, धातुओं आदि में अवलोक्य विभिन्न संरचनाओं, ग्रहों-नक्षत्रों तथा परमाणुओं में अवलोक्य विभिन्न संस्थानों और गतियों में एक स्वायत्त क्रियाकारित्व एक या विभिन्न नियमों के अधीन है। वास्तव में जगत् के इस आयाम की नियमाधीनता इतनी पूर्ण और इतनी सुघड है कि शुद्ध तर्क के अतिरिक्त केवल भौतिक तत्त्व-विषयक विज्ञान ही इतने पूर्ण नियम की खोज की आशा कर सकता है। यह कहना कि मानव-बुद्धि भौतिक जगत् पर नियम का आरोप करती है, अयुक्ति-संगत है। ऐसा इस आधार पर कहा जाता है क्योंकि एक तथ्य की व्याख्या विभिन्न सिद्धान्तों के अनुसार की जा सकती है। भौतिक विज्ञान के विकास के इतिहास को इस रूप में भी देखा जा सकता है कि गैलिलियो, न्यूटन और आईन्स्टाईन के सिद्धान्त वैकल्पिक व्यवस्थाएँ हैं जिनमें से एक दूसरी को सौष्ठव और लाघव के आधार पर विस्थापित करती है, सत्य के दावे के

आधार पर नहीं। एक प्रकार से अध्यवसाय और विकल्प को उपचार कहने के पीछे भी इसी प्रकार की धारणा कही जा सकती है। वास्तव में, युक्ति, अध्यवसाय, और विज्ञान मानव-बुद्धि के साथ ही आविर्भूत हुए हैं, जिस प्रकार रूप आँख के साथ और गंध घ्राण के साथ आविर्भूत होती है। मनुष्य से पूर्व कहीं नियम का ग्रहण नहीं है, सिवाय व्याप्ति के, जो वास्तव में नियम न होकर प्राणिक सुविधा-धर्म (एनिमल फेथ) है।

यह सब एक अंश तक सही है, किंतु यह मूलतः भ्रान्ति है। यह कहना अधिक युक्त है कि आँख का आविर्भाव सत्ता के एक आयाम का उद्घाटन करता है, जो इसके बिना अव्यक्त या ढंका पड़ा रहता है। इसके पीछे हमारी युक्ति यह है कि दर्शनेन्द्रिय की विद्यमानता या उसका आविर्भाव संदिग्ध नहीं है और परिणामतः इसकी सत्ता भी असन्दिग्ध है। परिणामतः यह सत्ता के एक आयाम का आविर्भाव है। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि, यहाँ प्रश्न दर्शनेन्द्रिय का नहीं, दृश्य रूप का है। इसके लिए हमारा उत्तर है कि दृश्य रूप और दर्शनेन्द्रिय दोनों का आविर्भाव समान रूप से जगत्भाव या बाह्योन्मुखता की वासना से होता है– आँख व्यक्ति-देह में होती है और दर्शनेन्द्रिय भी व्यक्तिमूलक होती है, किंतु ये दोनों अधिकांश जीवों में समान रूप से हैं, इसलिए इनका अस्तित्व व्यक्तिमूलक होने पर भी इनका तत्त्व या सत्ता व्यक्ति के साथ युगपद् है, अर्थात् दर्शनेन्द्रिय, आँख, देह और व्यष्टित्व एक ही आद्य जगद्भाव के उन्मीलन हैं और उसीका उन्मीलन दूसरे पक्ष में दृश्य रूप है। यही बात भौतिक नियम और नियमग्राही बुद्धि के लिए भी सत्य है। इनमें नियम बुद्धि का आरोप नहीं है, बल्कि दोनों चित्-सत् के युगपत् आविर्भाव हैं, और सत् हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राणि जगत् से पहले भौतिक जगत् नहीं था और मनुष्य से पहले भौतिक जगत् में नियम नहीं था। यह कहना ऐसा ही होगा जैसा यह कहना कि प्राणि-लोक की उत्पत्ति से पहले इसकी कारणभूत मूल वासना नहीं थी। लोक यदि वासना का क्रियान्वयन है तो वह क्रमिक ही हो सकता है। इस लोक का स्वरूप भी ऐसा ही है कि इसमें क्रियान्वयन तत्काल नहीं हो सकता, केवल क्रमिक ही हो सकता है। इसे विचार को उदाहरण से समझा जा सकता है— (१) मैं या तो गलत विचार करता हूँ, या सही विचार करता हूँ। इसका अर्थ है कि विचार की प्रामाणिकता स्वयं मेरे विचार में अन्तर्भूत नहीं है। (२) जब मैं सही विचार करता हूँ तब भी विचार्य का ग्रहण क्रमिक ही होता है, यद्यपि स्वयं विचार का विषय कालात्मक नहीं होता, वह काल-बाह्य होता है। यही बात जगद्वासना के सम्बन्ध में है, यह एक साथ ईरण और प्रत्यय है और

स्वरूपतः काल बाह्य है, किन्तु इसके द्वारा क्रियान्वयन के आयाम का वरण ऐसा है जो केवल क्रमिक रूप से ही सम्भव है। इस प्रकार जब कि प्राणी की उत्पत्ति से पहले भी जगत् बाह्यात्मक प्रत्यय रूप में अरूप-अनाम था, इस प्रत्यय के आगे क्रियान्वयन के क्रम में रूप और नाम का आविर्भाव इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषय के रूप में और अध्यवसायात्मिका बुद्धि और अध्यवसेय वस्तु के रूप में हुआ। यहाँ इस बात को दुहराना अस्थाने नहीं होगा कि विषय-विषयी की कल्पना या आक्षेप नहीं है, क्योंकि ये दोनों एक ही क्रियान्वयन के दो पक्ष हैं, और विषयी-पक्ष जबकि व्यष्टि रूप में विभक्त होता है, विषय पक्ष चैतन्य में बुद्धि-तत्त्व के विकास के अनुसार क्रमशः सामान्यता और अनिवार्यता की ओर अभिक्रमित होता जाता है और इसके माध्यम से विषयी सीमितता और व्यष्टिता से मुक्त होता जाता है। विषय-ग्राह से मुक्त चित्त का विषय के साथ पुनः सामरस्य प्राप्त करना है। किंतु अब इस सामरस्य को वह आत्म-स्वातंत्र्य में प्राप्त करता है, विषय के तंत्र में नहीं।

भौतिक प्रकृति में सामान्यता का यह दर्शन, अथवा कहें भौतिक प्रकृति का सामान्य नियमों की व्यवस्था के रूप में यह रूपान्तरण, इन्द्रिय-वृत्ति पर बुद्धि-वृत्ति की विजय है। किंतु प्रकृति से संपर्क का सूत्र तब भी इन्द्रिय ही रहती है। ऐन्द्रिकता से पूर्ण मुक्ति प्राकृतिक विषयता के लिए सम्भव नहीं है, केवल यह गौण से गौणतर हो जाती है। वास्तव में भौतिक विज्ञान में इन्द्रिय-विषय सामान्य नियम में ही अन्तर्भूत रहता है, किन्तु तब भी नियम सत्ता से सम्पर्क-सूत्र के रूप में इसी का आश्रय लेता है।

किन्तु जैसा कि हमने पीछे संकेत किया, भौतिक प्रकृति का अध्यवसाय के अधीन इन्द्रिय-विषय मात्र के रूप में ग्रहण स्वयं मानव इतिहास में भी बहुत की बाद की स्थिति है। उससे पूर्व यह अलौकिक चेतन सत्त्वों से अनुप्रविष्ट विशेष सत्त्वों (प्रस्तर, पर्वत, नदी, ग्रह, नक्षत्र आदि) की धातु महत्तर और दिव्य सजीव सत्त्व ही थी। शुद्ध इन्द्रिय-विषयता में उसका रूपान्तरण वास्तव में साथ ही इसके निर्विशिष्ट नियमता में रूपान्तरण का आधार भी बना। विशिष्ट स्वतः सामान्य का एक उदाहरण मात्र होता है, जब तक चित्त विशिष्ट को उसके अपने आधार से उद्गृहीत कर अपने में समाहित नहीं कर लेता। यही कारण है कि दिङ्-नाग का निर्विकल्पक विषय केवल बुद्धि को ही गम्य हो सकता है, अंशतः अत्यन्त अभ्यस्त कलाकार को भी हो सकता है, किन्तु अध्यवसाय-सामर्थ्य से शून्य पशु को नहीं हो सकता।

इस प्रकार प्रकृति का भौतिक के रूप में ग्रहण वास्तव में प्रकृति के विषय-ग्राह से अंशतः विमुक्त चित्त का विषय-ग्रहण है। किन्तु इसमें भी स्तर-भेद हैं। प्रथम स्तर पर दृश्य या स्पृश्य रूप से पृथक् कोई भी प्रस्तर खंड पृथक् वस्तु के रूप में ही ग्रहण किया जाता है, और कम से कम एक सीमा तक व्यष्टित्व से आरोपित भी किया जाता है। व्यष्टि का अर्थ है इतर से व्यावृत्त आत्मतंत्र व्यवस्था। इस प्रकार वह वस्तु (प्रस्तर खंड) आत्मतंत्र रूप में कल्पित की जाती है। उदाहरणतः विभिन्न ग्रहण, नक्षत्र, यह नदी, वह पर्वत, और यह प्रस्तर ये सब इस स्तर के विषय-ग्रहण के लिए व्यष्टि होते हैं। अवधारणा के इस स्तर पर ये 'देवात्माओं' से युक्त भी देखे जाते हैं। यह तथ्य हमारे उपर्युक्त कथन की और पुष्टि करता है। इनके विपरीत दार्शनिक लोग हैं जो प्रत्यक्ष ज्ञान पर विचार के प्रसंग में घट, पट आदि को उसी प्रकार देखते हैं जिस प्रकार प्रस्तर-खंड को। किन्तु प्रस्तर खंड जब कि प्रत्यक्ष गम्यता में निश्शेष, आन्तर-रहित, अथवा कहें पूर्णतः बहिर्भूत, वस्तु (प्रत्यय) है, पेड़ और घट अपने अन्तर्गत प्रत्ययों से निर्धारित व्यवस्थाएँ हैं, ये प्रत्यक्ष-गम्यता में निश्शेष व्यवस्थाएँ नहीं है।[६] जैसा कि ऊपर कहा गया, प्रत्यक्षगम्य वास्तव में एक और नितान्त विशिष्ट होता है : इन्द्रिय-विषय होने से, और दूसरी ओर वह नितान्त सामान्य में अन्तर्भुक्त होता है : आन्तर-शून्य होने से। इसके विपरीत व्यष्टि में सर्जनात्मक प्रत्यय व्यक्त होता है और इस प्रकार वह प्रेरणा, कल्पना और भाव्यता से अन्तर्गर्भ होता है। इन्द्रिय-गोचरता इसके लिए भी अनिवार्य होती है, किन्तु वह इसमें निश्शेष नहीं होता, यह वास्तव में भौतिकता के एक नितान्त भिन्न स्वरूप को प्रकट करता है : इसमें चैतन्य भौतिक का, उसके भीतर से, उसकी उपादान और उपकरण स्वरूपता में साक्षात्कार करता है। उदाहरणतः घट को लें। यह जबकि मिट्टी का एक पिंड भी है, यह पिंडत्व इसका तत्त्व नहीं है, इसका तत्त्व प्रयोजन-प्रत्यय है जो मृत्तिका-पिंड के माध्यम से आकारित या व्यक्त हुआ है। इसे एक प्रयोजन-प्रत्यय का देहावतरण भी कह सकते हैं।

यह घट घटत्व सामान्य का एक उदाहरण है, किन्तु यह सामान्य प्रस्तरत्व या काठिन्य के समान सामान्य नहीं है जो विशिष्ट के पक्ष से मात्र उद्ग्रहण (एब्स्ट्रेक्शन) और इस प्रकार कल्पना मात्र है, और दूसरी ओर विचार के पक्ष से वह सब कुछ है जिसका कोई भी काठिन्य या कोई भी प्रस्तर-खंड एक उदाहरण मात्र है। घटत्व इनके विपरीत एक रचनात्मक और भाव्यात्मक प्रत्यय है जिसके क्रियान्वयन या अभिव्यक्ति के क्रम में घट-व्यष्टियों (विशेषों से भिन्न) का आविर्भाव होता है और प्रत्येक घट स्वयं में भाव (सत्) होने पर भी इस प्रत्यय

के प्रसंग से भाव्यात्मक और इस प्रकार अपर्याप्त होता है। कठिन या प्रस्तर काठिन्य या प्रस्तरत्व का आविर्भाव नहीं है, कठिन युगपद रूप से कठिन और काठिन्य है और प्रस्तर मात्र प्रस्तरत्व और अंततः भौतिकत्व है। कठिन-काठिन्य को युगपत् (उभय) कहने का औचित्य यह है कि कठिन संवेदनागत विषय मात्र (कांटेंट आफ सेंसेशन) है जो, यद्यपि ग्राह्य होने के लिए चैतसिक समन्वय (युनिटी आफ एप्पर्सेप्शन) की अपेक्षा करता है किन्तु काठिन्य के ग्रहण की अपेक्षा नहीं करता। काठिन्य कठिन की धर्मता का बौद्धिक या अध्यवसायात्मक ग्रहण है, जो कठिन पर निर्भर रूप में उद्ग्रहण (एब्स्ट्रेक्शन) और स्वतंत्र रूप में संवेदनागत वस्तु के तत्त्व का सक्षात्कार है जिसका विशिष्ट वस्तु (संवेद-प्रदत्त) एक पूर्णतः सम्यक् उदाहरण है : कठिन-धर्मता कठिन संज्ञा या ज्ञप्ति से सम्यक्तर नहीं हो सकती, किन्तु इनमें व्याप्ति-भेद है जो स्वरूप-भेद के कारण है। कठिन संज्ञानात्मक या वेदनात्मक घटना या तद्गत विषय है और यही उसका निश्शेष स्वरूप होता है, जबकि काठिन्य उसीका अवेदनात्मक और अघटनात्मक ग्रहण होता है। किन्तु घट और घटत्व में यौगपद्य का और सामान्य-विशेष का सम्बन्ध नहीं है, यह सम्बन्ध घट के पक्ष से भाव्य के साथ भाव का सम्बन्ध है और घटत्व के पक्ष से शुद्ध आकार के साथ उसके भौतिक उपादान में निरूपण का। भौतिक उपादान में निरूपित आकार अपने प्रत्यय से आकारतः भिन्न नहीं होता, केवल वह अधिष्ठानतः भिन्न होता है : प्रत्ययगत आकार का अधिष्ठान चित्त में होता है और निरूपित अधिष्ठान भूत में। इसीसे घट संज्ञा या वेदनागतत्व में निश्शेष नहीं होता, अर्थात् घट प्रत्यक्षगम्य विषय मात्र या संवेदनमूलक संरचना (कंस्ट्रक्शन फ्राम सेंसडेटा) मात्र नहीं है, यह पक्ष केवल उसका अधिष्ठान या माध्यम है, घट इस माध्यम में निरूपित आकार या प्रत्यय है। यहां यह उल्लेखनीय है, और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, कि आकार के माध्यम के रूप में संवेदनात्मक (भौतिक) पक्ष भी मौलिक रूप से रूपान्तरित हो जाता है, अब यह अवयवी (व्यष्टि) हो जाता है जो दैशिक बिन्दुओं का संघात नहीं होकर एक अंतर्गर्भ गति और छन्द से अपने प्रत्येक बिन्दु में नियोजित होता है। एक वर्ण-संस्थान या प्रस्तर-खंड में घटक बिन्दुओं का परस्पर सम्बन्ध पूर्णतः बाह्य होता है और उनकी बाहरी सीमाएँ अनिर्धारित होती हैं : वे कहीं से भी तोड़े या बढाये जा सकते हैं, किन्तु घट अपने आकार की गतिमय वर्तुलता से अपने प्रत्येक बिन्दु को अपने में समाहित करता है। यही उसकी व्यष्टिता है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक आकारित या सृजनात्मक प्रत्यय से अनुप्रविष्ट वस्तु व्यष्ट्यात्मक हो, जैसे वस्त्र आकारित होने पर भी व्यष्ट्यात्मक नहीं होता, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है कि कोई व्यष्टि सृजनात्मक प्रत्यय से अनुप्रविष्ट नहीं हो। यहां आपत्ति की जा सकती है कि यह

कैसे निश्चय हो कि कोई प्रातीतिक व्यष्टि वास्तव में भी व्यष्टि है या नहीं? इसके लिए यह आवश्यक है कि हमें पहले से पता हो कि वह आकार से अनुप्रविष्ट है या नहीं। यह सही है, किन्तु यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यद्यपि अधिकांश अवस्थाओं में हमें व्यष्टि ही प्रस्तुत होते हैं जिनमें हमें आकार का संकेत ७ लेना होता है, किन्तु यह संकेत मिलने तक हम यह नहीं कह सकते कि प्रातीतिक व्यष्टि वास्तव में भी व्यष्टि है या नहीं। उदाहरणतः किसी पत्थर में बनी कोई आकृति, या कागज अथवा भूमि पर बनी रेखाएँ मूर्ति या चित्र हैं या नहीं, इसमें हम भ्रम में पड़ सकते हैं। यहां प्रश्न किया जा सकता है कि यदि कागज पर बनी रेखाएँ वास्तव में आकारित नहीं हों: किसी बच्चे ने यों ही खींच दी हों: किन्तु देखने वाले को उनमें आकार दिखायी दे, तब क्या कहा जायगा? हम कहना चाहेंगे कि तब ये इस देखने के साथ की आकार से अनुप्रविष्ट हो गईं और इस प्रकार व्यष्टित्व की निरूपक हो गईं।

किन्तु जहाँ आकार होने पर भी व्यष्टित्व नहीं है, जैसे वस्त्र में, वहाँ आकार हमें उपादान और संरचना में भेद के द्वारा गम्य होता है। जैसे वस्त्र में तंतुओं का सम्बन्ध आवयविक होता है, क्योंकि इसमें परिवर्तन स्वयं रूई या तन्तुओं को प्रभावित नहीं करता, और दूसरी ओर यह परिवर्तन वस्त्र को परिवर्तित कर देता है।

अब भौतिक माध्यमों में घट-पटादि के रूप में व्यस्त आकार हमें अपरोक्षतः प्रदत्त होते हैं, इसलिए हम यह असंदिग्ध रूप से कह सकते हैं कि ये भौतिक वस्तुएँ निरूपित आकार हैं, और इस प्रकार इनकी आकृतियाँ या मुद्राएँ प्रत्ययों से निर्दिष्ट हैं। जब इसी प्रकार की, यद्यपि इनसे कहीं अधिक जटिल और कुशल आकृतियाँ, व्यष्टि और संस्थान हम प्रकृति में देखते हैं तब सहज ही हम इनमें भी आकारों के संकेत देखते हैं। जैव प्रकृति में न केवल आकार-तत्त्व, अथवा कहें सृजनात्मक प्रत्ययों का आत्म-निरूपण दृष्टिगोचर होता है, बल्कि प्रत्येक भाव अपने भाव्य स्वरूप के निरूपण की उदग्रता अपने भीतर प्रकट करता है, जो मानवीय सर्जनों में हम नहीं पाते, जिनमें भाव्य का बोध आकार या प्रत्यय के साक्षात्कारी चित्त में होता है, निरूपक वस्तु में नहीं। उदाहरणतः घटों को देखकर हम उन्हें न्यूनाधिक उपयुक्त कहते हैं, किन्तु घट अपने भाव (भवता) में स्थिर होता है, जबकि प्रत्येक पौधे और प्रत्येक देह में अपर्याप्तता के निवारण का प्रयत्न, अपने भव्य स्वरूप की सिद्धि के लिए उदग्रता, और इस प्रकार अपर्याप्तता का बोध, दृष्टिगत होता है।

मानवीय कृतियों में आकारों का निरूपण मानव-चित्त में उनके साक्षात्पूर्वक होता है जिस कारण हम मनुष्य को उन कृतियों का कर्ता, सर्जक, या कलाकार कहते हैं। यह कर्म कर्तृत्वाभिमानपूर्वक होता है। जैव प्रकृति में हम इनकी अनुरूपता, इनसे अत्यधिक जटिल और कुशल रूप में निष्पादित देखते हैं। इसी आधार पर बहुत से लोग प्रकृति अथवा ईश्वर में प्राकृतिक वस्तुओं का कर्तृत्व देखते हैं। न्याय ने ईश्वर का अस्तित्व इसी आधार पर स्वीकार किया है, और कांट यह स्वीकार नहीं कर पाने के कारण इसे प्रत्यङ्मुख अध्यवसाय (रीफ्लेक्टिव जज्मेंट) का बाह्यारोप मानता है। [८] किन्तु कांट का यह ऊर्ध्वमूल सिद्धान्त उसके इस मौलिक सन्देहवाद के कारण है कि क्योंकि हम प्राकृतिक आकृतियों का कर्तृत्व अपने आनुभविक ज्ञान की प्रागनुभविक वर्गणाओं (अप्रायराई केटेगरीज ऑफ अंडरस्टैंडिंग) में नहीं देख सकते इसलिए यह कर्तृत्व प्रकृतिमूलक नहीं होकर हमारी विषयिनिष्ठ अपेक्षामूलक है। इसे दिङ्नाग की पदावली में कहें तो–यह अनादि वासनामूलक नहीं होकर व्यवस्थापन की मानवीय अपेक्षामूलक है। यहाँ हम कांट की विषयनिष्ठता-विषयिनिष्ठता की विचित्र अवधारणाओं का सन्दर्भ छोड़कर इस प्रश्न पर विचार करना चाहेंगे कि क्या प्रयोजनात्मक प्रतीत होने वाली प्राकृतिक आवयविक वस्तुओं को कर्तृत्वाभिमान के बिना भी वस्तुगत सृजनों या प्रत्यय-निरूपणों के रूप में समझ सकते हैं ?

इस दृष्टि से जैव प्रकृति भौतिक प्रकृति से मौलिक रूप से भिन्न है। यह एक ओर कृति के सब लक्षण प्रकट करती है और दूसरी ओर चैतन्य की चित्त (अभिव्यक्त या अनुभूयमान चैतन्य) के रूप में जागतिक प्रतिष्ठा की माध्यम बनती है। वास्तव में कृति चित्त की अभिव्यक्ति का एक माध्यम होती है, जैसे घर, चित्र और काव्य, और चित्त अनभिव्यक्त चैतन्य का अभिव्यक्त रूप है। अब, दर्शनेन्द्रिय चित्त है और आँख उसकी देह, स्पर्शेन्द्रिय चित्त है और त्वक् उसकी देह, विचार या प्रत्यय चित्त है और मस्तिष्क उसकी देह। अब, ऐसा नहीं है कि देह चित्त के उपकरण के रूप में आविष्कृत यंत्र है, बल्कि ये दोनों चैतन्य की अभिव्यक्ति के, तत्-सत् के अस्तित्व में आविर्भाव के, दो पक्ष हैं। इसे चित्त की अभिव्यक्ति के उदाहरण से समझने में सहायता मिलेगी– चित्र या काव्य चित्त की भौतिक माध्यम में अभिव्यक्ति है, किन्तु इन्हें अभिव्यक्ति के उपकरण नहीं कहा जा सकता, ये चित्त के ही बाह्याभिव्यक्त रूप हैं। अवश्य वर्ण और रेखाएँ भौतिक हैं, इसीसे चित्र का एक भौतिक पक्ष भी है, किन्तु यह भौतिकता चित्र में रूपान्तरित हो जाती है, चित्र चित्त का बाह्याकार बनता है, जिस प्रकार चित्र की कल्पना उसका आन्तर आकार है। वास्तव में जैव-देह (आँख, कान और मस्तिष्क आदि) ज्ञान के माध्यम के रूप में तो अंशतः अचैतसिक

उपकरणता का भ्रम उत्पन्न करती भी है किन्तु वेदना और प्राण उसमें इस प्रकार अन्तर्गत हैं कि इनमें एक दूसरे से केवल कल्पना में ही विलगाया जा सकता है। देह शैशव से मृत्यु तक प्राण का व्यापार है और प्रतिक्रिया तथा वृद्धि इसके लक्षण हैं। कहा जा सकता है कि हम निष्प्राण देह की बात भी करते हैं। किन्तु देह के मूल धर्म व्यष्टिता, वेदना-क्षमता और वृद्धि या निष्पन्नता उसमें नहीं होते। देह बीज में स्फुटन के आरम्भ से मृत्यु-पर्यन्त एक ही अन्तःशासित क्रम है।[९]

किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में जैव जगत् की दूसरी विशेषता विचारणीय है, और वह है इसकी वस्तुता का स्वरूप। भौतिक जगत् जबकि एक तार्किक नियम की अद्भुत प्रांजलता और सौष्ठव प्रकट करता है, प्राणि-जगत् की विशिष्टता इसकी वस्तुओं में व्यष्टिता, जातिता और प्रत्यय के क्रियान्वयन की प्रयत्न-साध्यता है। भौतिक जगत् में जो विशिष्टता ऐन्द्रिय विषयता के रूप में और जो सामान्यता अध्यवसेय के रूप में सरल और अमिश्रित शुद्धता में मिलती हैं वे यहाँ क्रमशः जटिल कल्पना से उपलक्षित विशिष्ट कृति (देह) और उस कृति के आदर्श आकार (जाति) के क्रियान्वयन के न्यूनाधिक सफल प्रयत्नों के रूप में उपलब्ध होती है, वास्तव में भौतिक जगत् में विशिष्टता बाह्यारोप मात्र है, वहाँ केवल सामान्य नियम ही लक्षित होता है, किन्तु प्राणि-जगत् में विशिष्टता वास्तविक और सामान्यता विशिष्टता के माध्यम से क्रियान्वित होती है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि यहाँ प्रत्यय का रूप तार्किक नहीं होकर कलात्मक होता है, और परिणामतः वह विशिष्ट कृतियों के रूप में व्यक्त होता, जो कृतियाँ अपनी सम्यक्ता के प्रमाणीकरण के लिए जाति रूप में अपने मूल प्रत्यय को लक्षित करती है। मानव-कृत कला-कृतियों से इनका भेद यह है कि मानव-कृत कला-कृतियाँ व्यक्तिमूलक कल्पना और प्रत्यय की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। प्राणि-जगत् अवैयक्तिक, अतिक्रामी चित्त का व्यापार है। इतना ही नहीं, स्वयं प्राणि-क्रिया और प्राणि-सर्जन भी अतिक्रामी चित्त के ही व्यापार हैं, ये केवल आत्मचेतन मनुष्य में वैयक्तिक चित्त के स्तर के व्यापार बनते हैं।

अनात्मचेतन प्राणियों की क्रियाओं का मूल व्यक्ति-चेतना में नहीं हो कर जाति-चेतना में से उनकी कृतियों को शिल्प या कला नहीं कहकर सहज प्रवृत्ति (इंस्टिक्ट) कहा जाता है। पक्षी बिना सीखे घोंसला बनाते और सही दिशा में प्रवास-यात्राएँ करते है, चीटियाँ, दीमक और मधुमक्खियाँ घर और व्यवस्थित समूह बनाती हैं, आदि आदि। इस सबमें कलात्मक-प्रयोजनात्मक प्रत्ययों का क्रियान्वयन दृष्टिगोचर होता है जो क्रियान्वयन व्यक्ति-चेतनामूलक नहीं होकर जाति-चेतना-मूलक होता है। इस प्रत्यय को कलात्मक कहने का तात्पर्य है कि

यह मूर्त सर्जनों में प्रतिफलित होता है। परिणामतः इसमें इन्द्रिय-विषयता उपचारात्मक (आरोपात्मक) नहीं होकर स्वरूपगत होती है, यद्यपि विषयता भौतिक नहीं होकर व्यक्त विषयिता-रूप होती है। "व्यक्त विषयता" से हमारा तात्पर्य है, जिसमें चेतना अपने को अभिव्यक्त करने के लिए किसी इन्द्रियगम्य आकृति या संस्थान को उत्कीर्ण करती है। यह आकृति या संस्थान इन्द्रियगम्य होने पर भी भौतिक नहीं होता है, यह इन्द्रियगम्य चित्त ही होता है। किन्तु यहां यह स्मरणीय है कि यह विषयिता ज्ञातृत्व या कर्तृत्व के अभिमान-सहित, अस्मिता बोधपूर्वक, नहीं होती, जैसी मनुष्य में होती है, यह इसी रूप में विषयिता कही जा सकती है कि यह बाह्यात्मक नहीं होकर अन्तरार्थ मूलक होती है। यद्यपि प्राणी बाह्योन्मुख प्रवृत्ति को ही प्रदर्शित करता है, किन्तु यह प्रवृत्ति स्वयं बाह्यात्मक नहीं होती, बाह्यता की ओर होती है। यहां प्राणि-चित्त की क्रिया देह, उसके व्यवहार और इससे निष्पन्न बाह्य कृति, जैसे घोंसला, तक अपने को निष्पादित करती है।

मनुष्य में चैतन्य मौलिक रूप से एक दूसरा स्वर प्राप्त करता है, यद्यपि बहुत से स्तनपायी पशुओं में इसके आरम्भ के चिह्न मिलते हैं। यह स्तर-भेद अहं और पर के अध्यवसायात्मक ग्रहण का है। ये दोनों विषय (अहं और पर) अर्थ (आशय) के वैभव में अपार समृद्धि से पूर्ण हैं और इस प्रकार चैतन्य के आत्म-क्रियान्वयन के इतिहास में यह एक उतना ही क्रांतिकारी अध्याय है जितना भौतिक के बाद प्राणिकजगत् के आविर्भाव होता है, जो चैतन्य में, या सत्ता में एक सर्वथा नवीन अवस्था और दिशा है। यहां केवल देह ही व्यष्टीकृत नहीं होता चित्त भी होता है, जिसका आधार चित्त का विषय के साथ तादात्म्य समाप्त होना है। इस अस्मिता को कभी-कभी अहंकार समझ लिया जाता है जो वास्तव में नहीं है। अहंकार अतिक्रामी (दैहिक और चैतसिक अस्तित्व का निर्धारक) है, यह दैहिक और चैतसिक सभी रूपों में विभक्ति या सीमा के आविर्भाव का कारण होता है। इस प्रकार गाय-व्यक्ति और उसके ग्रहण दोनों अहंकार-मूलक हैं। उसी प्रकार मनुष्य और उसके ग्रहण भी हैं। किन्तु मनुष्य का अस्मिता-बोध चित्तमें अहंकारातिक्रमण के प्रयत्न का, और चैतन्यमूलक निरवच्छिन्न स्वरूप की पुनराप्ति का, आरंभ है। अनात्मचेतन चित्त का विषय प्रायः पूर्ण रूप से विशिष्ट होता है। क्योंकि वह मात्र आवेगाधीन और ऐन्द्रिक होता है। विषयिता की दोनों अवस्थाएँ देश और काल दोनों में केवल प्रस्तुत तक ही सीमित रहती हैं। इसमें प्रस्तुत का अतिक्रमण केवल उसी स्तर के संस्कारों के द्वारा होता है। उदाहरण के लिए गाय मनुष्य के हाथ में डंडा देखकर उसकी भयावहता को पहचानती है, जो उसमें दर्शनेन्द्रियगम्य

प्रस्तुत के अतिक्रमण का द्योतक है। ये संस्कार जातिमूलक भी हो सकते हैं (कृमियों में ये पूर्णतः जातिमूलक ही होते हैं) किन्तु क्रिया और प्रतिक्रिया का केन्द्र व्यष्टि ही होता है, उनमें यही आहंकारिकता है। मनुष्य में यह आहंकारिकता व्यक्ति-देह, व्यक्ति-संस्कार, व्यक्ति-ग्रहण, व्यक्ति-अवधारणा और व्यक्ति-उपकारक मूल्य (स्वार्थ) सब स्तरों पर, जो कि मानव-चेतना में हैं, उपलब्ध होती है। किन्तु इसके साथ ही मनुष्य में इसके अतिक्रमण की सामर्थ्य भी दृष्टिगत होती है। मनुष्य में साधारण ऐन्द्रिक विषय-ग्रहण तक में अहंकार और उसका अतिक्रमण देखा जा सकता है। विषय की अवच्छिन्नता जबकि ग्राहक की अवच्छिन्नता और इस प्रकार आहंकारिकता की द्योतक है, उसकी विषयनिष्ठता (सब दर्शकों के लिए समान विषयता) ग्राहक में अहंकार के अतिक्रमण की द्योतक है। यह अतिक्रमण विचार-विषय में और अधिक स्पष्ट होता है। अहंकार चैतसिक व्यवच्छिन्नता का नियामक तत्त्व (प्रिंसिपल) है और इस प्रकार यह देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और बुद्धि सब स्तरों पर व्यष्टिता का निर्धारक (डिटर्मिनेंट) होता है। किन्तु चित्त में प्रत्यङ्मुखता के आविर्भाव के साथ विचार के स्तर पर इसका अतिक्रमण हो जाता है।

यहां यह द्रष्टव्य है कि घट या चित्र व्यष्टि होने पर भी अहंकार-मूलक नहीं है, क्योंकि ये आत्मचेतन प्रत्यय के सर्जन हैं। इसी प्रकार जैव देह भी आकार के निरूपण के पक्ष से आहंकारिक नहीं है, किन्तु दैहिक चित्त के रूप में, अर्थात् उस चित्त के रूप में जो देह की उपाधि से उपहित है, यह आहंकारिक निर्धारण ही है। इस प्रकार गोत्व के निरूपण के रूप में गाय प्रत्यय का अवतरण है, जबकि व्यष्टि गाय के रूप में यह अहंकार से अवच्छिन्न चित्त है।

चित्त जागतिकता का तीसरा आयाम है जिसका अवांतरतः कुछ निरूपण प्राणिक के साथ ऊपर हो चुका है। चित्त भौतिक और प्राणिक के समान प्रत्यय नहीं होकर चैतन्य का जागतिक अस्तित्व है। चैतन्य अपना अस्तित्व वेदना में प्राप्त करता है और अपने को विदित होता है। वेदना का माध्यम देह बनती है, वेदना को उसका गुण भी कह सकते हैं, किन्तु चैतन्य का यह उपजीव्य है; इसके रूप में, अथवा इस उपाधि में चैतन्य अस्तित्व धारण करता है। इच्छा, कर्म, ज्ञान और विमर्श अन्य उपाधियाँ हैं जो चैतन्य के अस्तित्व-धारण पर उसे आकार देती हैं। ये अस्तित्वात्मक उपाधियाँ मूलतः चैतन्य के जागतिक आविर्भाव के उपभोग की माध्यम बनती हैं। इस प्रकार भौतिक जगत् ज्ञानेन्द्रियोपभोग्य रूप-रसादि गुणों के रूप में और प्राणिक जगत् राग-द्वेषादि के विषयों के रूप में प्रस्तुत होता है, ज्ञान इन उपभोगों का उपकारक बनता है। किन्तु चित्त की यह अवस्था या स्तर भौतिक

या प्राणिक से अवियोज्य होता है, यह अपने विषय में आपादमस्तक निमग्न रहता है। यह अपनी स्वायत्तता, और परिणामतः उपभोग के तात्पर्य या अर्थ का वैभव केवल तभी सिद्ध कर पाता है जब यह स्वयं अपने जगद्भाव को, अपनी उपभोग-स्वरूपता को, विषय बनाता है। अपने अर्थ वैभव की सिद्धि या अवगमन चित्त का विमर्शात्मक व्यापार है जो केवल विषय-विमुक्त, अथवा कहें आत्मचेतन चित्त में ही संभव है। विमर्श चित्त की अनुद्भिन्न या विषय-विमूढावस्था में निमीलित अर्थों का उन्मीलन है। कला, शिल्प और विज्ञान आदि इसके विभिन्न रूप हैं। कला, शिल्प आदि को चित्त का आत्मविमर्श कहना प्रथमतः अटपटा लग सकता है, किन्तु थोडा गहराई से देखने पर इसका औचित्य स्पष्ट हो जाएगा। उदाहरण के लिए पाकशास्त्र को ही लें। यह रसानुभव के अर्थ का विमर्श है, इसी प्रकार संगीत है, जो शब्द (ध्वनि) गत अर्थों का विमर्श है। [10] विज्ञान भौतिक विषयानुभव का और शिल्प उपयोगी कर्म-मूलक अनुभव का विमर्श है। उदाहरण के लिए घोंसला-निर्माण और गृह निर्माण को लें। इनमें प्रथम में पक्षी-चेतना ऋतु, प्रसव और शिशुपालन आदि परिस्थितियों से तदाकार रहती है और निर्माण-कार्य परिस्थिति-जनित वासना से नियुक्त यन्त्र-क्रिया जैसा होता है। आप अंडे नष्ट कर दें और घोंसला हटा दें, किन्तु पक्षी का घोंसला-निर्माण-कार्य ऋतु-पर्यन्त चलता रहता है। ऐसा नहीं है कि पशु-पक्षियों में नयी परिस्थिति के लिए उपयुक्त नयी प्रतिक्रिया नहीं होती, और न यही है कि मनुष्य में विषयोन्मुखता नहीं रहती। वास्तव में पशु और मानस में एक तारतम्य भी है। किन्तु हम पशु और मनुष्य की बात वैसी नहीं कर रहे हैं, हम विषयावच्छिन्न और विषयानवच्छिन्न चेतनाओं की बात कर रहे हैं, जो क्रमशः पशु और मनुष्य में प्रमुखतः लक्षित होती हैं।

वास्तव में उस अर्थ में मानवीय चेतना भी मुख्यतः विषयोन्मुख ही है जिस अर्थ में फिनॉमिनलॉजिस्ट दार्शनिक चेतना को विषयोन्मुख कहते हैं, किंतु अस्मितात्मक और अनस्मितात्मक चेतनाओं की विषयोन्मुखता में आधारभूत अन्तर होता है, अथवा कहें इनकी विषयता में आधारभूत अंतर होता है, परिणामतः यह आत्मचेतन चित्त ही भौतिक और प्राणिक के समकक्ष एक तीसरा आयाम बनता है, अनात्मचेतन चित्त अधिकांशतः प्राणिक-दैहिक-ऐन्द्रिक आयाम के एक गुण के रूप में ही रहता है।

जैसा कि हमने पीछे देखा, आत्मचेतन चित्त एक ओर विषय को स्वायत्त बनाता है, दूसरी ओर अपने को। उदाहरणतः इन्द्रिय-विषय भौतिक वस्तुता का स्तर केवल इन्द्रिय-ग्रहण का अतिक्रमण करके ही पाता है, और ऐन्द्रिकता का जितना ही अपवारण हम कर पाते हैं विषय की स्वायत्तता उसी सीमा तक

स्थापित हो पाती है। भौतिक विज्ञान इसी स्वायत्तता की अधिकाधिक सिद्धि का प्रयत्न है। (प्राणि विज्ञान और मनोविज्ञान इस दृष्टि से भ्रांत हैं, क्योंकि वे प्राणिक और मानविक की स्वायत्तता इन्हें भौतिक में घटाकर सिद्ध करना चाहते हैं।) विषय को इस प्रकार स्वायत्त बनाकर ही चित्त अपनी स्वायत्तता स्थापित करता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि यह चित्त जगत् का अतिक्रमण नहीं करता, यह उसमें अपने को स्वायत्त रूप में प्रतिष्ठित करता है। उदाहरण के लिए इस चित्त के लिए काम-वासना "स्वतोद्भूत क्रिया के व्यय होने तक की उद्विग्नका मात्र" नहीं है, अब यह स्वयं चित्त के स्वाराज्य में लौटकर अपने अर्थों का प्रत्यक्षीकरण है, जिसमें प्रेम की जटिल मनोव्यवस्था जन्म लेती है, और यह व्यवस्था विमृश्य बनकर काव्य, संगीत आदि में अपने अर्थ-वैभव का साक्षात्कार करती है। यह अर्थ-वैभव जगत् में एक अतिजगत् का आविर्भाव तथा मूल जगत् का उत्तानीकरण है। यही बात विज्ञान के लिए भी है, यह ऐन्द्रिक अनुभवगत युक्ति का सन्धान और यन्त्र-रूप में उपयोगात्मक अनुभव का विमर्श है।

आत्मचेतन चित्त की, जगत् के अन्य दो आयामों से मूलतः भिन्न, एक अद्भुत विशेषता चैतसिक व्यष्टिता का आविर्भाव है जिसे प्राणिक व्यष्टिता से भिन्न, व्यक्तित्व कहा जाता है। प्राणिक व्यष्टिता देह-मूलक है, जो अपनी रचना में तथा वेदना, आवेग और क्रिया के पार्थक्य में व्यक्त होती है। किंतु चैतसिक व्यष्टिता आत्म के इतर से चैतसिक पार्थक्य-बोध में व्यक्त होती है। यह चैतसिक पार्थक्य-बोध देह के समान चैतसिक विशिष्टता (अनुभूति, विचार, संकल्प, स्मृति और अपेक्षाओं की विशिष्टता) में प्रतिफलित होता है। चित्त के आत्म-चेतन होने से यह पार्थक्य या वैशिष्ट्य भी देह से भिन्न आत्मचेतन होता है, किंतु इसका आविर्भाव या सर्जन आत्मचेतन नहीं कहा जा सकता, यह अतिक्रामी ही हो सकता है: व्यक्ति के रूप में मैं अपने चित्त का अधिष्ठाता हो सकता हूँ, किंतु स्वयं अपने अधिष्ठातृत्व के आविर्भाव का कारण नहीं हो सकता।

इस प्रकार प्राणिक व्यष्टि-जाति के समान चैत्त व्यक्ति-जाति का आविर्भाव भी चैत्त नहीं होकर आद्य चैतन्य में आविर्भाव है। यहाँ पुनः जाति के व्यक्तिमूलक होने से, आत्म-चेतन चित्त चैतन्य में कलात्मक प्रत्यय की ही अभिव्यक्ति है। आत्मचेतन चित्त की वैयक्तिता के दो आधार हैं, प्राणिक और चैतसिक प्राणिक आधार चैतन्य को अस्तित्व देता है और चैतसिक आधार उसे इस अस्तित्व पर अधिष्ठातृत्व देता है। किन्तु आत्म-चेतना में चैतन्य को एकसाथ दो वृत्तियाँ प्रकट होती हैं: चैतसिक का अधिष्ठातृत्व, और इस अधिष्ठातृत्व की निर्धारितता (कंडीशनैलिटी) तथा अनात्माधिकता का बोध। यह बोध अधिष्ठातृत्व अथवा

आत्म के लिए एक ओर अधिष्ठाताओं के समाज के एक सदस्य के रूप में अपनी व्यक्तिगत सीमाओं के अतिक्रमण का प्रसंग सुलभ करता है और दूसरी ओर अनिर्धार्य तत्त्व में अपने स्वरूप का बोध पाता है।

पिछले लेख में हमने अपर्याप्तता-बोध की चर्चा की थी। उसका आधार यह स्वरूप-बोध ही है। यह बोध जहाँ एक ओर निर्धारणों से परे सत्ता का संकेत करता है, यह निर्धारणों की विद्यमानता के सम्बन्ध में अत्यन्त विषम समस्या भी प्रस्तुत करता है जिसका विचार यहाँ प्रासंगिक है। वस्तु-जगत् स्वरूपतः निर्धारणात्मक है: निर्धारण उसके अस्तित्व का आधार है। आत्मचेतन-चित्त इस अस्तित्व की, और इसमें अपने अस्तित्व की, निर्धारणात्मकता को देखता है और इस द्रष्टृत्व में अनिर्धार्य का आभास पाता है, किन्तु वह इन निर्धारणों का अस्तित्व में अतिक्रमण नहीं कर सकता: मैं इस देश-काल-बिन्दु पर हूँ, किन्तु जबकि यह मेरे लिए अनिवार्य नहीं था कि मैं इस बिन्दु पर होता, अस्तित्वतः मैं इस बिन्दु पर ही हूँ और अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता। यद्यपि में अन्यन्त्र कहीं भी हो सकता था, किन्तु सर्वत्र नहीं हो सकता था, ज़बकि किसी भी बिन्दु पर होने की आगन्तुकता और किसी भी बिन्दु पर हुए होने की शक्यता मेरे स्वरूप की बिन्दुरहित निरपेक्षता की द्योतक है। किन्तु बिन्दु-रहित निरपेक्षता उस सम्पूर्ण वैभव के लय की, निरसन की, स्थिति है जो जगत् है और जो मैं हूँ। इसका कुछ समाधान आत्मचेतन ज्ञान और कर्म में होता है, क्योंकि इन दोनों में अस्तित्व की उपाधियों के सहित उनका अतिक्रमण होता है। किन्तु इस ज्ञान में अस्तित्व ज्यों का त्यों बना भी रहता है; मैं जानता हूँ कि इस दीवार का दूसरा पक्ष भी है और भीतरी भाग भी है, किन्तु मैं उन्हें तब तक नहीं देख सकता जब तक प्रस्तुत पक्ष को देखना नहीं छोड़ता। इसी प्रकार विचार में मैं किसी प्रतिज्ञप्ति को और उसकी निषेधक प्रतिज्ञप्ति को जानता हूँ, किन्तु मैं दोनों की सत्यता एकसाथ ग्रहण नहीं कर सकता। अवश्य मैं व्यापकतर प्रतिज्ञप्ति प्राप्त कर सकता हूँ और उसमें इन दो विरोधी प्रतिज्ञप्तियों का विरोध समाप्त कर सकता हूँ, किन्तु तब यह प्रतिज्ञप्ति अन्य अनेक विरोधी प्रतिज्ञप्तियों से बाधित हो जाति है। विरोधरहित प्रतिज्ञप्ति विचार के लिए अग्राह्य है। अथवा कहें, ऐसी प्रतिज्ञप्ति असंभव है, यह केवल प्रतिज्ञप्ति-राहित्य की स्थिति है, और वह विचार का, और इस प्रकार बौद्धिक अस्तित्व का, अतिक्रमण है। यह अतिक्रमण निरपेक्षता देता है, किन्तु अस्तित्व में यह निरपेक्षता असम्भव है और परिणामतः खेद और अवसाद-जनक है।

कर्म इस स्थिति से विमुक्ति का प्रयत्न है। इसका मूल इच्छा में है जो अस्तित्वगत अभाव की अनुभूति है, और इस प्रकार कर्म अस्तित्वगत अभाव की

पूर्ति का प्रयत्न है। उदाहरणतः मैं एक साथ दो बिन्दुओं पर नहीं हो सकता, किन्तु मैं एक से अधिक बिन्दुओं पर आधिपत्य स्थापित कर सकता हूँ : अर्थात् मैं देह से एकसाथ दो बिन्दुओं पर नहीं होकर भी संकल्प और अधिकार से दो पर हो सकता हूँ। किन्तु कर्म का मुख्य वैशिष्टय एक दूसरे प्रकार के अतिक्रमण में है : मैं किसी भी बिन्दु पर हो सकता था, यद्यपि केवल एक पर ही हो सकता था, किन्तु किसी भी बिन्दु पर होने की संभावना तत्त्वतः होते हुए भी अस्तित्वतः मुझे उपलब्ध नहीं है, क्योंकि मैं जिस भी बिन्दु पर हूँ या हो सकता था वह मेरा चयन नहीं है और न हो सकता है। संभावनाओं का यह क्षेत्र मेरे लिए तब तक पूर्णतः बन्द है जब तक मैं अस्तित्व पर अपना संकल्प स्थापित नहीं करता। कर्म यह स्थापना है, यह अस्तित्व की अनिवार्यता को भेद कर तात्त्विक संभावनाओं के व्योम में प्रतिष्ठित होना है। संभावनात्मकता का यह बोध जगत् को उपादान के रूप में रूपान्तरित कर देता है जिसमें चेतना अपने को कृति के माध्यम से सिद्ध करती है। अथवा कहें, प्राकृतिक जगत् कार्यप्रकृति अब पुनः कारण-प्रकृति में रूपान्तरित होकर नये और द्वितीय स्तरीय जगत् के आविर्भाव के लिए उपादान बनती है। यह जगत् अब स्वतन्त्र चैतन्य की कृति या सृष्टि बनता है। सृजन की उपयुक्त परिभाषा है : "आत्मसाक्षात्कारी विषयिभाव का विषय में आत्मनिरूपण अथवा आत्म-क्रियान्वयन"[११] इस अर्थ में केवल कर्म-कृत जगत् ही सृजन या सृष्टि है, अकर्मोत्पन्न वस्तुएँ नहीं। किन्तु तब वस्तुजगत् सृष्टि है या नहीं? इस प्रश्न के सम्मुख हम पुनः प्रस्तुत होते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर बहुत समस्यात्मक है: यदि हम जगत् को कर्म-कृत कहते हैं तब कर्तृत्व की अपेक्षा होती है और कर्तृत्व सीमित चेतना को पूर्वापेक्षित करता है, अर्थात् केवल सीमित चेतना ही कर्म में प्रवृत्त हो सकती है। यह इसलिए नहीं कि कर्म इच्छा को और इच्छा अभाव को और पूर्तिकर भावी स्थिति की कल्पना को आपादित करती है, क्योंकि सब कर्म अभावमूलक नहीं होता, आत्मसर्जनात्मक कर्म भावमूलक ही होता है, वह अव्यक्त की व्यक्त होने की कामना-मूलक होता है। यह कामना भी अभावमूलक नहीं होती, यह भावमूलक ही होती है, क्योंकि अव्यक्तता की स्थिति अभाव की स्थिति नहीं है, व्यक्त में अव्यक्त से अधिक भाव (सत्त्व) ही होता है, यह केवल भाव की क्रियात्मकता है। व्यक्त भाव को अव्यक्त भाव की प्रसन्नता, स्फुटता या विकास कह सकते हैं।[१२] इसमें 'कामना' शब्द का प्रयोग एक प्रकार से रूपकात्मक प्रयोग मात्र है। किन्तु कर्तृत्व आत्मचेतन कर्ता को पूर्वापेक्षित करता है और आत्म इतर को, यह इतर चाहे विषयकृत आत्म ही क्यों न हो। यह अनिवार्य अवच्छिन्नता की स्थिति है जो ईश्वर में कल्पनीय नहीं है। यदि इस पर कहा जाता है कि सृजन में व्यक्त होने के लिए अव्यक्त चैतन्य का

इतरव्यावृत्त आत्मता से अवच्छिन्न होना आवश्यक नहीं है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि स्वयं सृष्टि भी स्रष्टा से इतर होती है, यदि यह तत्त्वतः असत् भी हो तो भी उसकी प्रतीति इतरत्व के प्रत्यय की विद्यमानता के बिना नहीं हो सकती। इस प्रसंग में वेदान्त का समाधान उल्लेखनीय है। वेदान्त के अनुसार जगत्-स्रष्टा ईश्वर माया से उपहित ब्रह्म है। जिसका अर्थ है कि अद्वय चैतन्य सृजन में आत्मव्यवहित हो जाता है, वह अद्वय-अव्यवहितत्व नहीं रहता। **माया के मिथ्यात्व का यही अर्थ है : चैतन्य का अपने से व्यवहित होना।** **तैत्तिरीय उपनिषद्** के मन्त्र "पहले केवल असत् ही था, उससे सत् उत्पन्न हुआ। उस सत् ने अपने को स्वयं जगत्रूप में रचा"[१३] का भी यही आशय है, यद्यपि इसमें इतरत्व की या आत्मव्यवधान की बात स्पष्टतः नहीं कही गई है। किन्तु इसका तीसरा पद (तदात्मानं स्वयमकुरुत) इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है : सृष्टि के लिए असत् (अव्यक्त) या सत् होना (व्यक्त भाव को धारणा करना) ही पर्याप्त नहीं है, उसका आत्मत्व और इसके बोध (स्वयन्ता) से अवच्छिन्न होना भी आवश्यक है।

वास्तव में जगत्स्रष्टा में इस अवच्छिन्नता की विद्यमानता अयुक्तियुक्त नहीं है यदि यह सर्जकत्व व्यवहित आत्मचैतन्य में प्रतिष्ठित हो, क्योंकि अन्ततः जगत् में इतर सत्ता से व्यावृत्त आत्मचेतना (मानव-व्यक्ति) और इतर सत्ता से व्यावृत्त अनात्मचेतना (पशु) दोनों तो हैं ही, पुनः संस्कृतियों के रूप में विराट्तर व्यक्तित्व भी जगत् में विद्यमान है,[१४] ऐसी अवस्था में विराट्तम आत्मचेतना (ईश्वर) का अस्तित्व अकल्पनीय नहीं है। किन्तु यदि ईश्वर को ही आद्य सत् माना जाय, तब यह अकल्पनीय है कि वह आत्मचेतन और सर्जक हो, क्योंकि तब आद्य सत् ही इतर व्यावृत्त और इस प्रकार ससीम हो जाएगा। ईश्वर के स्रष्टा होने से एक दूसरी कठिनाई प्रकृति के स्थान की है: क्या मूल प्रकृति भी ईश्वरीय सृष्टि है या कि स्वतन्त्र है ? अधिकांश ईश्वरवादी इसे और जीव को ईश्वर से स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं, दूसरे इसे उससे सृष्ट और उसके अधीन मानते हुए भी आविर्भाव के बाद अस्तित्वतः उससे अलग मानते हैं। इनमें पहला मत विचारणीय नहीं है, क्योंकि यह ग्राम्य है, जहां तक दूसरे मत का प्रश्न है, यह वदतोव्याघातपूर्ण है, क्योंकि यह ईश्वर को असीम कह कर उसे व्यक्तित्व दे देता है जो सीमित में ही संभव है, क्योंकि व्यक्तित्व प्रत्यङ्मुख चैतन्य का व्यष्टि रूप में आत्माक्षेप है।

किन्तु तब प्रश्न होगा कि व्यक्तित्व-रहित में व्यक्तित्व का आविर्भाव कैसे संभव है ? वास्तव में इसका उत्तर स्वयं हमारे अपने व्यक्तित्व के आविर्भाव के साक्षात्कार से मिल सकता है। मानव-व्यक्तित्व का आविर्भाव निरात्मक चेतना में व्यक्ति-रूप में आत्मप्रतिष्ठापन से होता है, और व्यक्तिरूप में आत्मप्रतिष्ठापन

एक ऐसे मूर्त प्रत्यय की अस्मिता का आत्मप्रतिष्ठापन होता है जिसकी सामान्यता व्यक्ति में अद्वितीयतः उदाहृत होती है। जैसे राम रामत्वधर्म से विशिष्ट व्यक्ति है। किन्तु यह धर्म घटत्व के समान अनेकत्र घटित नहीं हो सकता, क्योंकि यह आत्मचेतना द्वारा प्रत्यय का अपने में निरूपण और उसका आत्मसात्करण होता है।

इसे हमने अन्यत्र[15] ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के अभिमान की संज्ञा दी है। कुछ लोग इस अभिमान या व्यक्ति-प्रत्यय को सामाजिक परिवेश से अर्जित कहना चाहेंगे। किन्तु तब विशिष्ट संस्कृति (सांस्कृतिक प्रत्यय) के अविर्भाव का बाह्य परिवेश क्या होगा ? विशिष्ट संस्कृति-सामान्य असंस्कृत (असत्-अव्यक्त) चैतन्य में संस्कार का बीज। यदि संस्कृति का उदाहरण रहस्यात्मक लगता हो तो भाषा का उदाहरण लिया जा सकता है: प्रत्येक भाषा भाषा-सामान्य (परा वाक्) का विशिष्ट आविर्भाव है। और भाषा सामान्य मूल चेतना में भाषा-बीज का आविर्भाव है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति-प्रत्यय भी अवैयक्तिक निरात्मक चेतना में अस्मितामूलक व्यक्ति-प्रत्यय का आविर्भाव है। अब हमारा व्यक्तित्व हमारे साथ सहज है, इसी प्रकार भाषा और संस्कृति भी, किन्तु हम इनके अव्यक्त-असत् मूल से आविर्भाव का प्रत्यक्ष भी कर सकते हैं। इन आविर्भावों को सृजन कहना उपयुक्त है, काव्य या चित्र भी अव्यक्त भाव में प्रत्यय का आविर्भाव और अनुक्रमशः इस प्रत्यय का अद्वितीय क्रियान्वयन है। चित्र में चित्रकार द्वारा प्रयुक्त तूलिका और स्याही को उपकरण और इस प्रकार इतर के रूप में देखना उपयुक्त नहीं है, बल्कि चित्र-कल्पना के ही क्रियान्वयन (चरितार्थन) के अवयवों के रूप में देखना उपयुक्त है। यह बात काव्य में स्पष्ट है जिसमें मूल्याकांक्षी अमूर्त प्रत्यय से अभिन्न नहीं होता, न भिन्न ही होता है। वह उससे भिन्न इसलिए होता है क्योंकि वह उससे अधिक हो सकता है, और होता है क्योंकि प्रत्यय उसका अंश होता है। इसी प्रकार ईश्वर को भी जगत् से भिन्न और अभिन्न नहीं कहा जा सकता। वह भिन्न होता है क्योंकि जगत् कृत होने से अन्य संभव कृतियों में से एक होता है और ईश्वर उन सब सम्भावनाओं का अकृत प्रत्यय के रूप में, और उससे परे प्रत्यय के बीज के रूप में, और उससे परे अव्यक्त के रूप में, अतिक्रमण करता है। किन्तु जगत् उससे भिन्न भी नहीं होता, यह उसकी ही अभिव्यक्ति होता है।

अब, इस अभिव्यक्ति या कृति को कर्तृत्वाभिमान मूलक कहा जा सकता है या नहीं, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जैसा कि हमने ऊपर देखा, भौतिक जगत् नितान्त सामान्यात्मक और स्वरूपतः अमूर्त प्रत्यय है। इसलिए इसे जगत् और सर्जन नहीं कहा जा सकता और परिणामतः "भौतिक सृष्टि" यह पद

किसी पदार्थ का वाचक नहीं है। भौतिक में मूर्तता और इस प्रकार जागतिकता का आविर्भाव प्राणियों के आविर्भाव के साथ होता है और तब भौतिक इन्द्रिय-ग्राह्य विषय के रूप में आविर्भूत होता है। यह भौतिक सृष्टि अनादि, अनन्त और रूप के अपार वैभव से पूर्ण है, किन्तु अन्ततः यह या तो नितान्त सामान्य प्रत्यय में अन्तर्भाव्य है अथवा उस कामना में इन्द्रियों और रूपों में स्फुटित होती है।

– यशदेव शल्य

पी–५१, मधुवन पश्चिम
किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर– ३०१ ०१५

टिप्पणियाँ

* यह लेख मेरी लेखनाधीन पुस्तक "सत्ताविषयक अन्वीक्षा" का चतुर्थ अध्याय है। पुस्तक भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् की फैलोशिप के अन्तर्गत लिखी जा रही है। इस परिषद् के प्रति मैं अध्ययन-लेखन का यह अवसर प्रदान करने के लिए अनुगृहीत हूँ।

१. Hegel; *Philosophy of Nature*, Ed. and translated by Miller, A. V; Oxford University Press, 1970, pp. 13-14

२. Whitehead, A. N; *The Concept of Nature*, Cambridge University Press, 1920, p. 3.

३. इसके विपरीत सांख्यदर्शन प्रकृति को सामान्य कहता है, द्रष्टव्य **सांख्यकारिका ११**।

४. "संघात पदार्थत्वात्।" इसकी व्याख्या के लिए द्रष्टव्य भगवती का लेख– "सांख्य-विवेचन" **दार्शनिक त्रैमासिक** अक्टूबर १९७४

५. इस प्रसंग में द्रष्टव्य, यशदेव शल्य **विषय और आत्म**, अ. २, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, १९७२।

६. यहाँ द्रष्टव्य है कि कांट "फोर्म्स आफ नेचर" प्रकृति के व्यष्टि विषयों को कहता है और इनके उदाहरणों के रूप में प्रस्तर और पेड़ के उदाहरण प्रस्तुत करता है। द्रष्टव्य Cassierer, H. W.; *A Commentary on Kant's Critique of Judgement*; Barnes and Noble Inc., New York, 1938, p. 119

इसी प्रकार सांख्यकारिका ३ पर टिप्पणी करते हुए वाचस्पति मिश्र 'प्रकृति के विकार' की व्याख्या करते हुए कहते हैं– "यद्यपि पृथ्वी आदि महाभूतों के गो, घट, वृक्ष आदि विकार हैं......" इनमें वे प्रस्तर का भी समावेश कर सकते थे। भारतीय और पाश्चात्य दोनों दार्शनिक घट, मेज़ आदि का उदाहरण प्रत्यक्ष गोचर विषयों के रूप में ही देते हैं। किन्तु किस प्रकार ये इन्द्रियगोचर विषयमात्र नहीं हैं। इसका विशद विवेचन हमने **मनुष्य और जगत्** के इसी संज्ञक अध्याय में किया है।

७. यहाँ हमने 'अनुमान' के बजाय 'संकेत' का प्रयोग इसलिए किया है क्योंकि हम संकेत से आकार को साक्षात्कार्य मानते हैं, व्याप्तिगम्य नहीं।

८. Kant; *Critique of Judgement*, Eng. Translation by Bernard, J. H.; Hafner Pub. Co. New York, p. 20, and Sec. 61 (pp. 205–207)

९. यह द्रष्टव्य है कि यह व्यष्टित्व जैव सृष्टि में भी सहजसिद्ध स्थिति नहीं होकर एक साध्य आदर्श है। इसीसे यह केंचुए और थोर (कैक्टस) में अत्यधिक न्यून और मनुष्य में अधिकतम है।

१०. द्रष्टव्य– हमारी **मनुष्य और जगत्** पुस्तक में "प्रत्यङ्मुख चैतन्य : दर्शन का आरंभ-बिन्दु" अध्याय १

११. विस्तार के लिए द्रष्टव्य–यशदेव शल्य–**मनुष्य और जगत्** में "कला सर्जना"

१२. इस अर्थ में चाहें तो इसे सत्त्व की अधिकता भी कहा जा सकता है।

१३. असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मानं स्वयमकुरुत (सप्तम अनुवाक)

१४. इस प्रसंग में द्रष्टव्य : यशदेव शल्य, **संस्कृति : मानव-कर्तृत्व की व्याख्या** अ. २, तथा यशदेव शल्य : **मनुष्य और जगत्** में "प्रत्यङ्मुख चैतन्य" अध्याय १

१५. द्रष्टव्य– यशदेव शल्य, **ज्ञान और सत्** में अन्तिम अध्याय।

अस्तित्ववाद : उद्‌भव, परिभाषा, प्रकार एवं विशेषतायें

(क) उद्‌भव

पाश्चात्य दर्शन के चिन्तन-क्षितिज से उदित एक विशेष प्रकार का दार्शनिक चिन्तन, जो तर्कणा-युग की निरपेक्ष तर्कणा का विरोधी है, अस्तित्ववाद की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। स्थूलत: इसका उद्‌भव १९ वीं शताब्दी माना जा सकता है, यद्यपि सूक्ष्मत: इसकी जड़ें अनादिकाल से साहित्य और दर्शन की भूमि में छिपी हुई हैं। १९ वीं शताब्दी के तर्कणा-युग में हीगल का दर्शन तर्कणा के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच चुका था। विवेक संसार का सार है .... विश्व की रचना पूर्णत; विवेक जन्म है ' यह हीगलीय अभ्युक्ति वस्तुनिष्ठ निरपेक्ष तर्कणा का घोर समर्थन कर रही थी। दूसरी ओर, दर्शन में प्रातिभ ज्ञानात्मक ज्ञान (Intuitive Knowledge) पूर्णत: उपेक्षित माना जाने लगा था। ऐसी स्थिति में कुछ अस्तित्ववादी चिन्तकों ने हीगलीय स्थापनाओं का विरोध किया। सोरेन कीर्केगार्ड उनमें मुख्य थे।

'अस्तित्ववाद के जनक' के रूप में सोरेन कीर्केगार्ड ने अस्तित्ववाद को जो स्वरूप प्रदान किया, पश्चाद्वर्ती चिन्तकों ने उसी का विकास किया। निस्संदेह यह स्वीकरणीय तथ्य है कि इसमें परंपरा-गत तर्क-पद्धति के प्रति वैपरीत्य के साथ ही आधुनिकतम वैज्ञानिक दर्शन के प्रति प्रखर विद्रोहिता भी है। इसके उद्‌भव में दो भयंकर विश्व-युद्धों द्वारा मानव-अस्तित्व को जर्जरित बताने की कहानी भी अन्तर्निहित है। इन भयानक विश्व-युद्धों से फ्रांस तथा जर्मनी विशेषरूप से आतंकित हुये थे। इसीलिये समकालीन अस्तित्ववाद को इन देशों की रक्त-रंजित धरा से आविर्भूत माना जाता है। इस दार्शनिक चिन्तन-प्रकार के पीछे युद्ध की बर्बर अमानवीय दशा, वस्तुनिष्ठ तर्कणा की प्रवंचक वृत्ति और मानव-अस्तित्व के महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रातिभज्ञान की उपेक्षा के विरोध की तीखी-तलखी प्रतिक्रिया छिपी हुई है। हम इस बात को दृढतया कह सकते हैं कि इस दर्शन का विकास दो युद्धों के बीच के काल में हुआ। इसलिये ऐसा देखने को मिलता है कि अस्तित्ववादी

दार्शनिक मनुष्य की संदेहास्पद स्थिति एवं उसकी दुर्बलताओं से पूर्णतया परिचित हैं। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य मानवीय दुर्बलताओं का निवारण है। यह बात अवश्य है कि चूंकि मानव-अस्तित्व स्वयं में नाना प्रकार की विसंगतियों (absurdities) से परिपूर्ण है, अत: उस पर केन्द्रीभूत दर्शन भी अपने में जटिल, रहस्यपूर्ण और उलझा सा प्रतीत हो रहा है। [२]

(ख) अर्थ एवं परिभाषा :

अस्तित्ववाद के सम्यक् ज्ञान-हेतु उसके अर्थ एवं उसकी परिभाषा पर विचार अत्यंत आवश्यक है। व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की दृष्टि से विदित होता है कि 'अस्तित्व' शब्द 'अस्ति' से व्युत्पन्न है। 'अस्+श्तिप्, स्थितौ विद्यमानतायाञ्च'। [३] 'अस्ति' का अर्थ है– होना, सत् या विद्यमान। 'अस्ति' से तद्धित प्रत्यय 'त्व' के परिणाम स्वरूप 'अस्तित्व' शब्द बना है। 'अस्तित्व का अर्थ है: "सत्ता अथवा विद्यमानता"। [४]

'अस्तित्ववाद' अंग्रेजी भाषा के शब्द 'एक्जिस्टेन्सियलिज्म' (Existentialism) का हिन्दी रूपान्तर है। 'एक्जिस्टेन्सियलिज्म' शब्द 'एक्जिस्टेन्स' (Existence) से मूलत: व्युत्पन्न है। 'एक्जिस्टेन' 'एक्जिस्ट' (Exist) धातु से व्युत्पन्न है। (Exist) का अर्थ है– होना या सत् में आना। 'एक्जिस्टेन्सियलिज्म' विद्यमानता या वास्तविक सत्ता से संबंधित 'वाद' (Ism) है।

'एक्जिस्टेन्सियलिज्य' एक दार्शनिक सिद्धान्त या विधा (Mode) है जो समकालीन दृष्टि से, संकुचित अर्थ में यह कहा जा सकता है कि डैनिश दार्शनिक सोरेन कीर्केगार्ड से प्राप्त हुआ और फ्रांसीसी दार्शनिक ज्यां पाल सार्त्र द्वारा लोकप्रिय एवं प्रख्यात किया गया। [५] इसकी एक परिभाषा के रूप में कहा जा सकता है कि यह इस सिद्धान्त पर आधारित एक आन्दोलन है जो मनुष्य के उत्तरदायित्वों एवं स्वतंत्रता तथा उसके आत्म-निर्णय पर जोर देता है। [६]

'अस्तित्ववाद दर्शनों का एक परिवार है (लगभग सन् १९३० ई. से) जो संसार में मानवीय अस्तित्व की व्याख्या में तत्पर है, जो मानवीय सत्ता की मूर्तता एवं समस्याग्रस्त प्रवृत्ति से संबंधित है तथा जो ऐतिहासिकता से निश्चित मूर्त स्थिति में व्यक्ति को देखता है। [७] इस सिद्धान्त के इतने विविध एवं जटिल अर्थ बहुतायत में मिलते हैं कि इसका एक सुनिश्चित अर्थ असंमव-सा प्रतीत होता है इसीलिये सरलतया इसे परिभाषित नहीं किया जा सकता। [८] इसे एक ऐसी

दार्शनिक चिन्तन-प्रणाली के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें वस्तुनिष्ठता या वैज्ञानिकता का अभाव और आत्मनिष्ठता का भाव समर्थित है।

डॉ. एलेन के अनुसार अस्तित्ववाद द्रष्टा की स्थिति के अतिरिक्त कर्ता की स्थिति से दार्शनिकीकरण का प्रयास है।[९] इसको तर्कणा के विरोध में अबुद्धिवादी दर्शन कहा जा सकता है। यह 'श्रद्धादर्शन' का एक प्रकार है।[१०] यह कोरे मानसिक व्यायाम-मूलक अमूर्त चिंतन से दूर वास्तविक हाड-मांस एवं रुधिर-धारी मनुष्य के अस्तित्व से संबंधित विविध पक्षों– मनोवृत्तियों, घृणा, प्रेम द्वेष, क्रोध तथा वैर इत्यादि से साक्षात् रूप से संबंधित है। असंदिग्धतः इसे व्यक्तिगत मूर्त व्यक्ति से संबद्ध कहा जा सकता है।[११] निश्चयमेव यह दार्शनिक चिन्तन-प्रकार कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के समान ही जर्मनी और फ्रांस की रक्त-रंजित धरती के लिये नव स्वर्णिम विहार तथा व्यावहारिक सिद्ध हुआ।[१२] व्यावहारिक दर्शन से तात्पर्य देश-काल-गत मनुज-अस्तित्व की समस्याओं के समाधान में प्रयासी और समर्थ दर्शन से है। जिस दर्शन में व्यवहारिकता का अभाव होता है, कालान्तर में वह विरोध का शिकार हो जाता है। इस निकष पर निरपेक्ष तर्कणाधृत हीगलीय दर्शन अस्तित्ववाद के विरोध का विषय सिद्ध हुआ।

यह तर्कणा की निरपेक्षता का जोरदार अस्वीकारण है। व्यष्टिगत व्यक्ति (जो समष्टि का प्रतिनिधि है) के स्व-जीवन और अनुभूति के साथ ही यह उसके ऐतिहासिक रूप को भी गम्भीरता से देखता है।[१३] इसका जितना स्पष्टीकरण किया जाय, उतना ही कम है। इसका कारण इसकी विविध जटिलतायें ही हैं। अभी यह दर्शन अत्यधिक जटिलताओं से परिवृत है। इसका कोई एकार्थक अर्थ नहीं है, इसीलिये इसकी परिभाषायें भी अनेक हैं।[१४]

अस्तित्ववाद के महत्त्वपूर्ण और आधारभूत सिद्धांत को ध्यान-गत करते हुये इस प्रकार भी इसे परिभाषा में बांधा जा सकता है :

'अस्तित्ववाद एक ऐसा दर्शन है जो अस्तित्व को सार का पूर्ववर्ती मानकर अस्तित्व को प्रधान और सार को गौण तथा अस्तित्व-निर्मित कहता है।' यह एक विद्रोही दर्शन है। परंपरा-गत पाश्चात्य तर्कणा-मूलक दर्शन के विद्रोह की उपज के रूप में दर्शन, साहित्य एवं कला के विविध क्षेत्रों में यह विद्रोह की पीठिका पर आसीन है।[१५] मेरे विचार से यह एक मूल्यवान् एवं मानव-अस्तित्व के लिये हितकर दर्शन है। यथार्थ पर आधारित होते हुए भी यह यथार्थवाद नहीं है। यद्यपि यह जड जगत् का समादरक है, तथापि भौतिकवादी जडवाद नहीं है। मानव-अस्तित्व की व्याख्यावाले विविध प्रत्ययों (Concepts) से परिपूरित होते

हुये भी न तो प्रत्ययवाद है और न विशिष्ट सत्तात्मक प्रयोजन का मीमांसक होने पर भी प्रयोजनवाद है। यह दर्शन स्वातंत्र्य एवं समाधान का व्यवस्थित कार्य है किंतु संघर्ष, चुनौती, एवं विद्रोह में सर्वाधिक प्रवृत्तितः रचनात्मक प्रयास नहीं कहा जा सकता।[१६] अधिक कठिनाई का अनुभव उस समय किया जाता है जब कतिपय अस्तित्ववादी दार्शनिक भी इस दिशा में स्वयं को अस्तित्ववादी घोषित करने में सकुचाते हैं।[१७] यद्यपि वे स्वयं अपने को अस्तित्ववादी दार्शनिक नहीं कहते हैं तथापि उनके सत्तात्मक अवधान एवं उनकी तर्कणा-विरोधिता से उनको अस्तित्ववादी दार्शनिक मान लिया जाता है।

अस्तित्ववाद की तार्किक व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या एवं परिभाषा के विवेचन के समाहार रूप में हम कह सकते हैं कि यह व्यक्ति की सत्ता पर केन्द्रित, कर्तृत्व भाव मूलक आत्मनिष्ठ दार्शनिक चिन्तन-प्रकार है जिसमें तर्कणा का पूर्ण बहिष्कार नहीं है।

(ग) प्रकार :

अस्तित्ववाद का प्रकार-निर्धारण भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है, जैसे, आलोचनात्मक अस्तित्ववाद, सामाजिक अस्तित्ववाद, दृश्यजगत्‌विषयक अस्तित्ववाद...इत्यादि। अध्ययन की सुविधा के लिये इसे प्रकारों में बांट लिया जाता है। 'ईश्वर' विषय के प्रधान आधार को लेकर इसका वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है : अस्तित्ववादी दार्शनिकों का वह वर्ग जो ईश्वर को मानव-अस्तित्व के लिये अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकारता है और अस्तित्व-बोध में अन्तर्निहित ईश्वर-बोध का भी साक्षात्कार करता है— ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के प्रकार में स्थापित किया जाता है। अस्तित्व के दूसरे प्रकार अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद में अस्तित्ववादी दार्शनिकों का वह वर्ग आता है जो मानव-अस्तित्व की स्वतंत्रता में ईश्वर को बाधक तत्त्व मानकर उसका खण्डन करता है और साथ ही मानव के भले-बुरे प्रत्येक कर्म के लिए मानव को ही उत्तरदायी ठहराता है न कि भाग्य, देवी, देवता या ईश्वर को।

ईश्वरवादी अस्तित्ववाद (Theistic Existentialism) और अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद (Atheistic Existentilism) के संदर्भ में एक परिचयात्मक विवेचन यहाँ प्रस्तुत है :

(अ) ईश्वरवादी अस्तित्ववाद :

ईश्वर की सत्ता में अदम्य एवं अटूट श्रद्धा का समर्थन करने वाला अस्तित्ववादी दर्शन इसी कोटि में आता है। ब्लेसी पास्कल (१६२३ ई. सन्– १६६२

ई. सन्) को इस प्रकार के अस्तित्ववाद का उद्गाता एवं प्रवर्तक माना जा सकता है क्योंकि उन्होंने मानवसत्ता एवं आत्म-स्वातंत्र्य का प्रबल समर्थन करके 'ईश्वरीय अनुग्रह' के सिद्धांत की पुष्टि की थी। उनका पूर्ववर्ती और समकालीन दार्शनिक वर्ग ईश्वर को बाहरी शक्ति एवं सहायक के रूप में मानता था। परंपरागत दर्शन में ईश्वर के निरपेक्ष, सर्वनियन्ता एवं सर्वशक्तिशाली संप्रत्यय को निरपेक्ष वस्तुनिष्ठ तर्कणा से समझाने का प्रयास किया जाता था। तत्त्वमीमांसा एवं तर्क-शास्त्र की तार्किक कोटियों में उसे रखकर सूक्ष्म तर्कणा-मूलक प्रमाणों से सिद्ध किया जाता था। वह मात्र तर्क व विचार का विषय था न कि अनुभूति का। इसीलिये अस्तित्ववाद में परंपरा का कट्टर विरोध देखने को मिलता है। यह परंपरागत ईश्वर विषयक मान्यताओंका खण्डन करता है। ईश्वरवादी अस्तित्ववाद में मानव-अस्तित्व से परे किसी वस्तुनिष्ठ जगन्नियंता ईश्वर को नहीं माना गया है। इस संकोटि में तीन प्रमुख दार्शनिक आते हैं: (१) सोरेन कीर्केगार्ड (१८१३–१८५५ ई. सन्) (२) कार्ल यास्पर्स (१८५३–१९६९ ई. सन्) (३) गैबरील मार्सेल (१८८९–१९७३ ई. सन्)

कीर्केगार्ड के ईश्वरवादी अस्तित्ववाद की तीन प्रमुख अवधारणाएँ हैं: सत्य, चयन एवं ईश्वर। सत्य के विषय में उनका कहना है कि सत्य कोई बाह्य तत्त्व नहीं, वह आत्मनिष्ठ है। सत्य व्यक्ति में सदा विद्यमान है।[१८] चयन का सर्वोत्तम उदाहरण 'या तो यह या वह' (आइदर–आर) उनकी पुस्तक में है। ईश्वर के विषय में उनका मत है कि ईश्वर वस्तुनिष्ठ नहीं, आत्मनिष्ठ है। यह अस्तित्व गम्भीर गहराई में आसीन है जो अन्तर्प्रेरणा देता रहता है।

कार्ल यास्पर्स के विचार से दर्शन का आरम्भ दार्शनिक की स्वयं की सत्ता से होता है। दर्शन कोरी तर्कणा का विषय नहीं, अपितु प्रातिभज्ञान-मूलित है। यास्पर्स ने कोरे वस्तुनिष्ठ बुद्धिवाद का विरोध किया है और आत्मनिष्ठता का समर्थन किया है। उनके विचार से ईश्वर की अनुभूति स्वतंत्र एवं अतिक्रामी मानव-अस्तित्व के संबोध से ही संभव है। मानव-अस्तित्व के प्रत्येक स्तर पर स्वतंत्रता लक्ष्यमूल है।[२०] यास्पर्स तर्कणा को प्रातिभज्ञान के सहायक के रूप में देखते हैं। वे दर्शन और विज्ञान को परस्पर सापेक्ष मानते हैं। अस्तित्वाद के लिये उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने प्राचीन और नवीन दर्शन का समन्वयन करके तर्कणा एवं प्रातिभज्ञान के पारस्परिक सनातन द्वन्द्व को क्षीण करने का प्रयास किया है।

गैबरील मार्सेल के अनुसार ईश्वर वस्तुगत या वैज्ञानिक तर्कणा द्वारा नहीं, अपितु आत्मनिष्ठता या वैयक्तिक आभ्यन्तरता द्वारा ही प्राप्तव्य है। वे भक्ति-

भावना में ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करते हैं। [२१] वे इस बात में विश्वास करते हैं कि तर्कणा द्वारा विखण्डित एकता प्रातिभज्ञानात्मक विश्वास, श्रद्धा एवं प्रेम द्वारा पुनः प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर को पाने के लिए वे 'स्व' का अतिक्रमण एक आवश्यक शर्त मानते हैं। उन्हें ईश्वर पर पूर्ण विश्वास है। उनकी दार्शनिक यात्रा 'समस्या' से 'रहस्य' की ओर होती है।

(ब) अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद :

अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद की संकोटि में अस्तित्ववादी दार्शनिकों का वह वर्ग आता है जो ईश्वर का या तो पूर्णतः खण्डन करता है अथवा उसके विषय में उदासीन या चुप है। यह वर्ग मानव को ही उसके भले-बुरे कार्यों के प्रति उत्तरदायी मानता है। इस संकोटि के तीन प्रमुख दार्शनिक हैं : १) फ्रेड्रिक नीत्शे २) मार्टिन हाइडेगर ३) ज्यां पाल सार्त्र

फ्रेड्रिक नीत्शे के अनुसार 'ईश्वर मर गया है'। अब ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को सब कुछ करना है। वही कर्ता और भोक्ता है। अपने हानि-लाभ, यश-अपयश, सुख-दुःख के लिए वही जिम्मेदार है। नीत्शे के दर्शन का लक्ष्य 'अतिमानव' का विकास है। वे मनुष्यता के स्तर का अतिक्रमण करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य नहीं अतिमानव ही मनुष्य को सुखी बना सकता है। उनके विचार से न कोई स्वर्ग है और न नरक और न ईश्वर। 'अतिमानव' ही पृथ्वी को स्वर्ग में परिणत करने का अधिकारी है।

नीत्शेने समसामयिक मसीही मण्डलियों पर दार्शनिक आक्रमण किया। उनके ढोंग, पाखण्ड, विवेकरहित आचरण एवं कथनी-करनी की भरपूर निन्दा करके उन्होंने सत्य का प्रकाशन किया। इस कार्य में वे मानसिकतया अशांत रहे। उनका कहना है कि 'मैं मनुष्यों के लिये पुनः शान्ति ला दूंगा, जो समस्त संस्कृतियों का आधार है'। इस विषय पर आलोचना करते हुए विल डूरेण्ट महोदय का कथन है कि कोई व्यक्ति वह वस्तु कैसे दे सकता है जो उसके पास नहीं है। क्योंकि नीत्शे तो आजीवन अशांत और भीडतंत्र से विक्षुब्ध रहे।

अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद के दार्शनिक मार्टिन हाइडेगर एक प्रधान संवृतिशास्त्री (फिनामिनालाजिस्ट) भी हैं। वे वपने को अस्तित्ववादी कहलवाने में अरुचि रखते हैं। उनके दर्शन का मूलाधार 'परमसत्' है। उनके विचार से 'परमसत् (Being) से ही मानव-अस्तित्व आलोकित होता है। वे 'न-कुछ' (Nothing) के विवेचन में तत्त्वमीमांसीय सूक्ष्मतर्कणा पर जोर देते हैं। अपने

दर्शन में उन्होंने तर्कणा एवं प्रातिभज्ञान का समन्वय करने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार मनुष्य एक प्रबुद्ध पशु नहीं है अपितु उसकी अपनी अतिक्रमण प्रधान प्रकृति है। वे ईश्वर के विषय में न खण्डन करते हैं और न मण्डन ही। इस विषय में उदासीन रहकर वे इस मान्यता की स्थापना करते हैं कि मनुष्य इस जगत् में फेंक दिया गया है। वह परमसत् से विमुख होकर बेघरबार-सा हो गया है। उसका अस्तित्व 'न-कुछ' है। हाइडेगर अनुभूति-पक्ष पर पूरा जोर देते हैं और इसलिए जिसे परंपरावादी वैज्ञानिक चिन्तन-प्रणालीवाले दार्शनिकों ने उपेक्षित किया था, उस प्रातिभज्ञान का वे समर्थन करते हैं।

ज्यां-पाल-सार्त्र अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद के सर्वाधिक अग्रणी दार्शनिक हैं। वे अपने अनीश्वरवाद में इस बात पर पूरा जोर देते हैं कि मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है।[२६] कोई बाह्य सहायक सत्ता नहीं है। जो कुछ है वह 'न-कुछ' है– यही मनुष्य है। वह सदा संत्रस्तरूपेण स्वतंत्र है।

सार्त्र एक शून्यवादी दार्शनिक हैं। वे भविष्यदभिमुख हैं। भविष्य शून्य है।[२७] उसी ओर उनकी दृष्टि लगी है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे अतीत और वर्तमान की ओर ध्यान नहीं देते। उनका कहना है कि मनुष्य निषेधक शून्यता की स्थिति में है। उनके एक उपन्यास का पात्र ओरेस्टस कहता है–

"अब मैं अनियंत्रित हूँ, मैं अपने तथाकथित दुष्कृत्यों के होते हुए भी स्वातंत्र्य के गौरव में मस्त हूँ।"

सार्त्र पर आरोप लगाया जाता है कि वह उत्तरदायित्व का महत्त्व समझते हुए भी एक महान् त्रुटि करता है कि अनुभवातीत तत्त्वों की विद्यमानता स्वीकार नहीं करता। किन्तु, जहां तक ईश्वर के संबंध की बात है, वह स्पष्टतः कहता है कि यह सच है कि ईश्वर की संभावना नहीं है क्योंकि व्यवहार में मनुष्य स्वतंत्र है। ऐसा देखा जाता है कि ईश्वर मनुष्य को बुरे कर्म करने से नहीं रोकता–इसलिए इस अनुभवातीत तत्त्व में कोई सच्चाई नहीं है।

(घ) विशेषतायें :

अस्तित्ववादी दार्शनिकों में 'अस्तित्व सार से पहले है' इस कथन पर मतैक्य है किन्तु ईश्वर, जगत्, जगत् में मानव, मानव और उसका समाज, तत्त्वमीमांसा, धर्म, आचरण, मृत्यु एवं अवस्तुता (Nothingness) प्रभृति विषयों पर मतवैभिन्य है।

अस्तित्ववाद के अर्थ, परिभाषा एवं प्रकार पर विवेचन के उपरान्त उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को इस प्रकार अंकित किया जा सकता है[२८] : १) एक संघर्ष अभियान[२९] २) मनुष्य की दुर्दशा का निदान ३) अस्तित्व की प्रमुखता में विश्वास ४) मनुष्य की अन्तरानुभूति पर जोर ५) स्वातंत्र्य एवं उत्तरदायित्व का प्रत्यभिज्ञान ६) मनुष्य की दुर्बलता एवं असुरक्षा पर जोर ७) तर्कणा की निरपेक्षता का विरोध ८) तर्कणा एवं प्रातिभज्ञान के समन्वय का प्रयास।

अस्तित्ववाद परम्परा-गत वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ तर्कणा पर आधारित दर्शन के विरोध में एक क्रान्तिकारी संघर्ष-अभियान है। १९ वीं शताब्दी में सोरेन कीर्केगार्ड ने यह अनुभव किया था कि हीगलीय तत्त्वचिन्तनमूलक निरपेक्ष एव सामान्य सर्वग्राही तर्कणा में मानव-अस्तित्व पूर्णतः उपेक्षित हो चुका था, इसलिए उन्होंने मानव-अस्तित्व के हित में एक वैचारिक संघर्ष छेड़ा था। उनके संघर्षशील विचारों को लोगों ने समझा और यह पाया कि उन्होंने अपने संपूर्ण अस्तित्व को समस्याओं में डालकर उनका समाधान निकालने का प्रयास किया। वे द्रष्टा बनकर दूर नहीं खड़े हुये।[३०]

अस्तित्ववाद की एक प्रमुख ऐतिहासिक विशेषता के रूप में कहा जा सकता है कि यह तर्कणा-युग के विपरीत एक प्रतिक्रिया है।[३१] यह बुद्धिवाद के सभी प्रकारों के विरोध में है जो इस मान्यता के साथ प्रवर्तित होते हैं कि बौद्धिक साधनों द्वारा ही सत्य की प्राप्ति हो सकती है। यह इस अभिस्वीकृति का प्रबल अस्वीकरण है कि तार्किक प्रणाली की संरचना ही सत्य तक पहुँचने की समुचित विधि है। यह यांत्रिकता एवं प्रकृतिवाद का विरोधी है। आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ सत्य का स्पष्ट विभाजन एवं आत्मनिष्ठ सत्य को प्राथमिकता देना इस चिन्तन-विद्या की विशेषता है।

'अस्तित्ववादी दार्शनिक हमारे संध्यान को एक प्रमुख तथ्य की ओर आकर्षित करते हैं– वह तथ्य यह है कि अन्तिम सत्य की खोज में सम्पूर्ण मानव-अस्तित्व है न कि केवल मानव-अस्तित्व का एक भाग बुद्धि या तर्कणा ही है। सत्यानुसंधान में संपूर्ण मानव-अस्तित्व अधिगृहीत एवं आवेष्टित (इन्वाल्ड्) है। मनुष्य की इच्छायें एवं उसके संवेग अभ्युत्थित (एराउज्ड्) एवं सत्य-संपृक्त होने चाहिए ताकि वह जो सत्य देखता है, उसी में जिये भी[३२]। यह 'व्यक्ति कैसे अपने अस्तित्व का बोध करे अथवा किस प्रकार सत्ता-प्रधान जीवन व्यतीत करे?' से संबंधित विवरणिका रखता है।[३३] यह सत्ता के बौद्धिकीकरण या सत्ता के निरपेक्ष चिन्तन के प्रयत्न के अस्वीकरण के परिणामस्वरूप एक महान् दार्शनिक उपलब्धि है, जिसका आधार सत्ता का अपरोक्ष अव्यवहित अनुभव है। यह दर्शन संघर्ष

प्रधान है ।[३४] इसलिए इसमें व्यक्ति की दुर्दशाओं के चित्रण की दार्शनिक ईमानदारी है । यह व्यक्ति के यथार्थ रूप को देखने का और स्थिति के अनुकूल उसे प्रेरित करने का क्रान्तिकारी प्रयास है । वर्तमान सांस्कृतिक-वैज्ञानिक विपदाओं के लिए यह महत्त्वपूर्ण उपचार है । जैसाकि अस्तित्ववादी मान्यता है कि मानव-अस्तित्व विसंगतियों एवं निरर्थकताओं का एक जटिल पुंज है, यह चतुर्दिक् व्याप्त तनावों, स्वार्थों एवं घृणाओं को गम्भीरता से अनुभूत करता हुआ उसके परिशमन की विधि ढूंढता है । इसे जिजीविषा के संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है ।

अस्तित्ववाद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता अस्तित्व को सार का पूर्ववर्ती मानना है ।[३५] इसके अनुसार सार मानव-निर्मित है । दूसरे शब्दों में इसे यों कह सकते हैं कि सार मानव-अस्तित्व से उद्भूत और विकसित होते हैं न कि अस्तित्व सार से । तर्कणायुग में अथवा हीगलीय दर्शन में अस्तित्व को सार की अनुकृति के रूप में माना गया है । प्लेटो के अनुसार सार या विज्ञान के अनुसार ही सृष्टि (अस्तित्व) की रचना हुई है । अस्तित्ववाद में इस मान्यता को उलट दिया गया है ।

'मनुष्य की अन्तरानूभूति पर जोर' अस्तित्ववाद की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है । अस्तित्ववादी अपने को व्यक्तिवादी चिन्तक इसलिए भी मानते हैं। वे सामूहिकता में व्यक्ति के विलीनीकरण (Absorption) के विरोधी हैं। आन्तरिकता में अन्तर्दृष्टि के सभी पक्षधर हैं । अन्तर्दृष्टि या प्रातिभज्ञान ही केवल निश्चिततम दर्दनिवारक औषधि है जो आधुनिक सभ्यता की प्रभावी व्याधियों को दूर करती है । अस्तित्ववाद एक सम्यक् संरचित वैचारिक प्रणाली नहीं है बल्कि यह एक विशिष्ट चिन्तन-विधा है[३६] जो तर्कणा और प्रातिभज्ञान का मंजुलसमन्वय करने पर जोर देती है । कीर्केगार्ड तथा अन्य अनेक अस्तित्ववादी विचारकों के अनुसार सत्य बुद्धि को नहीं अपितु संपूर्ण अस्तित्व को, अन्तःप्रदेश को जब संतुष्ट करे, तभी वास्तविक सत्य है । वास्तविक प्रगति तो भीतर से ही संभव है ।[३७]

जैसाकि अस्तित्ववादी विचारक कहते हैं कि मनुष्य का आन्तरिक जीवन, उसके भाव एवं निर्णय के साथ अवधान का केन्द्र बन जाता है, यह उचित ही है क्योंकि आन्तरिकता में समूची आन्तरिक शक्ति निहित है । सत्य का अनुभव हम अपने भीतर ही करते हैं ।[३८]

अस्तित्ववाद मानव-अस्तित्व को स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व से मण्डित करना चाहता है । यह व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता का पक्षपाती है । अस्तित्व के प्रति सावधान और उत्तरदायी बनाना इसकी एक प्रधान विशेषता मानी जा सकती है ।

इसी सन्दर्भ में वह प्रत्येक निर्णायकवाद (Determinism) का विरोधी है। उसके अनुसार मनुष्य का विकल्प, चुनाव एवं अबाधित-बाधित स्वातंत्र्य ही उसके उत्थान और पतन के लिए उत्तरदायी है। स्वातंत्र्य जानने में कम किन्तु अनुभव में अधिक[३९] और वस्तुनिष्ठ विधि-अगम्य है।

ज्यां पाल सार्त्र के अनुसार मनुष्य का प्रत्येक कार्य उसकी स्वतंत्र पसंदगी का द्योतक है।[४०] स्वतंत्र पसंदगी का तात्पर्य अस्तित्वात्मक चेतना से है। अस्तित्वात्मक चेतना विकल्प की स्वतंत्रता एवं चेतना है।[४१] विकल्प या वरण सत्ता का अनिवार्य अंग है। कार्ल यास्पर्स कहते हैं: 'चुनने में मैं हूँ और अगर मैं नहीं हूँ तो इसलिए कि मैं चुनने में सफल नहीं हूँ।'[४२]

चयन-स्वातत्र के कारण ही व्यक्ति अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायी है। वह अपने व्यक्तिगत रूप में ही संपूर्ण मानव-समाज के लिए महान् उत्तरदायित्व लिये है।[४३] सार्त्र इस बात पर जोर देते हैं कि 'उस क्षण से, जब से वह (मनुष्य) इस संसार में फेंक दिया गया है, जो हरेक कार्य वह करता है उसके लिये वह स्वयं उत्तरदायी है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्ववाद मानव-अस्तित्व की रक्षा करने में अधिक समर्थ और व्यावहारिक दर्शन है। इसमें जो कुछ त्रुटियां मिलती हैं वे 'फिलॉसफीपन' के कारण ही हैं।

मूल्यांकन :

अस्तित्ववाद के संदर्भ में प्रदत्त इस विवेचन से उसके उद्भव, प्रकार-प्रभृति विषयों पर एक संक्षिप्त प्रकाश के साथ ही समकालीन दर्शन, मनोविज्ञान, शिक्षा, कला व विविध साहित्यिक विधाओं पर इसके उत्तरोत्तर प्रगतिशील प्रभावों के प्रति संचेतना उभरती है। विशुद्ध तार्किक निकष पर अस्तित्ववाद का परीक्षण विरोधाभासों और बहुत सारी निरर्थकताओं का पुंज प्रस्तुत कर देता है और ऐसा लगता है कि यह प्रविधि सुवर्ण की कसौटी पर सुमन के परीक्षण की अनुपयोगी प्रविधि जैसी ही है।

तर्कणा-निरपेक्षता का विरोधी अस्तित्वाद मार्टिन हाइडेगर एवं ज्यां पाल सार्त्र के दर्शन तक पहुँचकर अपने प्रस्थान बिन्दु को बहुत पीछे धकेल देता है अर्थात् प्रातिभज्ञान पर तार्किक अनुशासन स्थापित कर देता है। सार्त्रीय दर्शन की सदसत्, चेतना एवं मनोविज्ञान की अवधारणाओं में वस्तुनिष्ठ विशुद्ध तर्क-बुद्धि को ही प्रधानता दी गई है। यहीं यह तथ्य स्पष्टत: प्रमाणित होने लगता है कि

अस्तित्ववाद जिस अन्तरानुभूति को गुरु गम्भीर गहराई में उतरकर मानव-अस्तित्व को अनेकानेक, वैज्ञानिक दुष्परिणामों एवं व्याधियों से बचाना चाहता है, तार्किक संपाश में उलझ जाता है और अपने इस चयन से वह पाश्चात्य परंपरागत 'फिलॉसफी' (सत्य-प्रेम) तक ही सीमित हो जाता है। जिस प्रातिभज्ञानात्मक ज्ञानैक्य की संप्रेरणा से अस्तित्ववाद के जनक सोरेन कीर्केगार्ड ने मानव-अस्तित्व की गहराई में आसीन ईश्वर का बोध प्राप्त किया था तथा कार्ल यास्पर्स एवं गैबरील मार्सेल ने जिसका अनुकरण किया था, फ्रैड्रिक नीत्शे एवं सार्त्र के चिन्तन में वह नगण्य एवं उपेक्षित होकर 'अनीश्वरवाद' के रूप में परिणत हो गया जो लक्ष्यान्तरण और भटकाव के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अस्तित्ववाद मनुष्य की अन्तरानुभूति पर अधिक बल दे कर उत्तरदायित्व एवं स्वतंत्रता का प्रबल समर्थन करता है। इसमें वैयक्तिकता की सुरक्षा है और इसीलिये भीड़ वृत्ति से विद्रोहिता भी। आज का मनुष्य अपनी साजाजिक-आर्थिक एवं अनिवार्य दलमूलक भीड़-वृत्ति-प्रधान राजनीतिक परिस्थिति में अपनी वैयक्तिकता को विस्मृत कर चुकने को बाध्य हैं। अतः ऐसी चुनौती-पूर्ण स्थिति से डटकर विना सामना किये उसका अस्तित्व बच नहीं सकता है। कोरा दार्शनिकीकरण बुरा स्वातंत्र्य और बुरा दायित्व-बोध कराकर मनुष्य को भ्रमित कर सकता है। अस्तित्ववाद इस रोग से अप्रभावित नहीं लगता है।

दार्शनिकीकरण और तदनुकूल कर्तापन, ज्ञान और क्रिया इन द्वि दिशाओं को संकेतित करते हैं। डॉ. एलेन के अनुसार अस्तित्ववाद द्रष्टा की स्थिति के अतिरिक्त कर्ता की स्थिति से दार्शनिकीकरण का प्रयास है। विशुद्ध और अमूर्त दार्शनिकीकरण से बचने के लिये यह जिस मूर्त स्थिति में ऐतिहासिक मानव-अस्तित्व की विवेचना करता है, वह दार्शनिकीकृत मूर्त अस्तित्व है जो डेकार्टीय अभ्युक्ति 'कॉगिटो इरगो सुम' का विलोम 'सुम इरगो कॉगिटो' का दार्शनिकीकृत रूप है। इससे असली समस्या सुलझती नहीं है बल्कि मात्र पक्ष के लिये एक प्रतिपक्ष सृजित करके उदासीन होकर बैठ जाना और 'समन्वय' की अभिज्ञा न करना जैसा है।

अस्तित्ववाद अपने अधिकांश प्रयोजनों में विद्रोही दर्शन के रूप में लक्षित होता है किन्तु इसकी विद्रोहिता विद्रोहिता की दार्शनिकता तक ही देखी जाती है, ऐसा नहीं जैसा कि कार्ल मार्क्सीय या लेनिनीय दर्शन की प्रखर और स्थूल विद्रोहिता हो। इस तथ्य का पता लगाना अत्यावश्यक है कि इसके विद्रोही स्वरूप की सार्थकता असंदिग्ध क्यों नहीं है? क्या मात्र तर्कणा की निरपेक्षता को बहिष्कृत करके और इस कार्य-हेतु उत्कृष्ट का पल्ला पकड़ व्यावहारिकता लाई जा सकेगी?

क्या मानव के चिन्तन और चरित्र में विना सामंजस्य बिठाये दर्शन को उपयोगी और लाभप्रद बनाया जा सकेगा ?

जहाँ तक वस्तुनिष्ठ तर्कणा प्रधान सैद्धान्तिक तथ्यों या दूसरे व्यक्ति के अनुभवों की बात है, उसका आत्मनिष्ठीकरण आवश्यक है। जब तक वे सिद्धान्त व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व में सात्मीकृत नहीं हो जाते, तब तक वे आत्म प्रवंचक ही होते हैं। अस्तित्ववाद इस कसौटी पर समस्त सत्यों का पुनर्परीक्षण करता है। इस कार्य में उलझे दार्शनिक के समग्र अस्तित्व से उसका मूल्यांकन न्यायोचित है न कि दूर द्रष्टापन से।

नारंग इन्टर कालेज
वाल्टरगंज–बस्ती (उ. प्र.)

– रामदास पाण्डेय 'गंम्भीर'

टिप्पणियाँ

१. विलडूरेण्ट : दर्शन की कहानी, हिन्दी अनु. श्री कैलाशनारायण चौधरी, किताब महल प्रा. लि., इलाहाबाद, १९६३, पृ. २९५
२. ए. थालहीमर : एक्जिस्टेन्सियल मेटाफिजिक्स, फिलॉसाफिकल लाइब्रेरी न्यूयार्क, १९६०, पृ. ६०२
३. श्री तारानाथ भट्टाचार्य : शब्दस्तोम महानिधि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६७, पृ. ५७
४. वी. एस. आप्टे : संस्कृत हिन्दी कोश, वाराणसी, १९६८ पृ. १३२
५. ए. एस. हार्नवाई : आक्सफोर्ड एडवांस्ड लर्नर्स डिक्शनरी आफ करेंट इंग्लिश, पृ. ३०२
६. द रैन्डम हाउस डिक्शनरो आफ द इंग्लिश लैंग्वेज
७. द न्यू एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (शिकागो)
८. द एन्साइक्लोपीडिया आफ फिलॉसफी, वोल्यूम–३, पृ. १४७
९. उद्धृत द्वारा– फ्रैड्रिक काप्लेस्टन : कान्टेम्परेरी फिलॉसफी, पृ. १२७–१२९ द्रष्टव्य।
१०. एफ. थिली : ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, सेन्ट्रल बुक डिपार्टमेन्ट, इलाहाबाद, १९५८ पृ– ५८५
११. एच. एच. टाईटस : लिविंग इस्सूज इन फिलॉसफी, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. २९६

१२. ज्यां पाल सार्त्र : **एक्जिस्टेन्सियलिज्म एण्ड ह्यूमैनिज्म**, अंग्रेजी अनु.– फिलिप मैरेट, मेथुइन एण्ड कं. लि. लन्दन, १९५७ पृ. १६–१७

१३ पाल रुबिचेक : **अस्तित्ववाद–पक्ष और विपक्ष**, हिन्दी अनु. डॉ. प्रभाकर माचवे, मध्यप्रदेश हि. ग्रं. अ. भोपाल, १९७३ पृ. ११

१४. विलियम ए. शियर्सन : 'द कामन एसम्प्सन्स आफ एक्जिस्टेन्सियलिस्ट फिलॉसफी' **इण्टरनेशनल फिलॉसाफिकल क्वार्टरली**, फोर्ड हैम युनिवर्सिटी, ब्रान्क्स, न्यूयार्क, जून १९७५ वोल्यूम– XV, नं. २

१५. वाल्टर कॉफमैन : **एक्जिस्टेन्सियलिज्म फ्राम डोस्टोवस्की टु सार्त्र**, मेरिडियम बुक्स, १९५६, पृष्ठ–

१६. एच. जे. ब्लैखम : **सिक्स एक्जिस्टेन्सियल थिंकर्स**, राउट्लेज एण्ड केगन पाल, लन्दन, १९५२, पृ. १६३

१७. फरमैण्डो मोलिना : **एक्जिस्टेन्सियलिज्म ऐज फिलॉस्फी**, इंग्लेवूड क्लिफ्स प्रेन्टिस हाल, न्यूजेर्सी, १९६२ पृ. २

१८. के. एफ. रीनहर्ट : **एक्जिस्टेन्सियलिस्ट रिवॉल्ट**, न्यूयार्क, १९६० पृ. १५ देखें– फ्रैड्रिक काप्लेस्टन : **कान्टेम्परेरी फिलॉसफी**, पृ. १४७ ज्यां पाल सार्त्र : **एक्जिस्टेन्सियलिज्म एण्ड ह्यूमैनिज्म**, पृ. २६

१९. एफ थिली : **ए हिस्ट्री आफ फिलॉसफी**, पृ. ५८४

२०. डेविड ई. राबर्टस् : **एक्जिस्टेन्सियलिज्म एण्ड रिलीजिअल बिलीफ**, न्यूयार्क, ऑक्सफोर्ड यू. प्रेस, १९५७, पृ. २३६

२१. डॉ. हृदयनारायण मिश्र : **अस्तित्ववाद**, किताबघर, आचार्यनगर कानपुर १९६८ पृ. २५४

२२. एच. ए. रेबर्न : **नीत्शे**, मैक्मिलन एण्ड कं. लि. लन्दन, १९४८ पृ. ३०८

२३. विलडूरेन्ट : **दर्शन की कहानी**, पृ. ४२७

२४. एच. जे. ब्लैखम : **सिक्स एक्जिस्टेन्सियल थिंकर्स**, पृ. १००

२५. एच. एच. टाइटस : **लिविंग इस्सूज इन फिलॉसफी**, पृ. ३०४,

२६. पाल रूबिचेक : **अस्तित्ववाद– पक्ष और विपक्ष**, पृ. १२०

२७. ज्यां पाल सार्त्र : **बींग एण्ड नथिंग्नेस**, पृ. ४३७

२८. टाइटस : **लि. इ. फि.** पृ. २९६–३०० (द्रष्टव्य)

२९. डेविड ई. राबर्टस : **एक्जिस्टेन्सियलिज्म एण्ड रिलीजिअस बिलीफ**, पृ. ४

३०. फैड्रिक काप्लेस्टन : **कान्टेम्परेरी फिलॉसफी**, पृ. ५८५

३२. डेविड ई. राबर्टस : **ए. रि. बिलीफ**, पृ. ६

३३. टिप्पणी सं. ३१, पृ. ५८६–५८७

३४. टिप्पणी सं. २४ पृ. १४९–१५०
सहायतार्थ देखें– टिप्पणी सं. १५, पृ. १२

३५. टिप्पणी सं. २५, पृष्ठ २९९

३६. डॉ. पी. बी. विद्यार्थी : 'एक्जिस्टेन्सियलिज्म इन् द पर्सपेक्टिव आफ एन्शियन्ट इंडियन थॉट्' **रिसर्च जर्नल आफ फिलॉसफी** (रांची), १९७६ तथा मार्च १९७७

३७. सांतायना : **लाजिक आफ रीजन**, पृ. १२३

३८. टिप्पणी सं. २८ पृ. २९९–३००

३९. टिप्पणी सं. १६, पृ. ३००

४०. ज्यां पाल सार्त्र : **बींग एण्ड नथिंग्नेस**, अंग्रेजी अनु. एच. ई. बार्न्स, फिलॉसाफिकल लाइब्रेरी, न्यूयार्क, १९५६ पृ. ४३५

४१. के. एफ. रीनहार्ट : **द एक्जिस्टेन्सियलिस्ट रिवॉल्ट**, न्यूयार्क, १९६० पृ. १८१

४२. कार्ल यास्पर्स : **फिलॉसफी II**, अंग्रेजी. अनु. ई. बी. ऐस्टन, द युनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस, शिकागो, १९७० पृ. १८२

४३. ज्यां पाल सार्त्र : **एक्जिस्टेन्सियलिज्म एण्ड ह्यूमैनिज्म** पृ. २६, ३४ तथा ५० द्रष्टव्य।

मीमांसा का अर्थवाद और कुछ दार्शनिक समस्याएँ

मीमांसा पदावली में प्रशंसा-परक या निन्दापरक वाक्यों को अर्थवाद कहा जाता है। अर्थवाद (चाहे विधिशेष हो या निषेधशेष) को जैमिनि ने विधि वाक्य का पूरक माना है। कुछ आलोचक ऐसे हैं जो अर्थवाद वाक्यों को अक्रियार्थक वचन कहते हैं और उन्हें अप्रमाण कहते हैं। लेख के प्रथम भाग में अर्थवाद से सम्बन्धित विभिन्न आलोचनाओं तथा मीमांसा दर्शन द्वारा उनका निराकरण और अर्थवाद के प्रतिपादन को प्रस्तुत किया गया है। लेख के द्वितीय भाग में अर्थवाद को सम-सामयिक भाषादर्शन के परिप्रेश्य में समझने का प्रयास किया गया है।

मीमांसा मत के अनुसार वेद (मंत्र और ब्राह्मण) नित्य हैं।[1] ब्राह्मण वाक्य ही प्रायः क्रिया का बोधन एवं कर्म को प्रवृत्त करते हैं परन्तु कहीं-कहीं पर क्रिया बोधक वाक्य (या विधायक वाक्य) के साथ कुछ ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जो क्रिया उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं। इन वाक्यों (अर्थवाद) पर आलोचकों ने आक्षेप करते हुए छः आपत्तियाँ उठाई हैं और इन आपत्तियों के कारण वे वेदों की नित्यता और प्रामाणिकता पर संदेह करते हैं। प्रथम आपत्ति यह है कि अगर वेदों का सम्बन्ध यागादि कर्मों से है तो ऐसे वेद-कथन जिनका सम्बन्ध यागादि कर्मों से नहीं है वे निरर्थक हैं और उन्हें नित्य नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के रूप में इन वाक्यों पर विचार कीजिए : (अ) "वह रोया, जो रोया वह रुद्र का रुद्रत्व हुआ।[2] (ब) "प्रजापति ने अपनी वपा (पेट की झिल्ली के रूप में चर्बी) को निकाला।"[3] (स) देवों ने देवयजन (वेदी) में बैठकर दिशाओं को नहीं जाना।"[4] ये वाक्य किसी धर्म या कर्म का ज्ञान नहीं कराते। अध्याहार या गौणार्थ की कल्पना से भी इन वाक्यों द्वारा किसी क्रियाबोधक अर्थ की कल्पना सम्भव प्रतीत नहीं होती।

द्वितीय आलोचना यह कहकर की गई है कि ऐसे वाक्यों द्वारा ऐसी बहुत सी बातें सामने आती हैं जो शास्त्र और प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा सिद्ध नहीं होतीं। अतः शास्त्र विरोध, दृष्ट विरोध और शास्त्रदृष्ट विरोध के कारण ये अक्रियार्थक

वचन अप्रमाण हैं। उदादरण के रूप में इन कथनों को ले सकते हैं: (अ) "मन चोर है, वाणी झूठ बोलने वाली है।"[५] (ब) इसलिए अग्नि का धुंआँ ही दिन में दिखाई देता है, ज्वाला दिखाई नहीं देती। इसलिए अग्नि की ज्वाला ही रात्रि में दिखाई देती है धुआँ दिखाई नहीं देता।"[६] (स) "हम यह नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं अथवा अब्राह्मण।"[७]

तृतीय बात यह है कि श्रुति द्वारा प्रतिपादित कर्मफल का अभाव होने से भी अक्रियार्थ वचन अप्रमाण है। उदाहरण के रूप में हम निम्न कथनों को ले सकते हैं: (अ) इस (गर्गत्रिरात्र ऋतु) को जो इस प्रकार जानता है, उसका मुख सुशोभित होता है।"[८अ] (ब) "इसकी प्रजा में वाज या अन्नवाला उत्पन्न होता है जो इस प्रकार जानता है।"[८ब] इन कथनों में जिन फलों की चर्चा की गई है वे प्राप्त नहीं होते अतः ये कथन निरर्थक हैं।

चतुर्थ आपत्ति यह है कि वेदों में ऐसे कथन हैं जैसे कि 'यजमान (अग्न्याधान कर्म की) पूर्णाहुति से सब कामनाओं को प्राप्त करता है।[९अ] 'पशुबन्ध-याग को करने वाला सब लोकों को जीत लेता है,[९ब] जो यह बताते हैं कि कुछ कर्मों से सभी इच्छाओं की पूर्ति होती है। अगर यह बात सही है तो अन्य कर्म निरर्थक हो जायेंगे। अतः इस प्रकार के कथनों द्वारा वेदों की प्रामाणिकता पर कुठाराघात होता है।

पंचम आलोचना है: ऐसे कर्मों, (उदाहरण के रूप में, 'पृथ्वी पर अग्नि का चयन नहीं करना चाहिए न अन्तरिक्ष में और न द्युलोक में'[१०]) को करने का वेद द्वारा निषेध, जिनका करना असम्भव है, औचित्यपूर्ण नहीं है।

अन्तिम और छठी आलोचना यह है कि वेदों में अनित्य वस्तुओं का वर्णन मिलता है जैसे कि 'प्रवहण के पुत्र बवर ने कहा' (तै. सं. ७. १. १०) जैसे कथन में ऐसे व्यक्तियों के नाम हैं जो मरणशील हैं।

उपरोक्त आलोचनाओं के उत्तर के रूप में एवं अर्थवाद वाक्यों को सही संदर्भ में समझने की दृष्टि से मीमांसा सूत्रकार जैमिनि का कहना है कि अर्थवाद (अक्रियार्थ वचन) को विधि की प्रशंसा या निषेध के रूप में समझा जाना चाहिए।[११] दूसरे शब्दों में, अर्थवाद वाक्य को विधिवाक्य के साथ पढ़ना चाहिए क्योंकि ये वाक्य रचना की दृष्टि से और वाक्यार्थ की दृष्टि से विधि वाक्यों से सम्बन्धित होते हैं। दोनों की एक-वाक्यता मानी जानी चाहिए।[१२] अर्थवाद विधेय अर्थ की प्रशंसा करता है अथवा निन्दा। इस दृष्टि से अर्थवाद के विधिशेष और निषेध शेष ऐसे दो भेद किये गये हैं।

अर्थवाद का तात्पर्य क्या है ? इन्हें किस प्रकार सार्थक रूप में समझा जाए ? इन प्रश्नों के उत्तर में सूत्रकार का मत है कि इनका अभिधार्थ न लगाकर इनको लाक्षणिक अर्थ में समझा जाये। स्पष्टता के लिए विधिशेष अर्थवाद का निम्नलिखित उदाहरण लें– 'ऐश्वर्य की कामना करने वाला, वायु देवता वाले श्वेत (पशु) का स्पर्श करें, वायु अत्यन्त शीघ्रकारी देवता है।'[13] उपरोक्त उदाहरण में 'वायु अत्यन्त शीघ्रकारी देवता है' (अर्थवाद) की एकवाक्यता 'ऐश्वर्य की कामना करने वाला वायु-देवता वाले श्वेत (पशु) का स्पर्श करे' इस विधि वाक्य को साथ लेने से बनती है। "वायु अत्यन्त शीघ्रकारी देवता है" यह (अर्थवाद) कथन वायु की प्रशंसा करता है। यहाँ इसका लाक्षणिक अर्थ यह है कि वायु देवता शीघ्रगामी है अतः ऐश्वर्य भी शीघ्रता प्रदान करता है। यह बात पढकर या सुनकर व्यक्ति (जिसमें ऐश्वर्य प्राप्ति करने की कामना है या जो अधिकारी व्यक्ति है) का कर्म में प्रवृत्त होना स्वाभाविक है।

इसी प्रकार की व्याख्या निषेध-शेष (अर्थवाद) की भी की जा सकती है। "यज्ञ में चांदी नहीं देनी चाहिए"। रजतदान की निन्दा इस अर्थवाद से हुई 'वह रोया जो रोया वह रुद्र का रुद्रत्व हुआ।'[14] इस कथन का तात्पर्य यह है कि रजतदान करने से व्यक्ति को दुःख प्राप्त होता है। रुदन क्रिया उसीका लाक्षणिक प्रयोग है। निषेध्यमान रजतदानादि का ज्ञान हो जाने पर बुद्धिमान् व्यक्ति इस प्रकार के दान से निवृत्त हो जाता है। विधिवाक्यों का एक उद्देश्य अर्थवाद द्वारा अभिव्यक्त होता है। अतः अर्थवाद और विधि-वाक्य को अलग-अलग न मानकर उन्हें परस्पर पूरक मानना चाहिए।

समस्त वेद को मीसांसादर्शन क्रियापरक मानता है क्योंकि उसके अनुसार यागादि क्रिया द्वारा ही इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट का परिहार किया जा सकता है। वेद के अध्ययन विधान "स्वाध्यायो ध्येतव्यः" इस विधि वाक्य से हुआ है। अर्थवाद भी वेद में ही अन्तर्भूत है। अतः अर्थवाद को भी क्रियापरक मानना उचित है। विधि और निषेध क्रिया ही है और अर्थवाद विधि और निषेध के रूप में प्रकट होता है। अतः अर्थवाद-वाक्य परम्परया क्रिया परक अर्थात् धर्मपरक होते हैं अतः अर्थवाद वाक्यों को निरर्थक नहीं मानना चाहिए।

अर्थवाद-वाक्य गुणों का वर्णन करते हैं।[15] विधि को मूलकथन के रूप में समझना चाहिए। विधि-वाक्य, निर्देश नियम प्रदान करता है। अर्थवाद को विधि का सहायक एवं गौण कथन मानना चाहिए। यह या तो अपरोक्ष होता है या परोक्ष। 'चोर न होते हुए मन को चोर' 'वाणी को झूठ बोलने वाली' क्रमशः उनके रूप और गुण के आधार पर कहा गया है। चोर प्रच्छन्न रूप होते

हैं वैसे मन भी प्रच्छन्न रूप होता है। प्रायः व्यक्ति झूठ अधिक बोलते हैं अतः वाद को अनृतवादिनी कहा गया है। एक बात यह भी है कि निन्दावचन भी कभी-कभी निन्दा करने के लिए प्रयुक्त नहीं होते अपितु विधेय की स्तुति (व्याज स्तुति) के लिए प्रयुक्त होते हैं। [१६]

अर्थवाद वाक्य एवं निरीक्षित तथ्यों के बीच विरोध हमें उनके बीच दूरी के कारण दिखाई देता है। हम नहीं जानते कि हम 'ब्राह्मण है अथवा अब्राह्मण, इस कथन में विरोध प्रतीत नहीं होगा अगर हम पितृत्व के बारे में स्पष्ट हों। यहां गौण रूप से कुल परम्परा की शुचिता की ओर इंगित किया गया है, अतः जहां प्रमाणान्तर से विरोध दिखाई देता है वहां गुणवाद होता है। उस विरोध की समाप्ति के लिए वहां गौण अर्थ पर विचार करना चाहिए।

इस कथन - 'जो इस (गर्गत्रिरात्र ऋतु) को इस प्रकार जानता है उसका मुख सुशोभित होता है' में फल की बात न कहकर ज्ञान की प्रशंसा की गई है, वहां इसका तात्पर्य यह है कि गर्गत्रिरात्र ऋतु विशेष के कारण शिष्यों द्वारा देखा जाता हुआ मुख शोभित होता है। इसके अतिरिक्त यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि जो प्रशंसा के रूप में कहा गया हो वह घटित भी हो ऐसा आवश्यक नहीं है। "पूर्णाहुति से सभी इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है" इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि अन्य यागादि कर्म नहीं करने चाहिए। इस प्रकार के कथनों को अत्युक्ति या अतिशयोक्ति कथन कह सकते हैं। कर्म और फल के सम्बन्ध में जैमिनि का कथन है कि किसी कर्म का फल किये हुए कर्म के समानुपात में होता है। इसका तात्पर्य यह है कि एक कर्म से सम्पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता। यद्यपि पूर्णाहुति से सभी इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है तथापि (अन्य कर्मों की) अर्थवत्ता (कर्म के) परिणाम से अथवा सार के अनुसार फल विशेष होने से सिद्ध होगी। दूसरे शब्दों में, एक ही कर्म से सब फलों की प्राप्ति मानने पर अन्य कर्मों का आनर्थक्यवाक्य रूप जो दोष उपस्थित किया गया है वह नहीं होगा।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अर्थवाद-वाक्य विधि-वाक्य द्वारा निर्दिष्ट यागादि कर्मों की स्तुति या निषेध के लिए ही लिखे गये हैं और उन्हें विधि वाक्य के पूरक के रूप में लेना चाहिए। अर्थवाद वाक्यों के अक्षरार्थ क्रम से जो अर्थ आपाततः ज्ञात होते हैं वे उन अर्थों के ज्ञापक प्रमाण नहीं है, उनका लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिए।

अर्थवाद वाक्यों एवं विधिवाक्यों को सही संदर्भ में समझने के लिए मीमांसा द्वारा जिस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की गई है उसके आधार पर दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण निम्न विचारणीय बिन्दु उठते हैं :–

अ– क्या किसी वाक्य (चाहे अर्थवाद वाक्य हो या साधारण तथ्य को व्यक्त करने वाला वाक्य) का व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण होना उसके अर्थ के लिए पर्याप्त नहीं है ? क्या उस वाक्य के तात्पर्य हेतु कुछ और की आवश्यकता होती है ?

ब– अर्थवाद को विधिवाक्य के पूरक के रूप में स्वीकार करने पर क्या हम विधिवाक्यों को अर्थवाक्यों में या अर्थवाद वाक्यों को विधिवाक्यों में घटित तो नहीं कर रहे हैं ? क्या उन्हें एक दूसरे का पूरक समझना तार्किक रूप से सम्भव है ?

स– क्या वर्णन में व्याख्या निहित है ? क्या पुनः वर्णन और व्याख्या एक ही हैं ?

प्रथम समस्या पर विचार करने के हेतु इस वाक्य को लें- 'वायु अत्यन्त शीघ्रकारी देवता है' (अर्थवाद वाक्य) व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण वाक्य है। लेकिन इसका तात्पर्य समझने के लिए कुछ और ('ऐश्वर्य की कामना वाला वायु देवता वाले श्वेत पशु का स्पर्श करे– विधिवाक्य) की आवश्यकता होती है। अर्थवाद और विधिवाक्य की ऐकता होने से ही उनका अर्थ समझा जा सकता है।[१७] 'ऐश्वर्य की कामना वाला वायु देवता वाले श्वेत पशु का स्पर्श करे' यह विधिवाक्य तभी अधिकारी व्यक्ति या ऐश्वर्य की कामना वाले व्यक्ति को कर्म के लिए प्रवृत्त करेगा जब उसे यह ज्ञात हो कि वायु अत्यन्त शीघ्रगामी देवता है (अतः ऐश्वर्य भी शीघ्र प्रदान करता है)।[१८]

यद्यपि वाक्य के स्वरूप पर विभिन्न रूप से (जैसे कि वाक्य एक क्रिया वाला होता है, अनेक क्रियाओं वाला होता है, बिना क्रियापद वाला होता है आदि-आदि) विचार किया गया है, लेकिन भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ वाक्यपदीय में इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि एक वाक्य में अवान्तर वाक्य होते हैं। अवान्तर वाक्यों का अर्थ मुख्य वाक्य के अर्थ के जाने बिना पूर्ण नहीं होता। भर्तृहरि का मत है कि ऐसे अवान्तर वाक्यों के अर्थ को साकांक्ष (अपूर्ण) होने के कारण वाक्यार्थ नहीं कहना चाहिए, अपितु उन्हें पदार्थ के समान ही समझना चाहिए।[१९]

मीमांसक प्रयोजन को वाक्यार्थ मानते हैं। जैमिनि का कथन है कि प्रत्येक कर्म किसी विशेष फल के लिए किया जाता है। [२०] जैमिनि के अनुसार, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, कि 'कर्म फल के लिए है, फल पुरुष के लिए हैं और पुरुष कर्म करने के लिए हैं। फिर क्रम चल पड़ता है कि कर्म फल के लिए है। और फल पुरुष के लिए है। अतः इस चक्र में कौन मुख्य है और कौन गौण यह कहना कठिन है। सभी मुख्य हैं और सभी गौण वाक्यार्थ हैं क्योंकि दोनों साध्य और साधन हैं। [२१]

व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण वाक्य, जो अन्य वाक्य के पूरक के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है, के समन्वित अर्थ (जो मात्र आनुषंगिक नहीं होता) के लिए लक्षणाशक्ति का प्रयोग आवश्यक है। [२२] अतः प्रस्तुत विश्लेषण के आधार पर विधिवाक्य और अर्थवाद वाक्यों की एकवाक्यता की बात मीमांसा दर्शन में उठाई गई है और उन्हें एक दूसरे का पूरक माना गया है। अर्थवाद वाक्यों के लाक्षणिक अर्थ की बात भी लेख के प्रथम खण्ड में कही जा चुकी है।

उपरोक्त विश्लेषण वाक्य के आनुषंगिक अर्थ, उसकी सत्यता या असत्यता को महत्त्व न देकर उसके (वाक्य के) प्रयोजन पर बल देता है। इस दृष्टि से यह विश्लेषण समकालीन पाश्चात्य भाषा दार्शनिक जे. एल. ऑस्टिन के भाषा दर्शन से मेल खाता है। जे. एल. ऑस्टिन ने अपनी पुस्तक **हाऊ टू डू थिंग्स विथ वर्ड्स्** [२३] में भाषा दर्शन की परम्परागत समस्या-वाक्यों का अर्थ क्या है?- को महत्त्वपूर्ण न मानकर इस बिन्दु पर बल दिया है कि 'जब हम कोई कथन करते हैं तो हम किस प्रकार का कार्य कर रहे होते हैं।' इसको ऑस्टिन वाक्य कथन की इलोक्यूशनरी फोर्स कहते हैं। वाक्य की इलोक्शूनरी फोर्स को ऑस्टिन लोक्यूशनरी फोर्स (जो कि परम्परागत भाषा दार्शनिकों का प्रमुख विषय रहा है) तथा परलोक्यूशनरी फोर्स (जिसका सम्बन्ध किसी वाक्य द्वारा अभिप्राय की पूर्ति है) से भिन्न मानता है। इलोक्यूशनरी कथनों का सम्बन्ध सत्यता और असत्यता से नहीं होता बल्कि कुछ अवस्थाओं से होता है जिसे वे हैपीनैस या वाक्य प्रभावीयता (Felicity) अवस्था कहते हैं। [२४] अगर हम मीमांसा द्वारा प्रस्तुत विधि और अर्थवाद वाक्यों के विश्लेषण की पद्धति और ऑस्टिन द्वारा प्रस्तुत भाषा विश्लेष की पद्धति के बीच तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि मीमांसा विश्लेषण को अगर हम ऑस्टिन की पदावली में व्यक्त करना चाहें तो इस इस प्रकार कहा जायेगा कि यह विश्लेषण पद्धति इलोक्यूशनरी फोर्स (ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादित प्रत्यय) के बीच भेद न करके, दोनों की सहायता लेती है। विधिवाक्यों के विश्लेषण करते समय कर्म में प्रवृत्ति के लिए भावना को

महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।[२५] विधिवाक्य के कथन में कर्ता के लाभ या हानि तथा कर्ता की सामर्थ्य आदि अवस्थाओं का ध्यान रखा जाता है। अर्थवाद वाक्यों के विश्लेषण में वक्ता के अभिप्राय का ध्यान रखा जाता है। अर्थवाद-वाक्य और विधिवाक्य (जो एक दूसरे के पूरक हैं) से निर्मित मुख्य वाक्य का विश्लेषण ऑस्टिन के इलोक्यूशनरी तदा परलोक्यूशनरी फोर्स के प्रत्ययों की सहायता से अधिक अच्छी तरह से किया जा सकता है।

द्वितीय समस्या -अर्थवाद को विधिवाक्य के पूरक के रूप में स्वीकार करने पर क्या हम विधिवाक्यों का (जो कि मूल्यात्मक कथन सदृश हैं) का अर्थवाद वाक्यों (जो वर्णनात्मक कथन हैं) में या अर्थवाद वाक्यों का विधिवाक्यों में अन्तर्भाव तो नहीं कर रहे हैं ? क्या उन्हें एक दूसरे के पूरक के रूप में समझना तार्किक रूप से सम्भव है ? – की पृष्ठभूमि के रूप में ह्यूम और मूर आदि दार्शनिकों के विचार हैं। इन दार्शनिकों के अनुसार वर्णनात्मक कथनों से मूल्यात्मक कथन निर्मित नहीं किये जा सकते। इस समस्या पर तत्त्वमीमांसीय एवं तार्किक दृष्टि से गहन विचार विमर्श हुआ है। इन दार्शनिकों द्वारा दिये गये तर्कों के पक्ष और विपक्ष को यहां पुनः प्रस्तुत करना न तो अपेक्षित है और न सम्भव है।

'चाहिए' और 'है' से सम्बन्धित चर्चा मात्र नैतिक क्षेत्र का सिद्धान्त नहीं है। इस सिद्धान्त को भाषा-व्यवहार से सम्बन्धित सामान्य सिद्धान्त के रूप में लेना चाहिये। नैतिक कथन इसका एक प्रकार हैं। इस दृष्टि से अगर हम इस बिन्दु पर विचार करें तो मूलभूत प्रश्न उत्पन्न होता है : क्या हम यह कह सकते हैं कि कोई कथन पूर्णरूपेण मूल्यात्मक या वर्णनात्मक हो सकता है ? जे. ओ. उर्मसन[२६] का यह कहना उचित ही है कि 'वैद्य' की परिभाषा न तो विशुद्ध वर्णनात्मक कथनों द्वारा दी जा सकती है और न ही विशुद्ध मूल्यात्मक कथनों द्वारा दी जा सकती है।' उदाहरण के रूप में इन वर्णनात्मक कथनों पर विचार करें 'घास हरी है', 'राम सत्य बोलता है' आदि। ये कथन वर्णन के साथ-साथ कुछ और भी व्यक्त करते हैं। 'घास हरी है' इसमें एक सौन्दर्यात्मक मूल्य भी ध्वनित हो रहा है। 'राम सत्य बोलता है' यह कथन मात्र राम के स्वभाव के बारे में ही नहीं बताता वरन् इससे यह भी ध्वनित होता है कि 'सत्य बोलना अच्छा है' (श्रोता को) सत्य बोलना चाहिए। प्रत्येक कथन-क्रिया (Speech-act) और उक्ति (utterance) को एक व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। उक्ति की स्थिति (Situation of utterance) से तात्पर्य है (अ) स्वयं उक्ति, (ख) उक्ति का वक्ता (या लेखक), (स) उक्ति का श्रोता (या पाठक) तथा (द) स्वयं वचन-क्रिया। स्थान और काल को भी उक्ति की परिस्थिति में सम्मिलित किया जा सकता

है। अतः किसी भी कथन के अर्थ के लिए इन सभी बातों को ध्यान में रखना चाहिए। वर्णनात्मक कथन यद्यपि स्पष्ट जैसा प्रतीत होता है, लेकिन उसे पूर्णतः समझने के लिए 'वचन-क्रिया परिस्थिति' को समझना आवश्यक है। उदाहरण के रूप में इन कथनों को लें- 'मैं अपना नाम स्मरण करता हूँ', डॉ. पाही ने कार स्वेच्छा से खरीदी' 'मैं इस लेख को अपनी स्वतंत्र इच्छा से लिख रहा हूँ'। 'लगता है ये कथन स्पष्ट हैं क्योंकि आम तौर पर व्यक्ति अपना नाम स्मरण रखते हैं, कार स्वेच्छा से खरीदते हैं और लेख भी स्वतंत्र इच्छा से लिखते हैं' लेकिन ये कथन किसी संदर्भ विशेष में कहे गये हैं और जब तक उस संदर्भ को न जान लिया जाय तब तक उनकी व्याख्या की बात नहीं कही जा सकती।

इसी प्रकार 'चाहिए' से सम्बन्धित कथनों कीं व्याख्या की जा सकती है। उदाहरणार्थ इन कथनों को लें- 'प्रातःकाल अध्ययन करना चाहिए' 'झूठ नहीं बोलना चाहिए', 'दरवाजा बन्द करो'। 'प्रातःकाल अध्ययन करना चाहिए' इस कथन का अर्थ समझने के लिए यह आवश्यक है कि कौन किससे कह रहा है, क्यों कह रहा है। 'प्रातःकाल अध्ययन करना चाहिए' यह कथन विद्यार्थी से कहा जा रहा है तथा वक्ता श्रोता से इस कथन द्वारा यह भी व्यक्त कर रहा है कि प्रातः-काल में किया गया अध्ययन काफी समय तक स्मरण रहता है। यह वक्ता का अपना अनुभव हो सकता है। इसी प्रकार 'झूठ नहीं बोलना चाहिए' इस कथन द्वारा श्रोता को झूठ बोलने से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का ज्ञान कराया जा रहा है। 'दरवाजा बन्द करो' इस आज्ञार्थक कथन में यह छिपा हुआ है कि ठंडी हवा (दरवाजे से) आ रही है। जब तक श्रोता को इस प्रकार का ज्ञान नहीं होगा वह स्वेच्छा से कार्य में प्रवृत्त नहीं होगा।

हम अपने दैनिक व्यवहार में भी वर्णनात्मक कथनों का प्रयोग 'चाहिए' कथनों, आज्ञार्थ कथनों, मूल्यात्मक कथनों की व्याख्या के लिए करते हैं। 'राम को कक्षा से बुलाकर लाओ' जिसने (राम ने) एम. ए. प्रथम वर्ष में प्रथम स्थान प्राप्त किया है। 'एम. ए. प्रथम वर्ष में प्रथम स्थान प्राप्त किया है' यह कथन राम का वर्णन करता है और राम को कक्षा में पहचानने में सहायक होता है। इस प्रकार इन दोनों कथनों को मिलाकर प्रस्तुत करने में कोई तार्किक असंगतता प्रतीत नहीं होती। इसी दृष्टि से अगर हम अर्थवाद वाक्य एवं विधि वाक्यों को परस्पर पूरक के रूप में समझने का प्रयत्न करते हैं तो कोई तार्किक कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। अर्थवाद वाक्य विधिवाक्य को स्पष्ट करते हैं तथा कर्ता को क्रिया में प्रवृत्त करते हैं। २६

तृतीय सयस्या है– क्या वर्णन में व्याख्या निहित है ? क्या पुनः वर्णन और व्याख्या एक ही हैं– का अर्थवाद वाक्यों के स्वरूप पर और अधिक प्रकाश डालता है ।

'वर्णन' और 'व्याख्या' के स्वरूप एवं उनके बीच परस्पर सम्बन्ध को लेकर विज्ञान-दर्शन में विभिन्न मत-मतान्तर मिलते हैं । कुछ दार्शनिकों (तूल्मिन आदि) का मत है कि व्याख्या वर्णन से भिन्न है । विज्ञान का कार्य तथ्यों की व्याख्या करना है और इतिहास अपने तथ्यों का वर्णन प्रस्तुत करता है । ऐसा कहने का आधार यह है कि विज्ञान के तथ्य और इतिहास के तथ्यों के स्वरूप में अन्तर है । दूसरी ओर कुछ दार्शनिक (आर एम्. हेयर आदि) हैं जो यह मानते हैं कि विज्ञान का कार्य अपने तथ्यों का वर्णन और व्याख्या करना है । वर्णन और व्याख्या एक दूसरे से उसी प्रकार सम्बन्धित हैं जिस प्रकार निरीक्षण और सिद्धान्त सम्बन्धित होते हैं । व्याख्या हमें **क्यों** और **कैसे** प्रश्नों का समाधान देती है । वर्णन, जिसका सम्बन्ध **क्या** से है, इस समाधान में हमारी सहायता है । **क्या** के बोध से **क्यों** और **कैसे** प्रश्न जुड़े हैं । उन्हें अलग करके नहीं देखा जा सकता । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वर्णन और व्याख्या एक ही है । लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वर्णन व्याख्या के लिए न केवल सहायक हैं अपितु अपरिहार्य है ।

उपरोक्त परिप्रेक्ष्य में अगर हम विधिवाक्य और अर्थवाद वाक्य के बीच सम्बन्ध पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि विधि वाक्य, सिद्धान्त या व्याख्या का कार्य करते हैं और अर्थवाद वाक्य वर्णन या निरीक्षण का । जब कोई किसी व्यक्ति को आदेश देता है तो सुनकर (या विधिवाक्य को सुनकर) वह व्यक्ति तत्काल कर्म के लिए प्रवृत्त नहीं हो जाता । कर्म करने से पूर्व उसके मन में उससे सम्बन्धित 'क्यों' और 'कैसे' कर सकता हूं या नहीं आदि प्रश्न उठते हैं और उनके समाधान हो जाने पर ही वह कर्म में प्रवृत्त होता है । स्पष्टता के लिए पहले दिये गये उहाहरण को लें- "ऐश्वर्य की कामना वाला वायु देवता वाले श्वेत (पशु) का स्पर्श करे । वायु अत्यन्त शीघ्रकारी देवता है ।" इस वाक्य का प्रथम अंश विधि है और द्वितीय अंश अर्थवाद्र । प्रथम भाग सिद्धान्त प्रस्तुत कर रहा है और द्वितीय भाग निरीक्षण । दोनों भाग मिलकर व्यक्ति को कर्म करने के लिए प्रवृत्त कर सकते हैं । कोई एक अंश अपने आप में ऐसा करने में समर्थ नहीं है । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अर्थवाद वाक्य और विधिवाक्य एक ही हैं । ऐसा कहने का तात्पर्य मात्र इतना है कि अर्थवाद (जो वर्णन का कार्य करता है) विधिवाक्य (जो सिद्धान्त या व्याख्या का कार्य करता है) का पूरक है ।

विधि में आदेश निहित होता है जो व्यक्ति पर कर्तव्य का आरोपण करता है। अर्थवाद एक ऐसा कथन है जो विधि से सम्बन्धित तो होता है परन्तु यह विधि में निहित युक्ति की व्याख्या करता है [२९] विधि को वर्णित करता है, [३०] विधि के लाभों को विस्तारपूर्वक बताता है [३१] अथवा यह उन व्यक्तियों जो विधि के आध्यात्मिक महत्त्व को नहीं समझते उन्हें उसके परिणामों के प्रति प्रलोभित करता है। विधि का उद्देश्य एक होता है और यह उद्देश्य अर्थवाद द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस दृष्टि से दोनों महत्त्वपूर्ण हैं और परस्पराश्रित हैं। [३२] वर्णन, वर्णन है और व्याख्या के लिए अनिवार्य है। अर्थवाद को विधि के रूप में समझना अस्पष्टता का द्योतक है। अर्थवाद को विधि मानने का अर्थ है एक ही प्रतिज्ञप्ति को दोहरा अर्थ प्रदान करना। पहले तो आप उसे मात्र एक प्रतिज्ञप्ति के रूप में समझ रहे हैं और फिर उसे दो समपदस्थ प्रतिज्ञप्तियों के रूप में। अर्थवाद विधि प्रतिज्ञप्ति में निहित उपकारी सत्य को इंगित करने वाली प्रतिज्ञप्ति है। अर्थवाद विधि में अन्तर्निहित व्याख्यात्मक उपवाक्य के रूप में समझना चाहिए। अर्थवाद विधि की प्रशंसा करता है या विधि का लोकमान्य विवेचन करता है या विधि को लोकमान्य हेतु प्रदान करता है। इस दृष्टि से अर्थवाद विधि की संक्रियात्मक व्याख्या (Operational definition) प्रस्तुत करता है।

दर्शन विभाग — के. एल. शर्मा
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राजस्थान)

टिप्पणियाँ

१. जैमिनि ने अपने सूत्र मी. सू. के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में यही स्थापना की है।

२. स अरोदीत् यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्। तैत्तिरीय संहिता १ : ५ : १

३. प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्। तै. सं. २ : १ : १

४. देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्। तै. सं. ६ : १ : ५

५. स्तेनं मनः अनृतवादिनीवाक्। मैत्रायणी संहिता ४ : ५ : २

६. तस्माद् धूम एवाऽग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः ।
तस्मादर्चिरेग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः । **तैत्तिरीय ब्राह्मण**, २ : १ : २

७. न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मः
अब्राह्मणा वा । **तै. सं.** २ : १ : ३२

८. अ. युधिष्ठिर मीमांसक : **मीमांसा शाबर भाष्य,** खण्ड १; पृ. १३४

८. ब. वहीं, पृ. १३५

९. अ. पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति । **तै. ब्रा.** ३ : ८ : १०

९. ब. पशुबन्धयाजी सर्वांलोकानभिजयन्ति । **मीमांसा शाबर भाष्य** प्रथम भाग युधिष्ठिर मीमांसक, पृ. सं. १३५

१०. इस प्रकार की आलोचना **मी. सू.** के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के २८ वें सूत्र में भी उठाई गई है । अनित्यदर्शनाच्च, **मी. सू.** १·१·२८

११. श्री. कृष्ण यज्व ने अपनी पुस्तक **मीमांसा परिभाषा** में अर्थवाद के चार प्रकार बताये हैं : (१) निन्दा, (२) प्रशंसा, (३) परिकृति, (४) पुराकल्प । किसी महान् पुरुष के द्वारा किये गये कर्म के प्रतिपादक वाक्य को परिकृति कहते हैं । जैसे 'अग्नि ने भी इस पुरोडाश की कामना की ।' दूसरे के द्वारा कहे गये अर्थ का प्रतिपादक वाक्य पुराकल्प कहलाता है । जैसे कि "उसने उसको शाप दिया कि प्रत्येक विचार या कर्म तुम्हारे लिये नाशकारी हो ।"

१२. विधिना त्वेक वाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधिनां स्युः ।
मी. सू. १·२·७ अर्थात् विधि एवं अर्थवाद की एकवाक्यता मानी जाती है क्यों कि दोनों मिलकर एक समग्र वाक्य की रचना करते हैं ।

१३. वायव्यं श्वेतमालमेत भूतिकामः । वायुर्वेक्षेपिष्ठादेवता । **तै. सं.** २·१·१

१४. बर्हिषि रजतं न देयम् । सो रोदीत् यद् रोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् । **तै. सं.** १ : ५ : १

१५. विरोधेगुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादास्त्रिधा मतः ।
(अर्थात् प्रमाणान्तर में विरोध होने पर 'गुणवाद', प्रमाणान्तर से अवगत अर्थ का बोधक अनुवाद तथा जिस स्थल पर प्रमाणान्तर विरोध

रहित एवं प्रमाणान्तर प्राप्ति रहित अर्थ का बोधक हो उसे भूतार्थवाद कहते हैं। लौगाक्षिभास्कर कृत **अर्थ संग्रह** डॉ. वाचस्पति उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी, १९७७ पृ. २१४

१६. **मी. सू.** १ : ४ : २३

१७. विधिनात्वेक वाक्यात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः। **मी. सू.** १ : २ : ७

१८. यहाँ एक विवादास्पद प्रश्न उठता है कि क्या विधिवाक्यों से कर्म में प्रवृत्ति तब ही होती है जब उससे मिलने वाले फल का ज्ञान भी हो ? भाट्ट मीमांसकों का मत इसी प्रकार का है, लेकिन प्रभाकर और उनके अनुयायियों को यह मत स्वीकार नहीं होगा।

१९. सापेक्षा ये तु वाक्यार्थाः पदार्थैरेव ते समाः। **वा. प.** २, ३२६

२०. कर्मण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्। **मी.** सू. ३ : १ : ४ तथा तेषामर्थेन सम्बन्धः। **मी. सू** ३ : १ : ७

२१. फलां च पुरुषार्थत्वात् (मी. सू. ३ : १ : ५) तथा पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् (**मी. सू.** ३ : १ : ६)

२२. कभी कभी वक्ता वाक्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग कर देता है जिसका अभिधार्थ की दृष्टि से परस्पर सम्बन्ध या अन्वय असंगत होता है। वक्ता के तात्पर्य का बोध लक्षणा के कारण ही होता है। लक्षणा के लिए मुख्यार्थ से सम्बन्ध तथा रूढि या प्रयोजन होना चाहिए। मीमांसक वाक्य में लक्षणा स्वीकार करते हैं। कुमारिल अभिधेय से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं। व्याकरण सम्प्रदाय में नागेश भट्ट ने लक्षणा शक्ति को स्वीकार किया, उसकी विस्तृत विवेचना की। भर्तृहरि लक्ष्यार्थ को वाच्यार्थ न कहकर अर्थविस्तार मात्र कहते हैं।

२३. ऑस्टिन जे. एल; **हाऊ टू डू थिंग्स विथ वर्ड्स**, हार्वार्ड युनीवर्सिटी प्रेस, १९६७

२४. चार्ल्स जे फिलमोर, (देखिये **लिंग्विस्टिक सीमैन्टिक्स**) जो ऑस्टिन से प्रभावित हैं, ने एक साधारण आज्ञार्थ कथन– 'कृपया दरवाजा बन्द कर दें' की हैपीनैस अवस्थाओं का विश्लेषण किया है। मीमांसा विधि-वाक्यों का विश्लेषण भी इसी प्रकार किया जा सकता है।

२५. भावना के स्वरूप एवं प्रकारादि के लिए मेरे लेख 'भावना का तत्त्व-मीमांसीय स्वरूप' (३१ वाँ ऑल इण्डिया ओरियन्टल कान्ग्रैस १९८२) देखें ।

२६. ए. जी. एन. फ्लू द्वारा सम्पादित **एसेज इन कन्सेप्चुल एनेलिसिस** (लन्दन, १९५८ में उर्मसन् के लेख "सम क्वेश्चन्स कन्सर्निग वैली-डिटी") को देखें पृ. १२०

२७. यहाँ एक भेद करना आवश्यक प्रतीत होता है : १) उक्ति का विभिन्न सन्दर्भों में करना में घटना और विभिन्न पक्षों को अभिव्यक्त करना तथा २) दो उक्तियों का नितान्त भिन्न प्रकार का होते हुए भी एक दूसरे का पूरक होना । मीमांसा सम्मत विवेचन दूसरी बात से सम्बन्धित लगता है, पहली से नहीं ।

२८. अर्थवादानां हि सिद्धरूपोऽर्थोनहि तदर्थस्य कर्तव्यता प्रतीयते ।

२९. हेतुर्वास्यादर्थवत्तोपपत्तिभ्याम् । **जै. सू.** १. २. २९

३०. **मी. सू.** १. २. १६–२५ (अधिकरण II)

३१. **मी. सू.** १. २. ७

३२. **मी. सू.** १. २. ८

स्याद्वाद की प्रतिरक्षा

स्याद्वाद जैन दर्शन का अन्यतम सिद्धान्त है। जैनेतर दार्शनिकों ने जैन दर्शन का खण्डन करने के लिए सबसे अधिक स्याद्वाद को ही चुना है। ब्रह्मसूत्रकार बादरायण और उनके भाष्यकार शंकराचार्य ने स्याद्वाद का खण्डन जिस प्रकार किया है, उसी प्रकार बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित ने भी इसकी आलोचना की है। परन्तु इन सबकी आलोचनाओं का उत्तर जैन दार्शनिकों ने दिया है। उन्होंने स्याद्वाद पर जितने आरोप सम्भव हो सकते हैं उन सबका पूर्वानुमान करते हुए खण्डन किया है। इस खण्डन और उसके निराकरण के द्वारा स्याद्वाद की अवधारणा में विशेष सहायता मिलती है। यहाँ उल्लेख योग्य यह है कि स्वयं जैन दार्शनिकों ने स्याद्वाद के ऊपर आपत्तियों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है और बाद में उत्तरपक्ष में उसका निराकरण किया है। हम यहाँ जैन दार्शनिकों द्वारा उद्भावित आरोपों और उनके निराकरण का विवेचन करेंगे। एतद् द्वारा हम स्वाद्वाद का आलोचनात्मक समर्थन करने का प्रयास करेंगे।

सर्वप्रथम, अकलंक ने अपने **राजवार्तिक** में स्याद्वाद के ऊपर चार आरोपों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है और फिर उनका निराकरण किया है।[1] उनके पूर्वपक्ष के अनुसार स्याद्वाद पर अव्याप्ति, छल, संशय और विरोध, ये चार आरोप हैं।

१) **अव्याप्ति**– स्याद्वाद तर्कतः कोई सार्वभौम सिद्धान्त नहीं है क्योंकि स्वयं स्वाद्वाद के बारे में कोई कथन स्यात् पूर्वक नहीं किया जा सकता। इस प्रकार स्वाद्वाद में अव्याप्ति है। इसके उत्तर में अकलंक कहते हैं कि हम स्वयं स्याद्वाद के बारे में स्यात्-पूर्वक कथन करते हैं। अतः जैसे अन्य विषयों का वर्णन स्यात्-पूर्वक होता है वैसे स्याद्वाद का भी वर्णन स्यात्-पूर्वक होता है। इससे स्याद्वाद में अव्याप्ति-दोष नहीं रह जाता। स्याद्वाद की सत्यता स्याद्वादानुसारी है, अन्य मतों के अनुसार नहीं।

२) छल– स्याद्वाद को कुछ लोग मात्र-छल कहते हैं। क्योंकि सप्तभंगी नय द्वारा किसी वस्तु का वर्णन करना छल-वर्णन है। इस आरोप का निराकरण करते हुए अकलंक कहते हैं कि स्याद्वाद प्रमाण-नय है और उसमें छल के लक्षण का अभाव है। दूसरे शब्दो में, स्यात्-पूर्वक कथन अनेकार्थक नहीं है।

३) संशय– कुछ लोग स्याद् को शायद या सम्भवतः का पर्यायवाची समझते हैं और इस कारण वे कहते हैं कि स्याद्वाद संशयवाद है और वह कोई विशेष ज्ञान नहीं देता। इस पर अकलंक कहते हैं कि स्याद्वाद से किसी वस्तु के विशेष लक्षण का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए कोई घट वर्तमान काल के सन्दर्भ में है इसलिए उसे सत् कहा जाता है, परन्तु अतीत काल में वह नहीं था वा सुदूर भविष्य में वह नष्ट हो जायेगा, इसलिए उस दृष्टि से उसे असत् कहा जाता है। यहाँ पर स्याद् अस्ति और स्याद् नास्ति से घट के कालगत स्वरूप का संशय रहित तथा विरोध-रहित ज्ञान होता है। इसलिए स्याद्वाद संशयवाद नहीं है।

४) विरोध– कुछ लोग एक ही घट को स्याद् अस्ति और स्याद् नास्ति कहे जाने पर आरोप लगाते हैं कि स्याद्वाद वदतोव्याघात है क्योंकि कोई वस्तु कैसे अस्ति और नास्ति दोनों हो सकती है? इसपर अकलंक कहते हैं कि– "अर्पणाभेदात् अविरोधः पितृपुत्रादि सम्बन्धवत्।" [२] अर्थात् जैसे कोई मनुष्य किसी का पिता है और किसी का पुत्र है और इस प्रकार वह पिता और पुत्र दोनों है वैसे ही कोई वस्तु एक दृष्टि से अस्ति और दूसरी दृष्टि से नास्ति है। इसलिए उसके अस्तित्व और नास्तित्व में कोई विरोध नहीं है। यदि एक ही दृष्टि से उसे अस्ति और नास्ति कहा जाता है तो उसमें विरोध दोष होता, परन्तु स्याद्वाद में ऐसा नहीं हैं। इसलिए स्याद्वाद में विरोध दोष नहीं है।

पुनश्च मल्लिषेण ने **स्याद्वाद मंजरी** में स्याद्वाद के ऊपर आठ दोष बताए हैं और फिर उनका निराकरण किया है। ये आठों दोष तथा उनके निराकरण इस प्रकार है–

(१) **विरोध**– दो विरोधी गुणों का एकत्र अवस्थित होना विरोध है। सत्त्व और असत्व दोनों को एक ही वस्तु में स्याद्वाद आरोपित करता हे : इसलिए स्याद्वाद में विरोध दोष है। इस पर मल्लिषेण कहते हैं कि जिस अंश से सत्त्व है उस अंश से असत्त्व नहीं है। सत्त्व और असत्त्व भिन्न भिन्न उपाधिमूलक हैं। उदाहरण के लिए घट स्वरूपेण सत् है और पर रूपेण असत् है। इसलिए घट के बारे में सत्त्व और असत्त्व का अभिधान करना वदतोव्याघात नहीं है।

सप्तभंगितरंगिणी में विरोध तीन प्रकार का कहा गया है १) वध्यघातक भाव- जैसे, अहि-नकुल सम्बन्ध या अग्नि-जल सम्बन्ध २) युगपत् अवस्थान- जैसे आम के फल का श्याम और पीत दोनों होना और ३) प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव-जैसे मणि के होने पर अग्नि का जलना रुक जाना। फिर वहीं यह कहा गया है कि स्याद्वाद में ये तीनों विरोध नहीं हैं। देखिए, अस्तित्व और नास्तित्व दोनों एक स्थान पर स्थित नहीं हैं क्योंकि वे दोनों भिन्न भिन्न उपाधियों के सन्दर्भ में हैं। इसलिए दोनों में बध्यघातक भाव नहीं है। वस्तुतः अस्तित्व और नास्तित्व दोनों तुल्यबल हैं। फिर आम पकने पर पीला हो जाता है तब उसकी पूर्ववर्ती श्यामता और उत्तरवर्ती पीतता एक साथ नहीं हो सकती। परन्तु काल भेद से वे हो सकती हैं। परन्तु अस्तित्व और नास्तित्व पूर्ववर्ती तथा परवर्ती दशाएँ नहीं हैं। फिर उनमें प्रतिबन्धक भाव भी नहीं है क्योंकि अस्तित्वकाल में नास्तित्व का प्रतिबन्ध नहीं होता, जिस समय वह पर रूपेण असत् भी प्रतीत होती है। इसलिए अस्तित्व और नास्तित्व एक दूसरे के बाधक या प्रतिबन्धक नहीं हैं। दोनों की प्रतीति होती है और यह अप्रमाणित नहीं है।

(२) **वैयधिकरण्य**– वैयधिकरण्य का अर्थ है भिन्न भिन्न अधिकरण। जैन किसी विषय को सामान्य और विशेष, सत् या असत् वक्तव्य और अवक्तव्य तथा नित्य और अनित्य दोनों कहते हैं। वे मानते हैं कि किसी अंश में वह सामान्य का अधिकरण है और दूसरे अंश से वह विशेष का अधिकरण है। यहां प्रश्न उठता है कि ऐसी व्यवस्था उस विषय के किसी एक स्वभाव के द्वारा होती है या उसके दो स्वभावों के द्वारा? यदि ऐसी व्यवस्था उसके एक स्वभाव के कारण होती है तो वैयधिकरण्य दोष उपस्थित होता है क्योंकि सामान्य और विशेष दोनों का अधिकरण एक ही नहीं हो सकता। फिर यदि ऐसी व्यवस्था वस्तु के दो स्वभावों से होती है तो प्रश्न उठता है कि इन दो स्वभावों की व्यवस्था कैसे होती है? इसके लिए पुनः दूसरे प्रकार के दो स्वभावों की आवश्यकता होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित होता है।

(३) **अनवस्था**— अप्रामाणिक पदार्थ दरम्परा की परिकल्पना की विश्रान्ति का अभाव अनवस्था है। किसी वस्तु के स्वरूप और पररूप का हेतु क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में जो हेतु होगा उसके भी दो रूप होंगे। इस प्रकार अनवस्था उत्पन्न हो जाती है क्योंकि इस प्रकार की परिकल्पना का कहीं अन्त नहीं है।

वैयधिकरण्य और अनवस्था दोनों दोषों को दूर करते हुए **सप्तभंगितरंगिणी** में कहा गया है कि विशेष और सामान्य अथवा सत्त्व और असत्त्व का अधिकरण एक ही हैं ऐसा अनुभव से सिद्ध होता है।[3] द्रव्यार्थिक नय से

कोई विषय सामान्य और नित्य है तथा पर्यायार्थिक नय से वही विशेष और अनित्य है। सामान्य का अलग अधिकरण है और विशेष का अलग अधिकरण है, ऐसा जो मानते हैं वे ही स्याद्वाद के ऊपर वैयधिकरण्य दोष को आरोपित करते हैं। किन्तु जो सामान्य और विशेष की इन कल्पनाओं को गलत मानते हैं उनके अनुसार स्याद्वाद में वैयधिकरण्य दोष नहीं है।

इसी प्रकार स्याद्वाद में अनवस्था दोष भी नहीं है क्योंकि स्याद्वाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, और उसका ज्ञान प्रमाण से प्रतिपन्न है। अप्रामाणिक पदार्थ परम्परा की परिकल्पना वहां नहीं है। इसलिए अनवस्था दोष की उद्भावना भी वहाँ नहीं है।

४. **संकर**– सर्वेषाम् युगपत्प्राप्ति संकरः।[४] सभी विकल्पों का एक साथ होना संकर है। यदि कोई वक्तु किसी स्वभाव के कारण वह विशेष का भी अधिकरण होती है तो यह संकर है अर्थात् भ्रमित विचार है। इस दोष को दूर करते हुए कहा जाता है कि जिस रूप में कोई वस्तु सामान्य है उस रूप में वह विशेष नहीं है। इसलिए स्याद्वाद में संकर दोष नहीं है।

५. **व्यक्तिकर दोष**– परस्पर विषयगमनं व्यक्तिकरः।[५] किसी वस्तु में दूसरी वस्तु का स्वरूप ग्रहण करना व्यक्तिकर है। जब कहा जाता है कि कोई वस्तु अपने एक स्वभाव के कारण सामान्य है और अपने दूसरे स्वभाव के कारण विशेष भी है तो वास्तव में सामान्य और विशेष एक दूसरे के स्वभाव को ग्रहण कर लेते हैं। परन्तु यह हास्यास्पद है। इस दोष को दूर करते हुए कहा गया है कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है और एक धर्म का दूसरे धर्म में परिवर्तन नहीं होता प्रत्युत प्रत्येक धर्म अपनी सीमा के अन्दर अपने स्वभाव को अक्षुण्ण बनाये रखता है। इस प्रकार व्यतिकर दोष स्याद्वाद पर नहीं लगाया जा सकता।

६. **संशय**– प्रत्येक वस्तु को सत्त्वात्मक तथा असत्त्वात्मक कहने से उस वस्तु को इदमित्थं रूप से निश्चित नहीं किया जा सकता। इसलिए स्याद्वाद में संशयदोष उपस्थित होता है। इस पर जैनियों का कहना है कि सत्त्व और असत्त्व दोनों वस्तु के स्वरूप हैं क्योंकि दोनों के भिन्न प्रमाण हैं। द्रव्य, क्षेत्र, भाग और स्वभाव के सन्दर्भ में किसी वस्तु के स्वरूप और पररूप का निर्धारण किया जाता है इसलिए स्याद्वाद से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है। जैसा कि अकलंक कहते हैं– विरोधाभावात् संशयाभावः।[६] विरोध न होने के कारण स्याद्वाद में संशय-दोष नहीं है।

७) **अप्रतिपत्ति**– अप्रतिपत्ति का आरोप लगाने वाले कहते हैं कि स्याद्वाद के द्वारा किसी भी वस्तु का कोई ज्ञान नहीं हो सकता है और स्वयं स्याद्वाद की स्पष्ट अवधारणा नहीं की जा सकती। परन्तु यह आरोप निराधार है क्योंकि स्याद्वाद एक प्रमाण वाक्य है और इस दृष्टि से वह दुर्नय वाक्य और नय वाक्य से भिन्न है।[७] स्याद्वाद के द्वारा वस्तुओं के विभिन्न गुण और पर्यायों पर बल दिया जाता है जिससे किसी वस्तु को समझाने में सरलता होती है। मल्लिषेण तो कहते हैं 'वसन्तिगुणपर्याया अस्मिन् इति वस्तु'।[८] अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय हों वस्तु है। उसके गुणों और पर्यायों को उजागर करने के लिए स्याद्वाद के सात भंग प्रस्तुत किए जाते हैं। इस प्रकार स्याद्वाद द्वारा वस्तु की अवधारणा स्पष्ट रूप में होती है और अतः अप्रतिपत्ति दोष निराधार है।

८. **प्रमाण-विषय-व्यवस्था-हानि**– मल्लिषेण के अनुसार प्रमाण-विषय व्यवस्था हानि आरोप स्याद्वाद पर कुछ जैनेतर दार्शनिक इसलिए लगाते हैं कि उनके अनुसार स्याद्वाद द्वि मूल्यात्मक तर्कशास्त्र का खण्डन करता है। **सप्त-भंगितरंगिणी** में इस दोष को अभाव कहा गया है क्योंकि स्याद्वाद सद्वस्तु और असद्वस्तु का अभाव सिद्ध करता है। इस दोष को इष्टापत्ति के रूप में भी किया जा सकता है क्योंकि जैन दार्शनिक एकान्त सद्वस्तु और एकान्त असद्वस्तु का खण्डन करते हैं। परन्तु वे द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र का खण्डन नहीं करते हैं और इस प्रकार उनके यहाँ प्रमाण-विषय-व्यवस्था हानि नहीं है। वास्तव में द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र के लिए बाध का नियम बुनियादी महत्त्व रखता है और जैनेतर दार्शनिक समझते हैं कि स्याद्वाद में बाध नियम का खण्डन है। परन्तु जैसा पहले दिखाया गया है स्याद्वाद में विरोध नामक दोष नहीं है। इसी से सिद्ध है कि स्याद्वाद बाध नियम का निराकरण नहीं करता है।

इस प्रकार मल्लिषेण ने स्याद्वाद को आठ दोषों से मुक्त किया है। उनका कहना है कि 'एतेच दोषाः स्याद्वादस्य जात्यन्तरत्वात् निरवकाशा एव'[९] अर्थात् ये सारे दोष अर्थान्तर कल्पना के भाग हैं। आनन्द शंकर बापूभाई ध्रुव ने स्याद्वाद मंजरी की **टिप्पणी**[१०] में ठीक ही कहा है कि स्याद्वाद सत्त्व और असत्त्व के एकांत अभेद का प्रतिपादन नहीं है और यह किसी विषय के सन्दर्भ में विविध दृष्टिकोण से किए गए उनके सम्बन्धों का कथन मात्र है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि स्याद्वाद हेगल का द्वन्द्वन्याय नहीं है जिसके अनुसार सत्त्व और असत्त्व एक दूसरे में अव्यक्त रूप से निहित हैं। फिर स्याद्वाद शंकर का अनिर्वचनीयतावाद भी नहीं है क्योंकि स्याद्वाद के अनुसार विरोध या बाध तर्कशास्त्र में नियमों का निराकरण करने वाला तथ्य नहीं है जैसा कि शंकर

के मत में है। जैन यह नहीं मानते कि सत्त्व और असत्त्व एकान्ततः अभिन्न हैं या वे एक दूसरे से अवियोज्य हैं। वे केवल यह मानते हैं कि सत्त्व और असत्त्व किसी विषय के बारे में विधेय हो सकते हैं।

उपसंहार में यदि अकलक और मल्लिषेण के द्वारा निराकृत दोषों की परिगणना की जाय तो स्याद्वाद पर कुल दस दोष लगाये गये हैं। अकलंक ने अव्याप्ति और छल नामक जो दो दोष बताये हैं वे मल्लिषेण के परिगणित आठ दोषों में नहीं हैं। उनके द्वारा गिनाये गये संशय और विरोध दोष मल्लिषेण के आठ दोषों में शामिल हैं। इस प्रकार स्यादवाद पर दस दोष लगाये जाते हैं जिनका उत्तर स्याद्वाद की सिद्धि करने वाले सभी जैन ग्रन्थ किसी न किसी रूप में देते रहे हैं। अकलंक, मल्लिषेण और सप्तभंगितरगिणीकार के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

अन्त में स्याद्वाद पर सिध्दिसाध्यता दोष भी **स्याद्वाद सिद्धि** नामक ग्रन्थ में आरोपित किया गया है। वहाँ कहा गया है कि अनेकान्त का आश्रय लेकर स्याद्वाद सिद्ध किया जाता है या उससे निरपेक्ष होकर स्याद्वाद को सिद्ध किया जाता है ? प्रथमपक्ष में सिद्धिसाध्यता दोष है और द्वितीय पक्ष में मल्लिषेण द्वारा परिगणित विरोध आदि आठ दोष हैं। पुनश्च सभी वस्तुएँ अनेक धर्मात्मक क्रमेण हैं या युगपत् है ? प्रथमपक्ष में सिद्धिसाध्यता दोष है और द्वितीय पक्ष में विरोध आदि आठ दोष हैं।[११] इस प्रसंग में **स्याद्वाद सिद्धि** के लेखक ने (जिनका नाम अज्ञात है) सिद्धिसाध्यता दोष को दूर करते हुए उसपक्ष को स्वीकार किया है जिसमें विरोध आदि दोष लगाये जाते हैं और फिर उसने विरोध आदि दोषों का भी संक्षेप के निराकरण किया है। इस प्रकार यद्यपि स्याद्वाद पर कुल ग्यारह दोष आरोपित किए गए हैं तथापि वह इन दोषों से रहित एक समर्थनीय सिद्धान्त है।

– स्वयम्प्रकाश पाण्डेय

दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. राजवार्तिक पृ. २४-२६

२. तत्रैव

३. सत्त्वासत्त्वयोरेकाधिकरण्यात् या प्रतीति सिद्धत्वात । सप्तभंगितरंगिणी आ. बा. ध्रुव संपादित स्याद्वाद मंजरी में उद्घृत पृ २६७ ।

४. तत्रैव पृ. २६६

५. तत्रैव पृ. २६६

६. ऊपर उद्घृत ग्रन्थ पृ. २४

७. देखिए भारतीय दर्शन की कहानी, संगमलाल पाण्डेय पृ. १८५ ।

८. स्याद्वाद मंजरी श्लोक २३ का भाष्य । वही पृ. १३९

९. वहीं पृ. १५१

१०. वहीं पृ. २६१

११. देखिए स्याद्वाद सिद्धि जो जैन दार्शनिक प्रकरण संग्रह है सम्पादक नगिन जी शाह अहमदाबाद १९६३ में संग्रहीत है । पृ. १६२

चार्वाक दर्शन का उत्स — वेद और उपनिषद्

भारतीय दर्शन-परम्परा में चार्वाक दर्शन को अपवादस्वरूप माना जाता है, क्योंकि वह एकमात्र ऐसा दर्शन है जिसने न केवल वैदिक कर्मकांडों वरन् ईश्वर-आत्मा, पुनर्जन्म-मोक्ष, स्वर्ग आदि अमूर्त प्रत्ययों का पुरजोर खंडन किया है। अतएव वह "घोर अवैदिक" दर्शन के नाम से अभिहित है। परन्तु उसे इस अलंकार से विभूषित करना उसके प्रति अन्याय है, क्योंकि वेद और उपनिषद् में भी चार्वाक के अवैदिक विचार की झलकियाँ प्रस्तुत हैं।

ऋग्वेद में कई ऐसे प्रसंग हैं जहाँ कामाचार और स्वेच्छाचार के नग्न-नृत्य का प्रदर्शन है। दासी के साथ ऋषि-मुनियों का अवैध यौन-संबंध, जीर्ण और वृद्ध बयस् में विवाह, दुराचारिणी स्त्रियों का एकान्त स्थान में गर्भपात, दुराचरण के लिए ससुराल से मायका में पलायन, विवाहित स्त्रियों के उप-पति का होना, पुत्री के साथ संभोग आदि का जिक्र जगह-जगह पर मौजूद है। एक जगह "ब्रह्मणस्पति" नामक देवता से विनती की जा रही है कि "उशिज्" नामक किसी कामुक दासी के गर्भ से उत्पन्न "कक्षीवान्" नामक ऋषि को देवताओं की श्रेणी में यज्ञ का भागीदार होने के लिए परिगणित कर लिया जाय।[१]

अपनी युवावस्था में घोषा, जो कक्षीवान् ऋषि की पुत्री है, कुष्ठरोग से पीड़ित थी। अश्विनीकुमारों की चिकित्सा से वृद्धावस्था में वह निरोग हुई। तत्पश्चात् मातृ-काम-वासना की तृप्ति के लिए जीर्णावस्था में उसने शादी की :[२]

ऋग्वेद के एक मंत्र में कुमारी या विवाहित व्यभिचारिणियों द्वारा गुप्त स्थान में गर्भपात कर भ्रूण फेंक देने की प्रथा का उल्लेख है।[३]

ऋग्वेद, ६ ५।५५।४ में सहोदर भाई-बहन में यौन-संबंध का उल्लेख है ...

पूषणन्व श्वशुर्जारस्तोषं वाजिनम्।
स्वशुर्यो जार उच्यते ॥

एक जगह स्वयं बहन सहोदर भाई के समक्ष अपनी काम-भावना की व्याकुलता का प्रदर्शन कर एक ही शय्या पर उसके साथ नग्नावस्था में होकर उसी प्रकार स्वच्छंद समागम करने की इच्छा प्रकट करती है जिस प्रकार रतिकामिनी पत्नी अपने पति साथ गुप्तांगों को वस्त्रहीन कर एक शय्या पर शयन करती हुई रतिक्रिया द्वारा तृप्त होती है।[४]

एक प्रसंग में प्रजापति का अपनी पुत्री उषा के साथ मैथुन करने पर अल्पमात्रा में हुए रेतःपात से रुद्र की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[५] अन्यत्र कहा गया है कि प्रजापति ने अपनी पुत्री से समागम करना चाहा, तो पुत्री भाग चली और जिस-जिस रूप में उसने अपने को छिपाया, उसी-उसी रूप में प्रजापति ने अपने को प्रकट किया तथा अंततः समागम किया।[६]

अथर्ववेद, ८।६।७ में भी पिता-पुत्री तथा माता-पुत्र के कुत्सित एवं अवैध संबंध का उल्लेख मिलता है। एतरेय ब्राह्मण, ७।१५ में भी शुनःशेप की कथा के संदर्भ में मनुष्य अपनी माता और भगिनी से पुत्र की प्राप्ति के लिए पत्नी-संबंध स्थापित करते कहे जाते हैं।[७]

उपर्युक्त विवरण स्पष्ट करता है कि वेद में काम, जिसे चार्वाक दर्शन ने मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य माना है, को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मानव-जीवन के लिए "काम" वह धुरी है जिसके अभाव में जीवनरूपी शकट का उचित दिशा में चलना दुष्कर हो जाता है, प्रायः असंभव-सा। इस असंभावना को ही दूर करने के लिए चार्वाक दर्शन में कहा गया है .....

अंगनादि-आलिंगनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः।

क्या वेद के उपर्युक्त उद्धरण इस सूत्र का समर्थन नहीं करते? पुत्र की इच्छा के लिए पत्नी रूप में माँ-बहन-पुत्री का उपभोग करना अथवा अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए वृद्धावस्था में विवाह करना या पिता-पुत्र-भाई अथवा माता-पुत्री-बहन के साथ समागम करना क्या सुख के लिए नहीं है? काम अर्थात् स्वच्छंद (शारीरिक) भोग से बढ़कर दूसरा सुख क्या हो सकता है?

अपने सुख के लिए इस भोग की अपेक्षा रहती है। इसलिए चार्वाक का सुख-विचार "स्वार्थमूलक सुखवाद" कहलाता है। शारीरिक भोग से प्राप्त सुख भौतिक सुख है क्योंकि शरीर भौतिक है। अतएव चार्वाक का सुखवाद "भौतिक सुखवाद" भी कहलाता है। वेद के उपर्युक्त उद्धरण इसी सुखवाद की ओर निर्देश करते हैं। के. दामोदरन्[८] का कहना है कि "ऋग्वेद में ऐसे कितने ही सूक्त हैं जिनमें अपने अस्त्रों की क्षमता पर आर्यों की महती विश्वास का वर्णन है। निस्संदेह ये कठिनाईयों को रौंदते हुए आगे बढ़ने और इस सांसारिक जीवन के

संग्राम में विजयी होने के, भौतिकवादी ओज और अदमनीय भावना के द्योतक हैं।"

ऋग्वेद १०।२२।८ में कहा गया है कि अत्याचारी, बुद्धिहीन दस्यु हमें चारों ओर से घेरे हैं। वे निर्दयी हैं और झूठे नियम बनाते हैं। हे दस्युओं के नाश करनेवाले ! इन दासों के शस्त्रों को खंडित करो।

अन्यत्र इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि हे इन्द्र ! हमें अमरत्व और आनन्द दो, शत्रुओं का नाश करने के लिए हमें आवश्यक बल दो, हमें समृद्धि दो और संरक्षण प्रदान करो। विद्वानों की रक्षा करो, हमें अच्छी संतानें और बहुत-सा अन्न दो।[९] ऋग्वेद, २।२१।६ में भी इन्द्र की प्रार्थना इन शब्दों में की गयी है— हे इन्द्र ! हमें श्रेष्ठतम निधियाँ प्रदान करो, प्रतिभाशाली मस्तिष्क और सौभाग्य प्रदान करो। धन-संपत्ति दो और शरीरों को स्वास्थ्य दो। हमें मधुरवाणी दो और हमारे दिल अच्छे करो।

वैदिक आर्य अग्नि से प्रार्थना करते दीखते हैं— ओ जाज्वल्यमान् ! तुमने ही अक्षय सूर्य को आकाश की यात्रा के लिए उद्यत किया, मानव को प्रकाश प्रदान किया। ओ जाज्वल्यमान् ! तुम ही मनुष्यों के प्रकाश हो, हमारे निकट तुम सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रिय हो, मुझ गायक पर कृपा करो, मुझे जीवन दो।[१०]

यजुर्वेद, ३।१७ में भी अग्नि से विनती की गयी है— हे अग्निदेव ! तुम शरीर के रक्षक हो, उसकी रक्षा करो। तुम ही दीर्घ आयु देने वाले हो, मुझे दीर्घ आयु दो। तुम ही मस्तिष्क हो, प्रतिभा देनेवाले हो, मेरे मस्तिष्क को प्रतिभा दो। हे देव ! मेरे शरीर में जो भी कमी है, उसकी पूर्ति करो।

अथर्ववेद में भी सौ एवं उससे अधिक वर्ष तक जीने की कामना की गयी है...

जीवेम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।
.... भूयेश्च शरदः शतम् ॥
(१९।६७।२.४.८)

इन सूक्तों से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि मुनि मरणोपरांत आनेवाले जीवन की खोज में इतने संलग्न नहीं रहते थे जितने कि अपने रहन-सहन की परिस्थितियों को सुधारनेवाले साधनों की खोज में।[११] मंगल देव शास्त्री के अनुसार वेदों का संबंध प्रवृत्तिधर्ममूलक कर्मकांड से है। साधारण से साधारण लौकिक पदार्थों से

लेकर मनःकल्पित स्वर्ग प्राप्ति तक के लक्ष्यों को सामने रखकर ही मनुष्य कामना-प्रधान वैदिक यज्ञों में प्रवृत्त होता था।[१२]

और रहन-सहन-स्तर सुधारने तथा वैदिक यज्ञों में प्रवृत्त होने के लिए "अर्थ" से बढ़कर कौन उपयोगी साधन हो सकता है? चार्वाक दर्शन ने अर्थ को पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार कर भी उसे "काम" नामक पुरुषार्थ का साधन मात्र बतलाया है।

अर्थ के अभाव में न तो शारीरिक और न ही आध्यामिक सुख की प्राप्ति हो सकती है। अर्थ ही वह रीढ़ है जो हमारे वर्तमान जीवन को सुख और संतोष देकर खड़ा रख सकता है। इसलिए चार्वाक दर्शन का मूलमंत्र है...

यावत् जीवेत् सुखम् जीवेत्। ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्॥

और वेद में यह भावना निहित है, जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणों से पता चलता है। वस्तुतः वेद ने भी अर्थ की महत्ता स्वीकार की है। इस दृष्टि से भी वेद में निजी या स्वार्थमूलक सुखवाद की प्रेरणा का भाव है।

अतः चार्वाक दर्शन का बीज वेद में ढूंढ़ना निरर्थक नहीं है। वास्तव में, चार्वाक दर्शन की आधारशिला वैदिक विचारधारा है, उसका विरोध मात्र ब्राह्मणकालीन याज्ञिक कर्मकांडों से है जो वेद का एक आंशिक पहलु है। स्वतः ऋग्वेद में याज्ञिक कर्मकांड को कहीं प्रोत्साहन नहीं दिया गया है। ऋग्वेद की दार्शनिक विचारधारा ही प्रायः सभी वैदिक दर्शनों (पूर्वमांमासा को छोड़कर) का आधार रही है। अतएव चार्वाकदर्शन को, उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में, अवैदिक कहना उचित नहीं जान पड़ता है।

वाल्टर रुबेन **छांदोग्योपनिषद्** के उद्दालक आरुणि को भारत का प्रथम भौतिकवादी दार्शनिक मानता है। **भारतीय दर्शन : एक सरल परिचय** की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि "छांदोग्योपनिषद् में उद्दालक आरुणि के पुद्गल जीववाद से भारत में दर्शन का स्पष्ट प्रारंभ होता है। उसका भौतिकवाद बहुत आदिम है।"[१३] इसी उपनिषद्, ६।१ में श्वेतकेतु को उपदेश देते हुए आरुणि कहता है कि हे सौम्य! पहले यह एक अद्वितीय सत् ही था। कोई-कोई कहते हैं... पहले यह एक अद्वितीय असत् ही था, इसलिए असत् से सत् उत्पन्न हुआ। परन्तु यह कैसे हो सकता है? ...... सत् ही एक अद्वितीय था। उसने ईक्षण किया, उसने तेज को सिरजा।

अर्थात् आरुणि के अनुसार अग्नि (तेज) प्रथम भौतिक तत्त्व था, जिससे दूसरा तत्त्व जल पैदा हुआ और जल से अन्न। सत् का ईक्षण करना उसका

स्वभाव है। सत् ही आगे चलकर उपनिषद् का "ब्रह्म" हो गया है। अतः आरुणि भौतिकवाद, स्वभाववाद एवं ब्रह्मवाद का समर्थक है। इसलिए राहुल सांकृत्यायन ने उसे "शारीरक ब्रह्मवादी" कहा है [१४], क्योंकि ब्रह्म भौतिक शरीर से परे नहीं है। कहा गया है कि इस शरीर (ब्रह्म) में लघु कमलगृह है, उसमें भीतर एक आकाश है। जितना यह बाहरी आकाश है उतना ही यह हृदय के भीतर का आकाश है। दोनों द्युलोक और भूलोक उसी के भीतर एकत्र हैं।...... मरते हुए की वाणी मन में मिल जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, तेज सत् में। यह अणिमा है, इसका स्वरूप यह सारा विश्व है। वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है, श्वेतकेतु! [१५] अणिमा अणु-रूप है। अणु बिल्कुल सूक्ष्म होता है। वह अभौतिक नहीं है। अतः आरुणि एक निराकार एवं अभौतिक ब्रह्म की स्थापना करने में सक्षम नहीं है।

बृहदारण्यकोपनिषद्, १।२।१-२ के अनुसार परमतत्त्व पहले कुछ भी न था। मृत्यु, भूख से यह ढँका था। भूख मृत्यु है। उसने मन में विचार किया... मैं आत्मावाला (सशरीरी) होऊँ। उसने चाह किया और जल पैदा हुआ। जो जल का शर था, वह बड़ा हुआ। वह पृथ्वी हुई। उसमें वह श्रान्त हो गया। श्रान्त तप्त उस ब्रह्म का जो तेजरूप रस बना, वही अग्नि हुआ।

भूख या मृत्यु अभावबोधक है। वह असत् है। अतः असत् से सत् की उत्पत्ति हुई। सत् (सशरीरी) आत्मावाला ब्रह्म है जिसकी इच्छा से जल तत्त्व और जिसके स्वेद से अग्नितत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। **बृहदारण्यकोपनिषद्**, ५।५।१ में भी कहा गया है कि "आरंभ में यह ब्रह्माण्ड जल ही जल था। उस जल ने सत् का निर्माण किया। ब्रह्म ही सत् है। ब्रह्म ने प्रजापति की और प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि की।" यहाँ जल, जो आध्यात्मिक दृष्टि से असत् (भौतिक) है, से सत् की उत्पत्ति बतायी गयी है। अतः स्पष्ट है, बृहदारण्यकोपनिषद् में भी आरुणि की तरह शरीरक ब्रह्मवाद का समर्थन किया गया है। किन्तु आरुणि के लिए प्रथम तत्त्व अग्नि है तो बृहदारण्यकोपनिषद् के ऋषि के लिए यह जल है। ऋग्वेद भी जल को ही प्रथम तत्त्व मानता है। जल हो या अग्नि... दोनों भूततत्त्व हैं। अतएव भूततत्त्व ही विश्व की सृष्टि का कारण है और भूततत्त्व का कारण किसी परम तत्त्व... सत् या असत् (ऋग्वेद की दृष्टि में)... की "कामना" को माना गया है। कामना या इच्छा ही "काम" का आधार है। यदि इच्छा न हो, तो संभोग-प्रकिया संभव नहीं है और न ही किसी अच्छे बुरे कर्मों को सम्पन्न किया जा सकता है। अतएव सृष्टि या कर्म का मूल "काम" (कामना) ही है। अतः चार्वाक का परम पुरुषार्थ "काम" को उपनिषद् ने भी परोक्ष रूप में स्वीकृति दी है।

शारीरक ब्रह्मवाद से यह भी स्पष्ट होता है कि परमतत्त्व ब्रह्म है और वह भौतिक ही है। **कठोपनिषद्**, २.६.१. में भी कहा गया है कि "ऊपर मूल रखने वाला, नीचे शाखा वाला यह अश्वत्थ (वृक्ष) सनातन है। वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, उसी को अमृत कहा जाता है, उसी में सारे लोक आश्रित है। उसको कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही वह (ब्रह्म) है।" अर्थात् ब्रह्म वृक्ष है और वृक्ष भौतिक पदार्थ है। इसलिए ब्रह्म भूततत्त्व है। गीता में भी ब्रह्म की तुलना अश्वत्थ से की गयी है।[१६] **श्वेताश्वतरोपनिषद्**, ३९. ६२ में भी कहा गया है कि जिस (ब्रह्म) से न परे न उरे कुछ भी है न जिससे सूक्ष्मतम या महत्तम कोई है। द्युलोक में वृक्ष की भाँति निश्चल (वह) एक खड़ा है, उस पुरुष से यह सर्व (जगत्) पूर्ण है।...... जिसमें यह सारा विश्व नित्य ढँका है जो काल का काल, गुणी और सर्ववेत्ता है। उसी से संचालित कर्म यहाँ पृथ्वी, जल, तेज सभी का सृजन करता है।

इन पंक्तियों से भी स्पष्ट है कि ब्रह्म वृक्ष के समान भौतिक तत्त्व है। इस दृष्टि से भी उपनिषद् में भौतिकवाद का समर्थन मिलता है।

सांकृत्यायन का कहना है कि इन (उपनिषद्कालीन) प्रारंभिक दार्शनिकों में जो अद्वैतवादी हैं, उन्हें उन अर्थों में हम अद्वैती नहीं ले सकते जिनमें कि बर्कले या शंकर को समझते हैं क्योंकि वे शंकर की भांति पृथ्वी और पार्थिव भोगों का सर्वथा अपलाप करने के लिए तैयार नहीं हैं।[१७] बृहदारण्यकोपनिषद् का याज्ञवल्य राजा जनक की सभा से हजार गायों को हँकवा लेता है। उन गायों की दोनों सींगों में दस-दस पाद बँधा हुआ था। अश्वल (जनक का होता) के पूछने पर कि क्या तुम हम में ब्रह्मनिष्ठ हो ? याज्ञवल्क्य उत्तर देता है कि हम ब्रह्मनिष्ठ को नमस्कार करते हैं, हम तो गायें चाहते हैं।[१८] कहने का तात्पर्य है कि मनुष्य को ज्ञानी बनने की अपेक्षा आवश्यकता की वस्तुओं का उपार्जन करना चाहिए। हम ज्ञानी बनकर ही क्या करेंगे, यदि हमारे पास धन न हो और हम दैनिक अनिवार्यता की पूर्ति न कर सके।

स्पष्ट है, याज्ञवल्क्य मानव-जीवन की सफलता के लिए "अर्थ" को महत्त्वपूर्ण मानता है। उसके लिए काम का भी उतना ही महत्त्व है जितना चार्वाक के लिए। मैत्रेयी को उपदेश देते हुए वह कहता है कि "पति की कामना के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपनी कामना (भोग) के लिए पति प्रिय होता है। भार्या की कामना (भोग) के लिए भार्या प्रिया नहीं होती, अपनी कामना के लिए भार्या

प्रिया होती है। पुत्र, पशु, ब्रह्म, लोक, देव, वेद, भूत--सर्व की कामना के लिए सर्व (सब वस्तुएँ) प्रिय नहीं होती, अपनी कामना (उपभोग) के लिए सर्व प्रिय होता है।[१९] इस उपदेश से पता चलता है कि याज्ञवल्क्य मानव-मनोविज्ञान का ज्ञाता रहा है। मनुष्य का हर काम अपने सुख के लिए ही होता है। हम पत्नी को प्यार करते हैं, तो उससे हमारी अपेक्षा रहती है कि वह भी हमें प्यार करे। पत्नी पति को प्यार देती है, वह अपेक्षा करती है कि पति उसके प्यार की कीमत समझे। यदि हम दूसरों की भलाई करते हैं, तो कहीं-न-कहीं हमारे मन में यह बात होती है कि हमारी भलाई का बदला उन्हें चुकाना चाहिए, कम-से-कम हमारी प्रशंसा करके ही। यह मानव-मन की कमज़ोरी है और इससे स्वार्थवाद का जन्म होता है। अतएव याज्ञवल्क्य चार्वाक के स्वार्थमूलक सुखवाद (या भोगवाद) का ही समर्थक है।

चार्वाक के स्वच्छंद भोगवाद में आस्था रखनेवाला सयुग्वा रैक्व भी है जिसका जिक्र **छांदोग्योपनिषद्** में किया गया है। कहा गया है कि एक बार दानी एवं धर्मात्मा राजा जानश्रुति पोत्रायण ने दो हंसों की बातचीत से रैक्व का नाम सुना। उसने अपने सचिव को उसे ढूंढने का आदेश दिया। एक बैलगाडी के नीचे दाद खुजलाता वह मिला। सूचना पाकर राजा छः सौ गायों, निष्क, खचरी-रथ के साथ पहुंचा। रैक्व ने इन्हें लेने से इन्कार किया, तो राजा इन चीजों के साथ अपनी पुत्री को लेकर दूसरी बार आया। रैक्व ने अन्य चीजों को छूआ तक नहीं, लेकिन राजा की पुत्री के मुँह को हाथ से ऊपर उठाया।[२०]

रैक्व का यह व्यवहार बतलाता है कि मनुष्य के लिए काम (भोग) ही उपयुक्त है, वही पुरुषार्थ है। राजा उपदेश चाहता था और इसके लिए बेटी को अर्पित करना पड़ा। यह घटना बतलाती है कि निजी सुख के लिये किसी भी साधन को अपनाना अनुचित नहीं है। यह चार्वाक दर्शन का ही विचार है।

श्वेनवेद उपनिषद्[२१] में कहा गया है कि न तो कहीं कोई अवतार है न ईश्वर है न स्वर्ग है और न नरक है। सभी परम्परागत धार्मिक साहित्य अहंकारी मुर्खों की करतूत है। प्रकृति, जो मूल उद्गम-स्रोत है और समय, जो संहारक है— सर्वोपरि नियन्ता है। मनुष्यों को सुख या दुःख बांटते समय वे न तो उनके पुण्यों पर ध्यान देते हैं न पापों पर। लच्छेदार बातों के बहकाने में आनेवाले लोग-देव-मंदिरों और पुरोहितों से चिपके रहते हैं, जबकि यथार्थ में विष्णु और एक कुत्ता में कोई अन्तर नहीं है।

और चार्वाक दर्शन भी इस विचार का ही प्रचारक है। अतः उपनिषदों में भी वेद की तरह चार्वाक दर्शन के मूल विचार का समर्थन मिलता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकालना अनुपयुक्त नहीं होगा कि वेद-उपनिषद् में ही चार्वक दर्शन को "वैदिक" नाम से अभिहित करना अत्युक्ति नहीं है।

—नरेश प्रसाद तिवारी

दर्शन-विभाग
एस. यु. कॉलेज, हिलसा
(नालन्दा), मगध विश्वविद्यालय
(बिहार)

टिप्पणियाँ

१. सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
   कक्षीवन्तं य: औशिज :॥
   ऋग्वेद, १।५।१८।१

२. युवं नरा सुवते कृष्णियाय विष्णवाप्वं ददथुर्विश्वकाय।
   घोषायै चित्पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्॥
   ऋग्वेद १।१७।११७।७

३. धृतव्रता आदित्य इषिरा आरेमत्कर्तृ रहसूरिवागः।
   शृण्वन्तो वो वरुण मित्र देवा भद्रस्य विद्वां अवसे हुवे वः॥
   ऋग्वेद २।३।२९।१

४. ऋग्वेद, १०।१।१०।७

५, ऋग्वेद, १०।५।६१।६

६. वहीं, १०।५।६१।७

७. A very old gatha is cited, where for the sake of sons, men are said to unite with their mothers and sisters as with a wife.
   Sircar S. C., *Earliest Social History of India*, pp. 75-76

८. के. दामोदरन्, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. ३३।
९. ऋग्वेद, ६।८०।३
१०. ऋग्वेद, १०।१५०।५
११. के. दामोदरन्, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. ३३।
१२. मंगलदेवशास्त्री, भारतीय संस्कृति का विकास, २, पृ. ७।
१३. देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन : एक सरल परिचय, पृ १५।
१४. राहुल सांकृत्यायन, दर्शन दिग्दर्शन, पृ. ४५७।
१५. छांदोग्योपनिषद्, ८।१।१-३, ६।१
१६. उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्यम्।
छंदासि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥
गीता, १५।१
१७. राहुल सांस्कृत्यायन, दर्शन दिग्दर्शन, पृ. ४०२।
१८. बृहदारण्यकोपनिषद्, ३।१।१
१९. वहीं, ४।१
२०. छांदोग्योपनिषद्, ४।१
२१. एम. एन. राय, मैट्रियलिज्म, पृ. ७७-७८।

आलोचना की भारतीय परम्परा के अभाव का प्रश्न

प्राचीन भारतीय साहित्य-चिन्तन में ऐसी अनेक बातें हैं जिनका प्रतिफलन आलोचना में न होना आश्चर्यजनक है। सबसे पहली बात यह है कि भारत में कवि को काव्य-संसार में विधाता का स्थान देते हुए उसे रचना की पूरी स्वतंत्रता दी गई। स्वतंत्रता के साथ दायित्व स्वतः जुड़ा रहता है। प्राचीन भारत में यह देखने की चिन्ता शायद ही कभी की गई कि किसी कवि ने अपने रचना-स्वातंत्र्य का कैसा उपयोग किया। रचना की स्वतंत्रता का लाभ लेकर कवि ने हमें उसके बदले जो दिया वह कितना मूल्यवान् है? ऐसे प्रश्न साहित्यानुशीलन की भारतीय परम्परा में कभी उठाए गए हों, इसकी जानकारी उपलब्ध नहीं है। 'निरंकुशाः कवयः' कहकर उन्हें शायद मूल्यांकन से परे मान लिया गया।

मूल्यांकन के रूप में न सही, रचना-वैशिष्ट्य के संधान के रूप में फिर भी आलोचना का विकास हो सकता था। संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य चर्चा अनेक बार 'निर्मिति' के रूप में की गई है। अभिनवगुप्त ने रचनाकार की प्रतिभा को परिभाषित करते हुए उसे अपूर्व वस्तु के निर्माण में सक्षम प्रज्ञा कहा है, 'प्रतिभा अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा।' उनके गुरु भट्ट तौत ने उसे **नवनवोन्मेषशालिनी** माना था। कवियों के कृतित्व में यह नवनवोन्मेष कैसे निष्पन्न हुआ और उसके फलस्वरूप काव्य-निर्मितियाँ कैसे अपूर्वता से सम्पन्न रहीं, यह देखने की उत्सुकता स्वाभाविक होती है, लेकिन ऐसी किसी खोज का पता प्राचीन साहित्यानुशीलन में नहीं मिलता।

अलंकार और वक्रोक्ति से लेकर ध्वनि सम्प्रदाय तक साहित्य का विचार रचना-सौन्दर्य की दृष्टि से किया गया है। यह सौन्दर्य विभिन्न कृतियों में कैसे घटित हुआ है, उसके घटक कौन-से हैं और उनका संयोजन किस तरह अनूठा है, इस बात की परीक्षा की जाने के उदाहरण साहित्य के अध्ययन की प्राचीन भारतीय परम्परा में खोजने पर भी नहीं मिलते।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ५, अङ्क ३, जून, १९८४

संस्कृत काव्यशास्त्र में लोकगृहीत विषय-वस्तु के कलात्मक रूपांतरण के सम्बन्ध में जितने संतुलित ढंग से विचार किया गया है, उसे देखते हुए मूल्यांकन की परम्परा का अभाव और भी हैरानी पैदा करता है। संस्कृत के साहित्य-चिन्तन में यद्यपि मुख्य बल रचना की सौन्दर्यधर्मिता पर रहा है, फिर भी साहित्य-सर्जना लोकविच्छिन्न या लोकनिरपेक्ष नहीं मानी गई। नाटचशास्त्र में लोकधर्मी और नाटचधर्मी दोनों का विचार किया गया। अभिनवगुप्त ने लोकधर्मी को नाटचधर्मी की भित्ति कहा। लोकधर्मी और नाटचधर्मी के बीच इस सम्बन्ध का स्वरूप स्पष्ट करते हुए गणेश त्र्यम्बक देशपांडे ने लिखा है : "अभिनवगुप्त लोकधर्मी को 'भित्तिस्थानीय' अर्थात् चित्र के आधारभूत दीवार के समान बताते हैं। चित्र को दीवार का आधार होता है; किन्तु चित्र दीवार नहीं है। जब हम चित्र को देखते हैं तो दीवार को भी देखते ही हैं। किन्तु चित्र द्वारा दीवार का दर्शन होता है, इसलिए वह सुंदर दीखती है। इसी तरह नाटच में नाटचधर्म के द्वारा ही लोकधर्म प्रकट होने से वह लोकधर्म सुंदर दीखता है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि नाटचधर्मी लोकधर्मी का 'सहजसंवादी व्यापार' है।"[1] इस कथन में जहाँ यह निहित है कि कला लोक-सम्बद्ध होती है, वहीं उससे यह भी प्रकट होता है कि रचना के मूल्यांकन का आधार उसकी कलात्मकता या रचनागत सुन्दरता ही हो सकती है, लोकसम्बद्धता नहीं।

इसी दृष्टिकोण के परिणाम स्वरूप नाटचशास्त्र में 'भाव' का विचार वर्ण्य की दृष्टि से नहीं, प्रस्तुति की दृष्टि से किया गया। गणेश त्र्यम्बक देशपांडे ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि नाटचशास्त्र में भाव का सम्बन्ध 'भवति' से नहीं, 'भावयति' से है। भरतमुनि की निम्नलिखित उक्ति में इसका प्रमाण उपलब्ध है :

> विभावैराहृतो योऽर्थः ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
> वागंगसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥
> वागंगमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
> कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥[2]

अभिनवगुप्त ने 'भावन' का अर्थ 'आस्वादनयोग्य बनाना' किया है। इस दृष्टि से 'भाव' शब्द कलात्मक प्रस्तुति या मूर्तन का द्योतक है। जैसा कि गणेश त्र्यम्बक देशपांडे ने लक्ष्य किया है, 'भावों' में मनोविकारों का ही परिगणन नहीं किया गया, उनके अंतर्गत 'मूर्च्छा' और 'मरण' जैसी अभिनेय अवस्थाएँ भी गिनी गई। स्व वस्तुतः 'भावन' कथ्य के मूर्त रूप लेने या सम्प्रेषण के उपादानों से सम्पन्न होने का माध्यम है। इसीलिए 'भावों' की सूची में अभिनेय मनोविकार

और अवस्थाएँ, दोनों सम्मिलित हैं। नीहार रंजन रायने भी, जिन्होंने 'रस' की चर्चा अधिकांशतया अनुभूति के रूप में की है, यह माना है कि भरतमुनि और उनके अनुगामियों की दृष्टि में रस कलानुभव का उपादान था : "भरत कला की लयात्मक वस्तु के रूप में 'रस' से पूर्वपरिचित थे तथा 'प्राचीन' या पुराने विचारों से सम्बद्ध काव्यशास्त्रीय लेखकों को, जिन्होंने भरतमुनि का ही अनुसरण किया, यह 'रस' कलानुभव के उपादान के रूप में विदित था।" [३]

स्पष्ट है कि नाटयशास्त्र में भावों का उल्लेख अंतस्तत्त्वों की दृष्टि से न किया जाकर प्रस्तुति या अभिनय की दृष्टि से किया गया है। स्वयं 'अभिनव' शब्द नाटय की वस्तु को दर्शकों तक ले चलने—सम्प्रेषण—का वाचक है। [४] इस तरह यह कहा जा सकता है कि नाटयशास्त्र में कला का विचार विषय वस्तु की दृष्टि से नहीं, मूर्तन की दृष्टि से किया गया है। फिर भी, चूंकि नाटयधर्मी का आधार लोकधर्मी माना गया है, इसलिए कला की लोकसंवादिता या जीवन—सम्बद्धता जीवन-संदर्भों में उसके मूल्यांकन की आवश्यकता उत्पन्न करती तो यह स्वाभाविक ही होता।

इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि कला की लोक-संवादिता या जीवन-सम्बद्धता स्वीकार करते हुए भी संस्कृत के आचार्यों ने कला में व्यक्त जीवन और व्यवहारपरायण जीवन में भेद किया था। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "वर्णनानिपुण कवि की कल्पना में ढला 'अनादिप्राक्तन-संस्कार' लौकिक विषयज नहीं होता। वह साधारणीकरण से ही आस्वाद्य बनता है।" [५] रूपवादी रोजर फ्राई ने भी इससे मिलती-जुलती बात कही है। उनका कहना है कि कला में जीवन कल्पना में ढलकर व्यक्त होने के कारण व्यवहार—विच्छिन्न होता है। [६] फिर भी रोजर फ्राई की तुलना में अभिनवगुप्त और भरतमुनि का दृष्टिकोण अधिक सतुलित था। जहाँ रोजर फ्राई ने कल्पना में जीवन के ढ़लने के तर्क का उपयोग कला को जीवन-निरपेक्ष सिद्ध करने के लिए किया, वहाँ हमारे प्राचीन आचार्यों ने इस तर्क के सहारे कला को 'लोकसंवादी' या जीवन-सम्बद्ध माना है।

दूसरे यह प्रकट होता है कि संस्कृत साहित्य में व्यक्त जीवन और रचना-कर्म का वैशिष्ट्य दोनों के आकलन का क्षेत्र अध्येता के सामने खुला था, लेकिन वह सैद्धान्तिक ऊहापोह में लगा रहा, रचना-विशेष या रचनाकार-विशेष के साहित्यिक मूल्यांकन में उसने कोई रुचि नहीं ली।

इस स्थिति का एक कारण यह हो सकता है कि उस समय काव्याशंसा और कवि की प्रतिष्ठा का स्थान राजसभाएं बन गई थीं और राजसभाओं में जिस

कोटि के काव्य का बोलबाला था उसमें विशद, सांगोपांग, बहुआयामी एवं संश्लिष्ट कल्पना-सम्पन्न काव्य-ग्रन्थों के स्थान पर स्फुट उक्तियों की प्रधानता थी। राजा और उनके सभासदों का तात्कालिक रंजन ऐसी काव्य-रचना का उद्देश्य था। निस्संदेह, चमत्कार-प्रदर्शन और अनूठी सूझ से विस्मित करना इस प्रकार के काव्य का प्रधान धर्म था। स्वभावत: काव्य-सौंदर्य का स्थान कौतुक ने हथिया लिया। राजसभाओं में सम्मान दिलवाने वाले काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है :

"वस्तुतः उक्ति-वैचित्र्य ही वह काव्य है। दण्डी जैसे आलंकारिक आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है कि कवित्व-शक्ति क्षीण भी हो तो कोई बुद्धिमान व्यक्ति अलंकार-शास्त्रों के अभ्यास से राज-सभाओं में सम्मान पा सकता है (१-१०४-१०५)। राजशेखर ने उक्ति-विशेष को ही काव्य कहा है। यह यहां स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि रसमूलक प्रबन्धकाव्यों को काव्य नहीं माना जाता था या उनका सम्मान नहीं होता था। मेरा वक्तव्य यह है कि काव्य-नामक कला, जो राजसभाओं और गोष्ठी-समाजों में कवि को तत्काल सम्मान देती थी, वह उक्ति-वैचित्र्य मात्र थी।"[७]

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन भारत में काव्यास्वाद स्फुट उक्तियों में परिरुद्ध था। यदि ऐसा होता तो वह तलस्पर्शी एवं सूक्ष्म काव्य-चिन्तन सम्भव नहीं था जो हमें संस्कृत के आचार्यों से उपलब्ध हुआ है। आनंदवर्धन ने जब काव्य के सौन्दर्य को अंग-सौन्दर्य न मान कर अंगी लावण्य कहा तो उनके सामने ऐसी रचनाएँ अवश्य थीं जिनकी प्रतीति व्यक्तित्व की समग्रता के रूप में होती थी। कुन्तक ने जब वक्रोक्ति का प्रतिपादन करते हुए उसका एक रूप 'प्रबन्ध-वक्रता' माना तो उनके सामने स्फुट उक्तियाँ न होकर बडे आकार के ऐसे काव्य थे जिनमें कवि की कल्पना ने संश्लिष्ट और प्रलम्बित विधान की सृष्टि की थी। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि राजसभाओं और गोष्ठियों में स्फुट उक्तियों के वर्चस्व के कारण काव्य के विषय में गम्भीरता से विचार करने के लिए अवकाश नहीं रह गया था।

यह सम्भव है कि 'कला' के नाम पर स्फुट उक्तियों का वर्चस्व रहा हो लेकिन यह बात मान लेते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि प्राचीन भारत में कला का अभिप्राय हमेशा एक ही नहीं रहा। एक समय ऐसा भी था जब कला का अर्थ केवल कारीगरी था। भर्तृहरि ने जब कहा, 'सहित्यसंगीत कला विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छ विषाणहीनः' तो उन्होंने साहित्य को कला से अलग रखा था। प्राचीन ग्रंथों में कला की जो सूचियाँ उपलब्ध हैं, उन्हें देखने से भी इस

धारणा की पुष्टि होती है कि प्राचीन भारत में एक समय 'कला' निरे कौशल का पर्याय थी। उस युग की कला विषयक अवधारणा के सम्बंध में नीहार रंजन राय ने लिखा है :

"कला अवश्य एक **रचनात्मक क्रिया** मानी जाती थी किन्तु **सर्वथा व्यावहारिक रूप में।** इसीलिए **रूप और तकनीक के सिद्धान्तों और नियमों का इतना महत्त्व** था। रचनात्मक कल्पना के जो भी स्रोत हों और उनका स्वभाव और लक्षण कुछ भी क्यों न हो या किसी भाव या कल्पना का जो भी स्वभाव या लक्षण रहा हो इस सम्बंध में ऐसा वाद-विवाद हुआ लगता है कि पारम्परिक कला में जिसे सामूहिक आत्मा (मन) या आकांक्षा का परिणाम समझा जाता था, बाह्यीकरण, रूपीकरण या प्रत्यक्षीकरण की पद्धती को तार्किक रूप से **निश्चित सिद्धान्तों-नियमों का अनुकरण करना चाहिए।**"[१]

एक स्तर पर निश्चित रूप से काव्य 'शिल्प' के अधीन हो गया था और उसकी रचना का प्रयोजन रंजन या विनोद रह गया था। तभी तो यह उक्ति प्रचलित हुई कि 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'। द्विवेदीजी ने इस कोटि की काव्य-रचना के विविध रूपों का उल्लेख किया है। साहित्य-मनीषियों ने इस कोटि की काव्य-रचना अवधान के योग्य नहीं समझी होगी, ठीक वैसे ही जैसे आज 'लोकप्रिय' उपन्यास और कवि-सम्मेलनी काव्य इस योग्य नहीं समझे जाते कि उनकी आलोचना की जाए।

प्रश्न तो यह है कि गम्भीर कोटि की काव्य-रचना भी, जिसमें गहन जीवन दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई और जो तलस्पर्शी काव्य चिन्तन को प्रेरित कर रही थी, आलोचना का निमित्त नहीं बन सकी। राजसभाओं से पहले आश्रमों में जो काव्य-रचना हुई थी– जिसका एक सशक्त उदाहरण वाल्मीकि **रामायण** है, उसमें साहित्य-रसिकों की रुचि होते हुए भी आलोचना का उदय नहीं हो सका। बाद में राज्याश्रित कवियों ने भी विषद कल्पना और गहरी अंतर्दृष्टि से सम्पन्न काव्यों की रचना की। **रघुवंश, कुमारसम्भव** और **मेघदूत** हमारे सामने हैं। रसकाव्यों की यह परम्परा देर तक चलती रही, लेकिन वह आलोचनात्मक प्रतिभा को आन्दोलित नहीं कर सकी।

यहां तक कि नाटक भी, जिनके विषय में कालिदास के **मालविकाग्निमित्रम्** के एक पात्र गणदास का यह कहना है कि उनमें लोकचरित्र नाना रसों में व्यक्त होता है आलोचना की आवश्यकता अनुभव नहीं करा सके। जैसा कि नाट्शास्त्र और **अभिनव भारती** से पता चलता है, उस युग की कला-चेतना के लिए लोक-

चरित उतना प्रासंगिक नहीं था, जितनी उसकी रसात्मक परिणति। प्रबंध काव्यों के विषय में भी ऐसा ही हुआ होगा।

रस या नंदतिक विधान से प्राचीन भारतीय मनीषा की यह प्रतिबद्धता विस्मयकारिणी है, फिर भी पूरे विश्वास के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि नाटक या प्रबंधकाव्य की विषय-वस्तु के प्रति अनवधान का एकमात्र कारण रचना के नंदतिक मूल्य के प्रति आग्रह है। सम्भवतः पुनर्जन्म और कर्मफल में दृढ विश्वास भी इसका इक कारण रहा है। लोक की स्थिति पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है, इसलिए उसकी चिन्ता निरर्थक है। उसके आकलन और मानवीय प्रयत्न से उसे बदलने की चिन्ता प्राचीन भारत में शायद अकल्पनीय थी। इसलिए जीवन के प्रश्नों को लेकर आलोचना का जन्म प्राचीन भारत में हो ही नहीं सकता था।

जीवन के सम्बन्ध से न सही, नंदतिक विधान या नंदतिक अनुभूति के वस्तुगत विश्लेषण के रूप में भी आलोचना का उदय भारत में न हो सका। इसका एक कारण 'रस' की अवधारणा का वह विकास भी हो सकता है जो विधान से अनुभूति की ओर और फिर लौकिक अनुभूति से दिव्य अनुभूति की दिशा में हुआ। भरत के नाट्यशास्त्र में रस कवि के अभिप्रेत को मूर्त करने वाले विधान में निहित माना गया। इस तथ्य को रेखांकित करते हुए नीहार रंजन राय ने भरत-मुनि की रस संबंधी अवधारणा को 'एक बाह्य रूपीय अवधारणा' कहा है।[११] आगे चलकर यह विधानगत अवधारणा उस अनुभूति के सम्बन्ध से जानी जाने लगी जो इस रचना विधान से संक्रमित होती थी। भरतमुनि की रस-सम्बन्धी अवधारणा को बाह्य-रूपीय अवधारणा मानने वाले नीहार रंजन राय ने उक्त अवधारणा के परवर्ती विकास की चर्चा अनुभूति के रूप में की है :

"जो चीज कलात्मक सत्त्व या चरमोत्कर्ष को निर्धारित करती-सी प्रतीत होती है वह अपेक्षित अर्थ में चित्रित की गई या प्रस्तुत की गई विषय-वस्तु नहीं है। यह विषय-वस्तु अनुभूति या मनःस्थिति के समान खास कलागत विषय का रूप या शरीर है; उसीसे प्रवर्तित रस है। यह वही रस है जो इसकी आत्मा या चेतना है, कलात्मक लक्ष्य है। हमें कलाकार की कल्पना से निर्मित स्थिति के जरिए इस रस का अनुभव करने या आस्वाद करने और इस प्रकार उस शुद्ध निर्वैयक्तिक आनंद का अनुभव करने का मौका मिलता है जो सदैव भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कला का एकमात्र उद्देश्य रहता है। हमें इस माध्यम से रस को समझने का उतना अवसर नहीं मिलता जितना इसमें जीने का।"[१२]

रसानुभूति अभिनवगुप्त तक पहुँचते-पहुँचते लौकिक या मानवीय स्तर से हटकर दिव्यानुभूति के धरातल पर पहुँच गई। अभिनवगुप्त ने रस-निष्पत्ति की जो व्याख्या की है उसमें शैव दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली का आधार ग्रहण किया गया है। **साहित्यदर्पण** में विश्वनाथ ने रसास्वादन का जो स्वरूप निर्धारित किया है, उसे देखकर तो यह लगता ही नहीं है कि रसानुभूति कोई मानवीय व्यापार है :

सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानंदचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः।
लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ [१३]

यह '**ब्रह्मास्वाद-सहोदर**' रस अनुभव तो किया जा सकता है, उसका विश्लेषण सम्भव नहीं है। यद्यपि इस दिव्य अनुभूति के रचनागत घटक विवेचन से बच नहीं सके, फिर भी उससे काव्य को कुछ ऐसा आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त हो गया कि लौकिक बुद्धि से उसका मूल्यांकन औचित्य के परे प्रतीत होने लगा। तादात्म्य के मनोविज्ञान को अभिनवगुप्त ने तन्मयीभवन की अवधारणा में पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। रसानुभूति की व्याख्या करते हुए गणेश त्र्यम्बक देशपांडे ने भी जिस तरह की आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग किया है, उससे भी उसकी अतिमानवीयता प्रकट होती है :

"इस सत्त्वमयी अवस्था में **रसिक का आत्मचैतन्य** रूप लोकोत्तर आनंद प्रकाशित होता है, तथा इस आनंद में रसिक **विश्रांत** होता है। विश्रांत होने का अर्थ है दूसरी किसी बात का ध्यान न होना। **रस का भोग आत्मानंद के स्वरूप का होता है**। ......काव्य-व्यापार में भोगीकरण ही प्रधान अंश है एवं सिद्ध रूप है, क्योंकि आत्मानंद सिद्ध रूप ही होता है। [१४]

रसानुभूति अद्वैत की अनुभूति बन जाने पर उसमें उस मानसिक अंतराल के लिए कोई अवकाश नहीं रह गया जो काव्यास्वाद के क्षणों में सहृदय की आलोचनात्मक सजगता को बनाये रखता है। भट्ट नायक ने भावकत्व का जो प्रतिपादन किया था, इसमें आलोचनात्मक सजगता की स्वीकृति अन्तर्निहित थी, लेकिन अभिनवगुप्त ने भावकत्व की परिकल्पना को अमान्य करके रसानुभूति के क्षणों में आलोचना की सम्भावना ही नहीं मानी। फलतः रस-सिद्धांत की अतिमानवीय परिणति आलोचना की सम्भावना के लिए घातक सिद्ध हुई।

रस की अवधारणा की इस अतिलौकिकता का प्रतिवाद करना उस विचारक के लिए आवश्यक हो जाता है जो साहित्य को एक मानवीय संस्था के रूप में देखते हुए उसे आलोचना से परे नहीं मानना चाहता। नीहार रंजन राय ने मानो रसानुभूति के आध्यात्मिकीकरण का प्रतिवाद करते हुए कलानुभूति के मानवीय स्वरूप का प्रतिपादन किया है : "मैं यहां भी यह तर्क दूंगा और इस पूरी पुस्तक में निरंतर कहता रहा हूँ कि जिस चीज़ में कलानुभव रहता है, वह न तो साधारण अर्थ में पूर्णत: भौतिक है और न ही आध्यात्मिक अर्थ में पूर्णतः अनुभवातीत। वह अस्तित्व-अवस्था का अनुभव करने के स्पष्ट अर्थ में मानवोचित है। वस्तुतः कलानुभव मानव-अनुभव होता है...।"[१५] रस की अवधारणा का आध्यात्मिकीकरण हो जाने पर उसकी अनुभूति का लौकिक धरातल पर विश्लेषण कठिन हो गया।

फिर भी, आलोचना की भारतीय परम्परा के अभाव का यह एकमात्र अथवा प्रमुख कारण नहीं है। काव्य के मूल्यांकन के लिए यहां रस के अलावा अन्य कसौटियां भी थीं। अलंकार, वक्रोक्ति, रीति जैसी शुद्ध रूपवादी काव्य दृष्टियों के रहते प्राचीन भारत में रचना-विशेष या रचनाकार-विशेष की आलोचना नहीं की गई तो उसका कारण कलानुभव का आध्यात्मिकीकरण नहीं हो सकता यह था। देखना यह चाहिए कि प्राचीन भारत की विभिन्न काव्य-दृष्टियों में कौन-सा दोष सर्वत्र व्याप्त रहा है। यदि किसी ऐसे व्यापक दोष का पता चल जाए तो यह समझने में कठिनाई नहीं होगी कि उन काव्य-दृष्टियों की कोख से आलोचना का जन्म क्यों न हो सका।

साहित्य की समझ के लिए भारतीय चिंतन-पद्धति ने जो रूप धारण किया उसमें एक बात सर्वत्र दिखलाई देती है, वह यह कि काव्यशास्त्र की प्रधान प्रवृत्ति लक्षण-निर्धारण और वर्गीकरण की रही है। रसानुभूति के आठ-नौ रूपों के प्रकाश में रसों की संख्या निश्चित की गई है, अलंकारों की भी गिनती की गई है और उनके रूप में कल्पना-वैदग्ध्य के प्रकार गिना दिए गए हैं। ध्वनि के भेदोपभेद निश्चित करने में भी भारी श्रम किया गया है। वक्रता के भी जितने रूप दिखलाई दिए, आचार्यों ने गिन डाले। काव्यगुण और काव्य-दोष भी गिन लिए गए।

सैद्धांतिक रूप से कला की नवनवोन्मेषशालिनी प्रकृति की बात कहते हुए भी इस पद्धति ने सर्जनात्मक वैभव को गिनती के प्रकारों में परिरुद्ध कर दिया। काव्य-सौन्दर्य के रूप स्थिर हो जाने पर उसकी अनंत सम्भावनाएँ अवरुद्ध हो गई। फलत: सर्जनात्मक कल्पना के खुले क्षेत्र की अवधारणा के लिए अवकाश नहीं रह गया और काव्य का विचार बंधे-बंधाए प्रतिमानों में सिमट गया।

जीवन्त कलानुभूति पर जड़ कोटियों की निर्जीवता हावी हो गई । काव्यानुभव के स्थान पर उसका कंकाल विचारणीय रह गया । साहित्य का अध्ययन कला की असमाप्य अपूर्वता के ठीक विपरीत पूर्वनिर्धारित मानदंडों के विनियोग के रूप में ढल गया । इन पंक्तियों में अमुक अलंकार का अमुक भेद है, उन पंक्तियों में अमुक प्रकार की ध्वनि है, यहाँ वक्रोक्ति का अमुक रूप मिलता है, वहाँ अमुक रस अमुक-अमुक अवयवों से घटित है– यही तय करने में साहित्य के अनुशीलन की इतिकर्तव्यता समझ ली गई ।

इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि अध्येताओं को साहित्यिक कृतियों का खण्ड-प्रत्यक्ष ही हो सका । रचना अपनी गत्यात्मक समग्रता में उन्हें उपलब्ध नहीं हो सकी । रचनाकार की सर्जनात्मक कल्पना की संश्लिष्ट गति के अनुभव से वे वंचित रह गए । काव्य-शरीर और काव्यात्मा की दुविधा से मुक्त होकर समग्र रचना की ऊर्जा का आकलन करने की स्थिति में वे नहीं रहे ।

दूसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि सामान्यताओं पर बल बढ़ जाने से रचना का निजी वैशिष्टय नहीं उभर पाया । यह जानते हुए भी कि नाटक में **लोकचरित** की **नानारसात्मक** अभिव्यक्ति होती है, हमारी चरित्र-दृष्टि पात्रों की धीरोदात्त आदि सुनिर्धारित कोटियों में अटक गई, अनुकूल-दक्षिण आदि कोटियों में रखकर भी पात्रों का विचार किया गया, नायिकाओं के विषय में विचार करना हुआ तो नायिका-भेद रच डाला गया । कवि ने अपने पात्रों के अद्वितीय व्यक्तित्व का विचार करने की चिंता नहीं की गई । रचना के इस अवयव–चरित्रांकन–के समान अन्यान्य अवयवों के अद्वितीय विधान का प्रश्न भी साहित्य के अध्येताओं के मन में व्यावहारिक धरातल पर नहीं उठा । यद्यपि सिद्धांततः काव्य-रचना के रूप में अपूर्व वस्तु का निर्माण करने वाली प्रतिभा के विचार में वह अन्तर्भूत था, फिर भी रचित कृति की समग्रता में उसके अपने सर्जनात्मक सौन्दर्य की अद्वितीयता को रेखांकित करने के किसी प्रयत्न के दर्शन प्राचीन भारतीय काव्य-चर्चा में नहीं होते ।

ऐसी स्थिति में आलोचना का आविर्भाव सम्भव नहीं था । इसीलिए संस्कृत का काव्यशास्त्र सैद्धांतिक समृद्धि के बावजूद आलोचना के लिए उर्वरभूमि नहीं बन सका ।

५६, गोल्फ कोर्स
जोधपुर–१ (राजस्थान)

– जगदीश शर्मा

टिप्पणियाँ

१. गणेश त्र्यम्बक देशपांडे, भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ. २२५ (बम्बई, १९६०)
२. नाट्यशास्त्र, ७ / १, २
३. नीहार रंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन, पृ. ३०१ (दिल्ली, १९७८)
४. अभि + नी + अच् = भली भाँति ले चलना
५. गणेश त्र्यम्बक देशपांडे, भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ. २५६
६. रोजर फ्राई, विज़न एण्ड डिजाइन, पृ. २६ (१९६१)
७. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ. १४५ (दिल्ली, १९७०)
८. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
— ध्वन्यालोक, १ / ४
९. भारतीय कला का अध्ययन, पृ. ९५
१०. त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते– मालविकाग्निमित्रम् १ / ४
११. भारतीय कला का अध्ययन, पृ. ९९
१२. वहीं पृ. १०९
१३. साहित्यदर्पण, ३ / २-३
१४. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ. २९३
१५. भारतीय कला का अध्ययन, पृ ११८ ।

लोकायत सम्प्रदाय : क्रान्तिकारी प्राचीन दर्शन

ऐन्द्रिक भोगवाद और अनीश्वरता का प्रतिपादक एकमात्र सम्प्रदाय लोकायत अथवा चार्वाक मत है। परम्परागत दार्शनिक सिद्धान्तों के समान लोकायत मत का कोई स्वतन्त्र शास्त्र उपलब्ध नहीं है। किन्तु ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर दर्शन-ग्रंथों एवं उनके पक्षधर भाष्यकर्ता आचार्यों द्वारा पूर्व पक्ष के रूप में व्यक्त की गई टिप्पणियों से जो उसका विलक्षण दार्शनिक स्वरूप प्रकट होता है, वर्तमान में उनके अतिरिक्त लोकायत मत के अध्ययन का कोई सुलभ साक्ष्य एवं आधार नहीं है। पतंजलि के अनुसार लोकायत सूत्र नामक एक सिद्धान्त ग्रन्थ अवश्य था जिसपर भागुरी नाम का महत्त्वपूर्ण भाष्य[1] था। इस मत के प्रवर्तक आचार्यों द्वारा समीक्षा के ध्येय से उदाहरण रूप में उद्धृत कतिपय सूत्रों से प्रकट होता है कि लौकायतिक मत भूत चैतन्य, स्वभाव, तथा प्रत्यक्ष प्रमाणवाद और दण्डनीति का समर्थक था तथा अर्थ एवं काम को चरम प्राप्तव्य पुरुषार्थ निश्चित करता था।[2]

लोकायतिक मत एक नास्तिक शास्त्र है। नास्तिक मुख्यतया उस विचार वृत्ति को कहा जाता है जो परलोक तथा परमेश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में संशय एवं अनास्था की सृष्टि करती है, जो आप्तवेद की अर्थप्रामाणिकता को अस्वीकार कर उसके प्रति निन्दापूर्ण मिथ्याभाव को प्रश्रय देती है और मानव प्रयासों को मात्र सांसारिक समृद्धि एवं सन्तुष्टि तक सीमित रखने की मन्त्रणा प्रदान करती है।[3] नास्तिकता के उपर्युक्त सभी लक्षणों का लोकायत मत में पूर्ण सन्निवेश स्वीकार किया गया है। फलतः अपने दार्शनिक विनियोग में ही लौकायतिक मत आस्तिकता के उस मूलाधार पर प्रहार करता है जिस पर 'परोक्ष' आस्था और कल्पित 'अनुमान' का विशाल प्रासाद खड़ा होता है। असंगत तथा अनर्थक शब्दों ('जर्भरी', 'तुर्फरी' आदि) से युक्त और प्रतिद्वेषमय प्रार्थनाओं से पूर्ण वैदिक ऋचायें लोकायतिकों की दृष्टि में निशाचरों के समान स्वार्थ-संकुल धूर्त पुरोहितों की कपट कृतियां है। उनमें जटिल हिंसापूर्ण तथा घृणास्पद अश्वमेधादि यज्ञों की

कुत्सित व्यवस्था प्रदान कर अन्न तथा प्राण की हानि की जाती है और उससे स्वर्ग प्राप्ति की मोहक कल्पना द्वारा मनुष्य को दिग्भ्रमित किया जाता है। इसी प्रकार मानव चित्त को अंधरूढियों, श्रेणीगत विषमताओं और युक्ति-रहित विश्वासों की शृंखला में प्रतिबन्धित करने वाली दैव, भाग्य, अदृष्ट, श्राद्ध, पिण्डदान, बलि विधान, प्रस्तर पूजा, दक्षिणा, मन्त्र, पुरश्चरण, गुरुवाद आदि से सम्बन्धित समस्त मान्यताओं, कर्म-शून्यता उत्पन्न करने वाली जड़ वृत्तियों और पौराणिक जल्प कथाओं की लौकायतिकों ने व्यंग्यपूर्ण मुखर तथा निर्भीक आलोचनायें की हैं।[४]

अतएव, श्रौत-स्मार्त दार्शनिकों ने लोकायत मत को यदि एक स्थान पर अपने सिद्धान्त प्रतिस्थापन में प्रधान प्रतिद्वन्द्वी मानकर परास्त करने का प्रयास किया है तो अन्य स्थान पर सेंध में पकड़े गये चोर की भांति उसकी भूरि-भूरि भर्त्सना की है। **रामायण** में जाबालि भरद्वाज को इंगित कर राम के शब्दों में कहा गया है कि लौकायतिक 'अनर्थकुशल' और 'पण्डिताभिमानी' हुआ करते हैं।[५] **विनयपिटक** तथा **सद्धर्म पुण्डरीक** में लोकायतशास्त्र के अध्ययन अध्यापन का स्पष्ट निषेध मिलता है जिसे तथागत की आज्ञा मान कर शिरोधार्य करने का निर्देश है।[६] बुद्ध घोष और न्यायमञ्जरीकार ने उसे 'वैतण्डिक' की संज्ञा दी है। गौतम के अनुसार वितण्डा का अभिप्राय प्रतिपक्ष स्थापनाहीन तथा 'सदोष आक्षेपपूर्ण जल्प' से है। जैनाचार्यों ने लोकायतमत को मिथ्यादृष्टि का एक विशेष प्रकार माना है।[७] पुराणों के अनुसार वह विष्णु शरीर से उत्पन्न माया मोह का भ्रष्टकारक षडयन्त्र है।[८] स्मृतियां लौकायतिकों को सामान्यतया साक्ष्य के अयोग्य किन्तु बिना किसी अपराध के मृत्युदण्ड के योग्य सिद्ध करती हैं।[९]

परन्तु जिस नास्तिकता के कारण लोकायत सम्प्रदाय अन्य सभी सिद्धान्तवादियों का कोपभाजन बना, उसका एक न एक लक्षण उन सभी आलोचक सिद्धान्तों में विद्यमान हैं। तथापि उनको नास्तिक की कोटि में परिगणित नहीं किया जाता ...... उदाहरणार्थ, ऋक् संहिता के अन्तर्गत मण्डूक सूक्त का ऋषि मन्त्रपाठकर्ता पुरोहितों की मेंढक से तुलना करता है,[१०] उपनिषद्कार ऋषि ने यज्ञ को भग्न नौका की भांति पतनकारक कहा है और वेद वेदांग के ज्ञान को 'अपरा' (अनुत्कृष्ट) विद्या सिद्ध किया है।[११] मीमांसा के सम्बन्ध में स्वयं कुमारिल का विचार है कि वह लोकायतीकृत (नास्तिक) था क्योंकि वह ईश्वर की सत्ता को अनावश्यक मानता है।[१२] बौद्ध आत्मोच्छेद वादी हैं और जैन आत्मा को देहाकार मानते हैं। आगमानुयायी शैव एवं शाक्त वैदिक कर्मकाण्डों का उपहास करते हैं, श्रुतियों को बोझ मानते हैं और वर्णाश्रम की व्यवस्था को उपेक्षणीय 'खर भार' की संज्ञा देते हैं।[१३] इतना ही नहीं महाभारत

में वैदिक विज्ञान को नास्तिकता का प्रसार कहा गया है[१४] और भगवद्गीता में श्रीकृष्ण का वचन है ...... 'वेद त्रिगुणात्मिका माया के विषय हैं' और वेदवादरत व्यक्तियों की बुद्धि श्रुतियों से विप्रतिपन्न होती है। वह अचल समाधि में प्रतिष्ठित नहीं हो सकती।'[१५]

वास्तव में लोकायतिक सम्प्रदाय के स्वभाव में वे समस्त उपादान निहित हैं जिनसे क्रांतिकारी चिन्तन को जन्म मिलता है। क्रांतिकारी चिन्तन का लक्षण है, उद्धत अन्याय के विरुद्ध, निष्ठुर तथा लोभी शोषण व्यवस्था के विरुद्ध अनवरत संघर्षरत रहने का अजेय साहस। यह साहस जब सुविधायोगी ब्राह्मण व्यवस्था के विरोध में आगम सिद्धों तथा बौद्धाचार्यों ने प्रदर्शित किया था तो उनको भी श्रौत स्मार्त शास्त्रकारों ने 'नास्तिक' और 'वेद बाह्य भ्रष्ट' की उपाधि से विभूषित किया। नास्तिक शब्द इसी कारण अपरिभाषेय तथा अनिश्चित है, क्योंकि इसका प्रयोग प्रायः प्रतिपक्षियों के प्रति उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार यथास्थितिवादी दक्षिण पंथी विचारक परिवर्तनवादी तत्त्वों को 'पंचममार्गी और 'प्रतिक्रियावादी' अभिहित कर अपना आक्रोश शान्त करते हैं। नास्तिक भी इसी प्रकार का अपशब्द मात्र प्रतीत होता है। किन्तु इस कार्य से कोई बुद्धिसंगत विचारधारा दमित नहीं होती, अपितु गहरे में प्रवेश कर अधिकाधिक शक्ति अर्जित कर लेती है। यह क्या कम आश्चर्य है कि असंख्य दर्शन महारथियों के मध्य उनके तर्क-जाल द्वारा कल्पित चक्रव्यूह का भेदन करने के लिए लोकायत मत सदैव बिना किसी शास्त्र-शस्त्र की सहायता के अभिमन्यु की भाँति एकाकी ताल ठोंक कर खड़ा रहा और कभी मारा नहीं गया!

मुझे लगता है कि लोकायतमत स्वयं में कोई सुनियोजित तथा सम्यक् संस्थापित दार्शनिक सिद्धान्त न होकर अंधनीति विरोधी सहज मनवीय प्रकृति है जो स्वप्निल कल्पना जगत् से मानों बुद्धि को खींच कर यथार्थ की कठोर धरती पर लाकर खड़ा कर देती है और इस प्रकार प्रकृत संतुलन को स्थिर रखने का प्रयत्न करती है। शास्त्र, उपासना, रीति-नीति के नामपर अनायास ही जो मिथ्या विश्वास पुञ्जीभूत हो उठते हैं, रूढ़गत जड़ संस्कारों की आवर्जनायें उत्कंठित विचारों का दमन करने लगती हैं और उनसे जीर्ण भार-तुल्य व्यवस्था के प्रति जो क्रीत मोह उत्पन्न हो जाता है उसके विरुद्ध प्रश्नचिन्ह उपस्थित कर प्रत्यक्ष प्रयोग की आकांक्षा विद्रोही लोकायत चिन्तन में प्रतिबिम्बित होती है।

ऋक्संहिता की चुनौति भरी ब्रह्मोघ प्रहेलिकायें वैदिक काल में ऐसे क्रान्तिकारी प्रबुद्ध चेतावर्ग की उपस्थिति की सूचना देती हैं जो लोकायत चरित्र का अनुसरण करता था। वह हठात् श्रद्धा के आकांक्षी और स्वर्ग कल्पना के प्रतीक

इन्द्र की सत्ता का निषेध करने से 'अनिन्द्रा:' था। यज्ञ, पौरोहित्य तथा स्वर्गफल के प्रति संशयालु होने से 'अयजिन्' था, अदीक्षित तथा संस्कार हीन होने से 'व्रात्य' था और वैदिक मन्त्रों का सही उच्चारण न करने से 'दुरुक्त भाषी' था।[१६] उल्लेख है कि इन्द्र ने अपनी संप्रभुता से इन प्रतिपक्षी यतियों को शालावृकों (श्रृगालों) द्वारा नचवाया था और परिणाम स्वरूप इस कृत्य के विरोध में अपना अमर्ष प्रकट करने के लिये विवेकवान् देवताओं ने इन्द्र का 'बहिष्कार' भी किया था।[१७] ताण्ड्य ब्राह्मण के टीकाकार ने 'यति' का अर्थ बतलाया है... 'वेदविरुद्ध नियमोपेतकर्मविरोधिजन ज्योतिष्टोमादि अकृत्वा प्रकारान्तरेण वर्तमाना'।[१८] यह चिन्तनीय संकेत है कि पारम्परिक अर्थ में 'यति' शब्द नास्तिक स्वभाव का बोधक है।

ऋग्वेद के ७–८९–८ में लोकायतमत की आरम्भिक चर्चा मिलती है। **बृहदारण्यक** उपनिषद् (२–४–१२) का 'न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति' वाक्य मृत्यूपरान्त आत्मा की स्थिति का विरोधी सम्भवत: नास्तिक चिन्तन का प्रथम ज्ञेय सूत्र है, जो याज्ञवल्क्य द्वारा मैत्रेयी को दिये गये उपदेश का अंश है। तदनुसार प्रेत्य (जीव चैतन्य) पंचभूतों के संयोग से सहज ही उत्पन्न होता है और पुन: उनके नाश के साथ नष्ट हो जाता है। उस युग के लोकायतों की दृष्टि में कामसाधक तथा सर्वप्रिय होने से धन ही प्राणियों की आत्मा है।[१९] **विवरण प्रमेय संग्रह** के अनुसार इस क्रम में आत्मरूप से उत्पन्न पुत्र, असंख्य प्रिय वस्तुओं, शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा मन आदि की गणना की जाती है जिनको **तैत्तिरीय उपनिषद्** ने परमार्थ रूप में पृथक्-पृथक् निरूपित किया है।[२०] छान्दोग्य अपनिषद् कार ने प्राण, मन आदि उपर्युक्त समस्त तत्त्वों को पांचभौतिक सिद्ध किया है।[२१] उसी उपनिषद् में दैत्यराज विरोचन को प्रारम्भिक देहात्मवादी (भूत चैतन्यवादी) आचार्य सूचित किया गया है, जिसने इन्द्र की भांति सूक्ष्मतम आत्मा सम्बन्धी रहस्य ज्ञान के प्रति अपनी विशेष उत्कण्ठा प्रदर्शित नहीं की।[२२] **कठोपनिषद्** के अनुसार विचारकों का वह समुदाय अन्न की भांति मर्त्य प्राणियों की उत्पत्ति विनाश प्रतिपादित करता था और मरणोपरान्त जीवात्मा का पारलौकिक अस्तित्व न मानकर, मात्र तीक्ष्ण तर्क-शक्ति द्वारा अपनी विद्वत्ता का दम्भ भरता था।[२३] श्वेताश्वतर में सर्वकारणत्व की विवेचना के समय काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा जैसे ईश्वरेतर मत वादों का उल्लेख हुआ है और उनकी अयुक्ति-संगतता पर विचार करके निश्चत किया गया है कि परतन्त्र होने से वे सृष्टि का मूल कारण नहीं हो सकते।[२४] **बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों** में उनकी विचार धारा और उसके पक्षधर आचार्यों (अजित केशकम्बलि आदि) की विस्तृत चर्चायें मिलती हैं।

नास्तिकवाद की प्ररूढ़ व्यक्तिवाची संज्ञा चार्वाक महाभारत से प्रारम्भ होती है जिसने उसे एक छद्म ब्राह्मण संन्यासी के रूप में चित्रित किया है और तद्विषयक सिद्धान्तों का कतिपय स्थलों पर परिस्थिति विशेष में ही सही स्पष्ट निरूपण प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ शान्ति पर्व अध्याय १० में उल्लेख है कि... 'अविपश्चित श्रोत्रियों (वेदज्ञपुरुषों) के अनुवाक् (मन्त्रपाठ) से आहत बुद्धि कभी तत्त्वार्थ को प्रकाशित नहीं कर सकती। श्री हीन तथा निर्धन नास्तिकों द्वारा ही वेदवादी विज्ञान संप्रवर्तित है, जो सत्य सा प्रतीत होने वाला मिथ्या विचार है।' इसी प्रकार मोक्षधर्म अध्याय १८६ तथा २१८ में नास्तिकमत की प्रत्यक्षमूलक अनुमान और आगम प्रमाणों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। उनमें देहनाश के पश्चात् जीव के जन्मान्तर की अनुपपन्नता के पक्ष में उपस्थापित तर्कों का अध्ययन किया गया है।[२५]

वस्तुतः महाकाव्य युग से ही जीवन नीतियों और मानव संबंधों के स्वरूप को लेकर चिन्तक समुदाय की 'प्याली में तूफान' उठने लगा था। रामायण में जाबालि भारद्वाज द्वारा राम को प्रजापालन के कर्तव्य का स्मरण दिलाना, और दूसरी ओर राम द्वारा त्याग की प्रशंसा करना तत्कालीन द्वन्द्वग्रस्त सामाजिक मनोविज्ञान का प्रभाव है।[२६] इसी भांति एक ही समस्या को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने और पृथक्-पृथक् रूपों में परस्पर विरोधी समाधान प्रदान करने की महाभारत की वैविध्यबहुल शैली उस युग की आदर्शगत अनिश्चयता पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। भीष्म, द्रोण, कृष्ण, विदुर आदि उसके आचार्य विभिन्न निश्चित आदर्शों के प्रयोगात्मक प्रतीक हैं, जिनके क्रियान्वयन में उनका सम्पूर्ण जीवन समर्पित था। ईसा पूर्व छठी सदी (प्राक्बौद्ध काल) के आरम्भ में महाभारत युद्ध के विनाशकारी परिणामों ने सामान्य समाज के मानस को जीवन के प्रति भय, निराशा और नीरसता की भावना से इस सीमा तक आच्छादित कर दिया था कि सम्राटों को प्रशासकीय गुण राजदण्ड और रक्षण-शक्ति कृपाण से घृणा उत्पन्न हो गई। इस प्रकार क्षात्रबल विचलित होने लगा एवं प्रवृत्तिवादी श्रौत स्मार्तधर्म से जन आस्था उठने लगी। अर्जुन और युधिष्ठिर का पर धर्म (भिक्षुवाद) के प्रति मोह इसी भावना से संजात था। फलतः निवृत्तिवादी श्रमण परम्परा को विकसित होने का पर्याप्त अवसर मिला। साथ ही प्रवृत्तिवादी ब्राह्मण विचारकों को जिस प्रबल आत्मग्लानि को प्रतिरोध करना पड़ा महाभारत में पग पग पर एक ही साथ संन्यास और गार्हस्थ्य की प्रशंसा एवं निंदा द्वारा उसका चित्र देखा जी सकता है। अनिश्चय की उस कोलाहलपूर्ण स्थिति में दार्शनिक मतों, मत-प्रवर्तकों और तत्सम्बन्धित प्रगाढ़ बौद्धिक विवादों की बाढ़ सी आ गई थी।

इस वातावरण का अनपेक्षित प्रभाव भी पड़ना स्वाभाविक था जिसके प्रतिरोध में स्वभाव से विद्रोही किन्तु विश्रृंखल लोकायतों की विचारधारा चार्वाक की संज्ञा से शास्त्रीय रूप में व्यवस्थित और संगठित होकर प्रकट हुई। फलतः स्वतन्त्र चिन्तन के अधिकारों और बौद्धिक विचार विमर्श की अनुकूलता ने संशय के परिवेश में भी ऐसी उदीयमान शक्तियों को उठने तथा पनपने का सुयोग दिया जिससे पारम्परिक धारणायें खण्डित अवश्य हुई किन्तु एक साथ आस्था– अनास्था, विग्रह– निरंकुशता, धर्म नीति– एवं लोकविज्ञान परस्पर टकराव की स्थिति में आमने सामने आ डटे। उस युग में अस्तित्व के प्रति अनिश्चितता तथा अविश्वास, बिखरे समाज के सूत्रों को पाने की लालसा, चतुर्दिक् उभर रही दमित भावनाओं की विकलता, भय से लड़खड़ाती हुई त्रस्त मानवता द्वारा निर्मित सम्प्रदाय रूप पार्श्व मार्गों तथा वैचारिक विश्रामगृहों की बहुलता, (जो किसी सर्वथा स्वीकार्य समाधान का निर्देश करने में असफल रहे,) अश्रद्धा, आक्रोश तथा अभाव का मरुस्थल... इन सब के मूल में जो असफल जीवन की अनुभूति थी, परिवर्तनशील संसार का जो संताप था, वही निवृत्ति मार्गीय बौद्ध और जैन धर्मों के विकास के लिये उर्वर भूमि बना। इन द्विविध सम्प्रदायों ने प्रतिपक्ष की टीका टिप्पणी के लिये प्रारम्भ में चार्वाकीय प्रणाली का अनुगमन किया जिसके कारण समाज में लोकायतों की भांति लोकप्रिय होने से बौद्ध एवं जैन धर्मों का व्यापक प्रचार– प्रसार हुआ। परन्तु उनकी संघीय गतिविधियों द्वारा और तथागत सम्बन्धी जातक कथाओं एवं प्रवचन ग्रन्थों द्वारा जिस प्रकार की विशिष्ट पारम्परिक संस्कार-रूढ़ि का आरोपण किया जा रहा था और उसकी सिद्धि में लिये राज-सत्ता का दुरुपयोग हो रहा था... वह क्रान्तिकारी मनोवृत्ति के लोकायतिकों को सह्य नहीं था। जीवन की अवहेलना करने, उसे तुच्छ, दुःख-बीज, और अनन्त जन्मों का भार समझने की हीन मनोवृत्ति का आखेट अपार चेतनाउद्भाविनी शक्ति के पूज्य शंकराचार्य जी को भी हो जाना पड़ा और 'अर्थमनर्थं भावयनित्यम्' 'दारंकिमिकम् नरकस्य नारी' आदि निरानन्द वाक्यों का प्रयोग करना पड़ा। इस प्रकार नैराश्यपूर्ण भिक्षुक वादी नीतियों द्वारा समाज को दुर्बल बनाया जा रहा था। बौद्धाचार्यों द्वारा प्रदान किये गये नास्तिक, निर्विचार और निरकुंश जैसे अपविशेषणों की चोट सहकर भी चार्वाक दार्शनिकों ने उनके पाखण्ड-गल्पों और मूर्ति-अभिचारों को औचित्य की तुला पर सार्थक नहीं माना। इसी युग में सम्भवतः लोकायतिक मत राजाओं के प्रमाद बोझिल संन्यास से खिन्न होकर तत्त्व दर्शन के समानान्तर राज-दर्शन का भी व्याख्यान करने लगा। ब्राह्मण पौरोहित्य तथा श्रमण संन्यास के धार्मिक नियंत्रण अथवा बाध्यता से राज्य-शक्ति को मुक्त करने के ध्येय से चार्वाक ने राजा को ही साक्षात् ईश्वर घोषित किया जिससे कानून का स्रोत किसी

पारलौकिक कल्पित सत्ता को निर्दिष्ट करने वाले धर्म के अनावश्यक हस्तक्षेप समाप्त हो जायें। धर्मनिरपेक्ष राज्य की आधुनिक कल्पना का आधार चार्वाक की उपर्युक्त मान्यता के अनुरूप ही है।

उन मुख्य कारणों पर ध्यान जाना स्वाभाविक है जो नास्तिक विशेषण-प्राप्त लोकायतों के प्रति सार्वजनिक घृणा, स्पर्धा और द्वेष उत्पन्न करते रहे। मेरी दृष्टि में परलोक, परमेश्वर और वैदिक प्रथाओं का निषेध करने के अतिरिक्तों (१)अतिशय तर्क प्रवणता (२) स्वच्छन्द कामाचार को प्रोत्साहित करने वाला तथा (३) मात्र कृषि-शिल्पादि अर्थ साधना का पक्षधर होने से लोकायत मत विशेष रूप से आलोचकों का लक्ष्य बना।

तर्क-विद्या, जिसे उपनिषद्कारों ने अपरा विद्या के अन्तर्गत 'वाकोवाक्य' नाम से सम्बोधित किया है, लौकायतिकों की आन्वीक्षिकी विद्या है। लौकायतिकों ने दार्शनिक उपपत्ति के लिये (कारण– कार्य की बुद्धि-ग्राह्य मीमांसा) को अपने स्वीकार्य निर्णयों का आधार निश्चित किया था, जो प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित था। सांख्य तथा योग दर्शन में भी कारण-कार्य ज्ञान की पद्धति प्रधान होने से आचार्य कौटिल्य ने लौकायतिकों के साथ उनको भी आन्वीक्षिकी विद्या की कोटि में परिगणित किया है। उनका विचार है कि... 'धर्माधर्म, अर्थानर्थ और नीति-अनीति को दृष्टि में रख कर कारण– कार्य हेतुओं (तर्कों) द्वारा बलाबल को प्रदर्शित करने वाली लोकोपकारक विद्या को आन्वीक्षिकी कहा जाता है। वह व्यसन-वृद्धि, आपदा-संपदा आदि की प्रत्येक अवस्था में बुद्धि को प्रबुद्ध और संतुलित रखती है। इतना नहीं प्रज्ञा के साथ प्रवचन कौशल भी प्रदान करती है। समस्त विद्याओं के यथार्थ स्वरूप को प्रदीप के समान प्रकाशित करने वाली, सम्पूर्ण कार्यों की साधन रूपा अर्थात् यथार्थ उपाय की निर्देशिका और सभी धर्मों की आश्रयभूता आधारशिला आन्वीक्षिको विद्या का महत्त्व सर्वोपरि है।[२७] नीतिकारों ने तो इस सीमा तक कह डाला है कि युक्तिपूर्ण या तर्क-संगत अबोध शिशु की भी बात शिरोधार्य है किन्तु सृष्टि विधायक चतुर्मुख ब्रह्मा की युक्ति रहित बात किसी भी मूल्य पर नहीं।[२८]

प्रतिक्रियावादी मतों के लिये इससे अधिक प्रशस्त मार्ग हो सकता था कि वे उस मूल सिद्धान्त (युक्तिवाद) पर आधार करते जो लोकायतों की विचार पद्धति की पृष्ठभूमि बनता है। अतः अपनी छवि को धूमिल न पड़ते देने के लिये श्रौत-स्मार्त आचार्यों ने तर्कों को अप्रतिष्ठित अविश्वसनीय तथा सत्यार्थ-प्रकाश में असमर्थ घोषित किया। प्रायः इस दृष्टिकोण का दर्शन उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र एवं पुराणों में सर्वत्र मिलता है।[२९] विश्वास को फल का हेतु निश्चित किया गया, संशय को विनाश का द्वार बतलाया गया और परिप्रश्न तथा जिज्ञासा की अपेक्षा

प्रणिपात को ज्ञानार्जन का प्राथमिक उपाय निश्चित किया गया।[३०] वास्तविकता यह है कि उपस्थिति बिना सत्यानुसंधान की प्रेरणा प्रस्फुटित नहीं होती। संसार के समस्त दार्शनिक विकासों के नेपथ्य में जिज्ञासा का जनक संशय का स्वर ही आरम्भ बिन्दु के रूप में विद्यमान रहा।

द्वितीय— काम एक मात्र चरम पुरुषार्थ है, शेष अन्य त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म एवं मोक्ष) उसकी प्रेरणापर अवलम्बित गौण तत्त्व हैं। लौकायतिक मत का यह सिद्धान्त उसको घोर भोग-परायणता की परिधि में लाकर खड़ा कर देता है। संभवतः वैदिक ऋषियों ने उनकी इस अतिशय कामुकता को इंगित करने के लिये उन्हें 'शिश्नदेवाः' नाम दिया था। गीता में उल्लेख है कि 'आसुरी सम्पदा से सम्पन्न जन जगत् को आश्रय रहित, असत्य, अनीश्वर और स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न, अपरस्पर संभूत तथा भोगवृत्ति का चरितार्थक काम हेतुक मानते हैं और काम को परम पुरुषार्थ मान कर मरणपर्यन्त अनन्त भोगचिन्ता से व्याकुल रहते हैं।[३१] प्राचीन ग्रन्थकारों ने अपने व्यंगात्मक टिप्पणियों में लोकायतमत के काम प्राधान्यवाद पर प्रकाश डाला है ...... सुखाकांक्षा प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। सांसारिक पुरुषार्थ संभव होने पर भी धर्माडम्बर में पड़ कर सुख से विमुख होना शोचनीय है। श्राद्ध, यज्ञ में अन्न का उपद्रव उचित नहीं। अन्न का प्रयोजन क्षुधा निवृत्ति है (रामा. अयो. सर्ग ११८) भिन्न योनियों में जन्म, विभिन्न कालों में मरण और विविध रूपों में शरीर का नाश पुनर्जन्म की धारणा तथा दान दक्षिणा के परोक्ष लाभ को अयुक्ति पूर्ण सिद्ध करते हैं। (महा. मोक्ष १८६) न स्वर्ग है, न अपवर्ग है और न परलोक से सम्पर्कशील आत्मायें हैं। वर्णाश्रम की क्रियायें कष्ट कल्पित मानव दम्भ की उपज हैं। अग्निहोत्र, वेदत्रय, त्रिदण्ड, धारणा और भस्मानुलेपन, ब्रह्मा द्वारा बुद्धि पौरुषहीन निरुपाय जनों के लिए एक प्रकार से जीविका के रूप में प्रवर्तित साधन है। इसी प्रकार दान, प्रतिग्रहण तथा सुखकर लोकों की चर्चायें परोपजीवी वंचकों एवं विवेकशून्य व्यक्तियों की कल्पनायें हैं। युवती संगमज सुख के अतिरिक्त कोई स्वर्ग नहीं, अस्त्रघात अथवा व्याधि से प्राप्त उपद्रवों के अतिरिक्त कोई नरक नहीं[३२]।

अर्थ और काम के प्रतिपादक अथर्व और गांधर्व ये ही दो वेद लोकायतों को मान्य हैं। उनकी दृष्टि में काममार्ग का त्याग सम्भव नहीं है। कुलों की अनादिता के कारण मातृ-पितृगत शुद्धि निर्णय के वे परे हैं। कामवेग के बढ़ जाने पर स्त्री सम्पर्क जन्य दोषों से कोई बच नहीं सकता। जो लोक स्वयं स्मरान्ध होते हुए भी स्त्रियों को दीवारों के मध्य बन्द कर जाति शुद्धि का अभिमान रखते हैं वे सर्वथा निन्दनीय हैं। स्त्री सम्बन्धी घृणावाद का परित्याग सदाचार का सहज अंग है। पौराणिक देवगण भी कामदेव की आज्ञा का उल्लंघन न कर स्त्री

संयुक्त हैं और काम-विवश होकर अवैध आचरण भी किये हैं। मरणोपरान्त कल्पित स्वर्गीय अप्सराओं से विहार करने की तृष्णापूर्ण कुण्ठा को पालने की अपेक्षा प्रेयसी का सुखलाभ श्रेयस्कर है।[४२] ... यद्यपि इन उद्धरणों में परिहास का पुट अधिक है तथापि काम की सहज स्वीकृति नारी जाति के प्रति असीम सम्मान तथा जीवमात्र काम के प्रति करुणा की अपूर्व भावना, जो लोकायतिक आचार मीमांसा के प्रमुख तत्त्व हैं, उद्घाटित हो गये हैं।

ज्ञान निकुंज
धाय पोखर
सिकटहा
बस्ती (उ. प्र.)

– सन्तशरण पाण्डेय

टिप्पणियाँ

१. पतंजलि, महाभाष्य ७.३.४.५
२. द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र ३.३.५३ पर शंकर, रामानुज तथा भास्कर का भाष्य तथा गीता पर श्रीधर, मधूसूदनी तथा नीलकंठी टीका. १६.११
३. अष्टाध्यायी ४.४.६० तथा इस पर पतंजलि का महाभाष्य और मनु २.११
४. द्रष्टव्य, सर्वदर्शन संग्रह, माधवाचार्य अध्याय १; सर्व सिद्धान्त संग्रह, २–५ एवं षट् दर्शन समुच्चय, न्याय कसुमांजलि तथा न्यायमंजरी का नास्तिक मत वर्णन। वा. रा. अध्याय सर्ग १०८–१०९
५. वाल्मीकी रामायण, अयोध्याकाण्ड सर्ग १०२.३८ एवं ३९ द्रष्टव्य उपरोक्त श्लोकों पर रामाभिराम टीका।
६. सद्धर्म पुण्डरीक परिच्छेद- १३ विनयपिटक द्रष्टव्य भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय पृ. १२०
७. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय पृष्ठ १२०–१२१
८. विष्णुपुराण ३–१७ वां तथा १८ वां अध्याय; मैत्र्युपनिषद्, प्रपाठक ७
९. मनु. ८. ६४.६७
१०. ऋक्संहिता का मण्डूक सूक्त
११. मुण्डक. १.२.७ तथा १.१.५
१२. श्लोकवार्तिक १.१०

१३. महानिर्वाण तंत्र, उल्लास, ८
१४. महाभारत, शांतिपर्व, राजधर्मानुशासन अ. १० तथा १५
१५. भगवद्गीता, २:४२,४३ तथा तथा ५३
१६. ऋ. १.३३.४, ७ २१.५ तथा १०.९९.३ द्रष्टव्य, हिन्दू सभ्यता, डॉ॰ राधा कुमुद मुकर्जी पृ. ८८
१७. तैत्तिरीय– २.४.९.२, ६.२.७.५ तथा ताण्ड्य– १४.२.२८, १८.१.९ तथा ऐतरेय ७.२८
१८. द्रष्टव्य, जैन धर्म का उद्गम तथा इतिहास हीरालास जैन द्वारा उद्धृत पृ.– १८
१९. भागवत, ६.७ १० चार्वाकमत, आनंद झा द्वारा उद्धृत लोकायतसूत्राणि
२०. तैत्तिरीय– अनुवाक् २
२१. छान्दोग्य– अध्याय ५ खण्ट १
२२. वहीं , अध्याय ८ खण्ड ८
२३. कठ., १.१६. तथा १.१.२०
२४. श्वेताश्वतर– १.२
२५. महाभारत, मोक्षधर्म पर्व अ. १८६ तथा २१८
२६. वाल्मीकी रामायण, अध्योध्या काण्ड अध्याय १०८ तथा १०९
२७. कौटिल्य, अर्थशास्त्र १.२
२८. मानव समाज प्रभात रंजन, पृष्ठ १०
२९. कठ १.२.९ तथा २३ मू– ३.२ १ तथा ४ ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य) २.१.११
३०. भगवद्गीता ४.३९, १७ — १३ तथा ४.४०
३१. वहीं १६.८ ११ तथा १८
३२. द्रष्टव्य, नैषधीय चरितम्, प्रबोधचन्द्रोदय तथा अमृतोदय नाटक में नास्तिक के उद्गार
३३. वहीं, उद्धृत १

तुलनात्मक धर्म की संभावना

तुलनात्मक धर्म संभव है या नहीं यह प्रश्न अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। कारण, तुलनात्मक धर्म का विचार धर्म के इतिहास में एक नवीन विचार है। प्रारम्भ में विभिन्न धर्म अपनी-अपनी विशेषताओं के प्रचार एवं प्रसार में ही संलग्न थे। आज भी विभिन्न धर्म अपने-अपने धर्म को ही सर्वोपरि दिखा रहे हैं। फलस्वरूप, विभिन्न धर्मों का विकास प्रायः अवरुद्ध सा दिखता है। फिर भी यह मान्यता प्रचलित है कि विभिन्न धर्मावलम्बी अपने-अपने धर्म को विकसित अवस्था में ही मानते रहे हैं। ऐसी स्थिति में तुलनात्मक धर्म की संभावना का प्रश्न स्वाभाविक दीखता है।

परन्तु आज धार्मिक चिन्तन के स्थान पर वैज्ञानिक और बौद्धिक चिन्तन का विकास देखा जा रहा है जिसके फलस्वरूप कुछ विचारक धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता को महसूस करने लगे हैं। इस प्रकार के विचारकों के चिन्तन ने तुलनात्मक धर्म का एक इतिहास बना डाला है। ऑक्सफोर्ड के कुछ महान् अध्यापकों के साथ फ्रेड्रिक मैक्समूलर ने विश्व के विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विशेष बल दिया। एस्टलिन कारपेन्टर ने कम्पैरेटिव रिलिजन पर एक विद्वत्तापूर्ण पुस्तक लिखी। इन्होंने अपनी पुस्तक में विभिन्न धर्मों के संबंध पर विशेष रूप से प्रकाश डाला। बाद में एडवर्ड टाइलर एवं डॉक्टर मैरेट ने धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन को और भी विकसित किया। विकास के सिद्धान्त ने मानव-विज्ञान का विकास कर परोक्ष रूप से तुलनात्मक धर्म को प्रोत्साहित किया है। तुलनात्मक धर्म के प्रचार एवं प्रसार में असीरिया बेबीलोनिया एवं ग्रीस के मूल ग्रन्थों की लिपि का भी हाथ देखा जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक धर्म का विचार ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट होता है। शायद यही कारण है कि ज्योफ्रि पैरिन्डर ने अपनी पुस्तक **कम्पैरेटिव रिलिजन** में तुलनात्मक धर्म को धर्मों का इतिहास कहा है।

यहाँ पर एक भ्रान्ति से दूर रहने की आवश्यकता है। प्रायः यह समझा जाता है कि तुलनात्मक धर्म एक विशेष प्रकार का धर्म है। परन्तु ऐसा मानना

एक भूल होगी। वास्तव में, तुलनात्मक धर्म धर्मों के सम्बन्ध में विचार करने की एक पद्धति मात्र है। यह एक ऐसी पद्धति है जिसका व्यवहार ज्ञान के विविध क्षेत्रों में किया जाता है। जब इस पद्धति का व्यवहार विभिन्न धर्मों के अध्ययन के लिए किया जाता है तो यह अध्ययन पक्षपात पूर्ण एवं विशिष्टतावादी न रहकर सामान्य हो जाता है। प्रायः विभिन्न धर्मों को वैयक्तिक होने का आरोप लगाया जाता है परन्तु तुलनात्मक धर्म में इस आरोप का स्थान नहीं रह जाता है। कारण, तुलनात्मक धर्म ऐसे सामान्य सत्य को विभिन्न धर्मों में ढूढ़ने का प्रयास करता है जो सत्य किसी भी धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा होता है। फिर सामान्य सत्य की प्राप्ति के बाद भी एक विशेष धर्मावलम्बी का अनुराग और आकर्षण सुरक्षित रहता है। अतः तुलनात्मक अध्ययन में किसी धर्म विशेष को एकमात्र धर्म नहीं स्वीकारा जाता है।

तुलनात्मक धर्म का अर्थ धर्मों को एक दूसरे से मिलाना भी नहीं है। यह सत्य है कि तुलनात्मक धर्म धर्मों की समानता और असमानता से सम्बन्धित तथ्यों का अध्ययन करता है। विभिन्न धर्मों की समानताओं का कोई महत्त्व नहीं है। यदि हम अपने धर्म को अन्य धर्मों से श्रेष्ठ होने का दावा करते हैं तो भी यह आवश्यक दीखता है कि हम अन्य धर्मों के दावों एवं उनके अन्दर निहित विचारों को जाने तथा उनका मूल्यांकन करें। इससे यह स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक धर्म का अभीष्ट विभिन्न धर्मों को समझना एवं एक दूसरे का मूल्यांकन करना है। विभिन्न धर्मों को समझना एवं विभिन्न धर्मों में अन्तर्निहित विचारों का एक दूसरे की तुलना में मूल्यांकन करना धर्मों को एक दूसरे से मिलाना नहीं है। यहाँ पर प्रत्येक धर्म का स्वतंत्र अस्तित्व रह जाता है। इस प्रकार, विभिन्न धर्मों की समानता एवं असमानता से सम्बन्धित तथ्यों के अध्ययन द्वारा भी तुलनात्मक धर्म स्पष्ट होता है।

यह सत्य है कि विभिन्न धर्मों के विश्वास एवं कर्मकाण्ड में विभिन्नता देखी जाती है। फिर भी तुलनात्मक धर्म असंदिग्ध रूप से यह स्पष्ट करता है कि धर्म एक सार्वभौम तत्त्व है। विश्व में सभी ओर कुछ कम या अधिक समान रूप से फैला हुआ विश्वास और कर्मकाण्ड का एक ऐसा समूह दिखाई पड़ता है जिसमें विभिन्नताओं के बाद भी कुछ मूलभूत तत्त्वों की दृष्टि से सभी धर्म एक दूसरे से मिले हुए प्रतीत होते हैं। फिर धर्म का स्थान मनुष्य के मस्तिष्क में देखा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म स्वयं मनुष्य के स्वभाव का एक अंग बन गया है। सभी वस्तुएँ समाप्त हो जाती हैं परन्तु ईश्वर में विश्वास मनुष्य के अंदर शेष रह जाता है। ईश्वर के प्रति यह विश्वास विश्व के सभी धर्मों की चरम स्वीकृति है। अतः यह कहा जा सकता है कि धर्मों में कितना भी परिवर्तन क्यों

न हो परन्तु धर्म तब तक बना रहेगा जब तक मनुष्य का आवागमन इस पृथ्वी पर वर्तमान रहता है। ब्रह्मा, याहवेह, अहुरमज़्दा, अल्लाह से सम्बन्धित विभिन्न अभिव्यक्तियों के पीछे एक ही अभिप्राय, एक ही प्रयास एवं एक ही श्रद्धा वर्तमान है। सभी धर्मों का उदय मानवीय मन की पवित्र भूमि में होता है और सभी को जीवन एक ही आत्मा द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार, तुलनात्मक धर्म यह मानकर अग्रसर है कि "मानवीय आत्मा एक ही आध्यात्मिक वास्तविकता के प्रति लालायित रहती है और किसी-न-किसी रूप में यह वास्तविकता मानवीय आत्मा पर प्रभाव डालती है।"[१] इससे यह स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक धर्म भले कट्टरता का समर्थन न करे परन्तु यह नास्तिकता या अनीश्वरवादी विचार को भी प्रश्रय नहीं देता है।

एन्साइक्लोपिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स में तुलनात्मक धर्म का अथ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है– "तुलनात्मक धर्म विश्व के विभिन्न धर्मों का उनकी समानताओं एवं विषमताओं तथा उनके सामान्य धार्मिक प्रत्ययों को ढूंढ़ने के उद्देश्य से किया गया वैज्ञानिक और इसलिए पक्षपात रहित अध्ययन है।"[२] इससे यह स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक धर्म के अन्दर मात्र विभिन्न धर्मों को एक सूत्र में पिरोने का अर्थ नहीं किया जाता है वल्कि उसमें विभिन्न धर्मों का बौद्धिक अध्ययन किया जाता है। हस्टन स्मिथ ने ठीक ही कहा है कि "तुलनात्मक धर्म का अर्थ अगर धर्मों की तुलनात्मक क्षमता का वर्णन है, तो यह पुस्तक तुलनात्मक धर्म पर नहीं है......जो तुलनात्मक धर्म इन प्रश्नों से सम्बन्ध रखता है वह सदा प्रतियोगी धर्म (कम्पीटीटिव रिलिजन) के रूप में पतित हो जाता है।"[३]

तुलनात्मक धर्म के विभिन्न पक्ष इस बात को स्पष्ट करते हैं कि तुलनात्मक धर्म का विचार एक मूल विचार है और विश्व धर्म, सामान्य धर्म, धर्मों की एकता, आदि का विचार तुलनात्मक धर्म के ही प्रतिफल हैं। साधारणतः यह धारणा बनी हुई कि तुलनात्मक धर्म सामान्य धर्म, विश्व धर्म एवं धर्मों की एकता संबंधी विचार का एक रूप है। परन्तु तुलनात्मक धर्म के विभिन्न पक्षों को देखने पर उक्त धारणा गलत प्रमाणित होती है। विश्व धर्म, सामान्य धर्म एवं धर्मों की एकता में किसी-न-किसी रूप में सभी धर्मों का मिलान देखा जाता है और तुलनात्मक धर्म इस मिलान का विरोधी है। तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य, वास्तव में, व्यक्तिगत रूप से सभी धर्मों की लोकप्रियता को बढ़ाना तथा परस्पर सहिष्णुता की भावना की वृद्धि करना है जिसका परिणाम यह होता है कि विभिन्न धर्मों के विभिन्न पक्ष एक दूसरे के समक्ष अधिक स्पष्ट होते हैं।

तुलनात्मक धर्म का एक उद्देश्य यह भी रहा है कि पूर्व और पश्चिम की दूरी को समाप्त किया जाय। डॉ. राधाकृष्णन् तुलनात्मक धर्म के इस उद्देश्य पर अधिक बल देते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् का विचार तुलनात्मक अध्ययन के संदर्भ में समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि एक समय था जब यूरोपीय दर्शन में प्रत्ययवाद का आधिपत्य था। परिणाम स्वरूप, पूर्व और पश्चिम बहुत ही करीब दिखते थे। परन्तु, आज यूरोपीय दर्शन भाववाद और भाषाविषयक विश्लेषण की ओर अधिक आकृष्ट हो गया है जबकि भारतीय विचारधारा अभी भी प्रत्ययवादी है। आज के कुछ समकालीन भारतीय चिन्तक भारतीय दर्शन में भी भाषा-विश्लेषण ढूंढ़ रहे हैं परन्तु मेरी दृष्टि में यह प्रयास अंधकार में रस्सी को ढूंढ़ना है। वास्तविकता यही है कि भारतीय दर्शन मूलतः प्रत्ययवादी है। ऐसी स्थिति में तुलनात्मक धर्म की आवश्यकता अधिक स्पष्ट होती है। कारण, दर्शन भले ही दूर हो गये हों परन्तु धर्म आज भी एक दूसरे के करीब हैं। अगर हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म एवं ईसाई धर्म को सही रूप में अध्ययन किया जाय तो यही स्पष्ट होता है कि वे एक दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं। दूरी सिर्फ वैयक्तिक सनक और विचार का है जिसे दूर करने में तुलनात्मक धर्म बहुत हद तक सफल हो सकता है।

धर्म का उद्देश्य धर्म की एक सामान्य परिभाषा प्रस्तुत करना है। परन्तु दुःख की बात है कि अभी तक धर्म की एक सामान्य परिभाषा निर्धारित नहीं हो पायी है। धर्म की एक सामान्य परिभाषा तभी निर्धारित हो सकती है जब सभी धर्मों के विभिन्न पक्षों का तुलनामक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय और इसके आधार पर धर्म के मौलिक एवं सामान्य तत्त्वों को ढूंढ़ा जाय। यहां पर तुलनात्मक धर्म की आवश्यकता महसूस होती है। धर्म की एक सामान्य परिभाषा देने में एक कठिनाई उपस्थित होती है क्योंकि विभिन्न धर्मों के मूलभूत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी गहरा मतभेद देखा जाता है। परन्तु तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। क्योंकि तुलनात्मक धर्म धर्मों के मूलभूत सिद्धान्तों का पक्षपात रहित तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

तुलनात्मक धर्म विभिन्न धर्मों के इतिहास का अध्ययन करता है और इस क्रम में यह निर्धारित करता है कि कोई भी पूर्ण या अन्तिम नहीं है। तुलनात्मक धर्म के अनुसार धर्म एक गति है, एक विकास है। प्रायः यह देखा जाता है कि सभी वास्तविक विकासों में नया पुराने के उपर टिका होता है, अर्थात्, वर्तमान भूत पर आधारित होता है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म में पुरातन के अवशेष वर्तमान हैं। इतना ही नहीं यदि हम धर्म के वर्तमान रूपों से संतुष्ट न हों तो हम एक अन्य अपेक्षाकृत अच्छे रूप की आशा कर सकते हैं। अतः तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य विश्व के मनुष्यों को बुद्ध या ईसा का अनुयायी बनाना भले ही न हो परन्तु

इसका उद्देश्य एक अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न करना है जिसमें धार्मिक मतभेदों की व्याख्या होती हैं, उनमें परस्पर मेल की भावना जगती है तथा स्वयं धर्म उस क्षय से बचता है जिसके द्वारा वर्तमान प्रणालियाँ ग्रसित है। ऐसी स्थिति में तुलनात्मक धर्म की उपादेयता अधिक स्पष्ट होती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक आकलन प्रस्तुत करना है। अतः तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य यह प्रदर्शित करना नहीं है कि कोई एक अथवा अन्य धर्म धार्मिक भावना की उच्चतम अभिव्यक्ति है। तुलनात्मक धर्म यह स्पष्ट करता है कि किसी भी धर्म के विशिष्ट कट्टर सिद्धान्त एवं गाथाएँ पूर्णतया अद्वितीय नहीं है। क्योंकि जो व्यक्ति दूसरे धर्म पर विश्वास नहीं करता उसके होठों से निकली हुई प्रार्थनाओं को परमात्मा ठुकरा नहीं देता है। मैक्समूलर कहते हैं– "हमारा अपना धर्म भी उतना ही ऐसा है जितना की ब्राह्मणों का धर्म। उन सभी का अर्थ समझना होगा और मुझे इसमें संदेह नहीं है कि उनमें चाहे जो भी त्रुटियाँ क्यों न हों, उनका अर्थ समझा ही जायगा।"[४] इससे यह स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक धर्म ईश्वर की सार्वभौमिकता में हमारे विश्वास और मानव जाति के प्रति हमारे आदर को बढ़ाना अपना परम उद्देश्य बनाता है। मैक्समूलर पुनः कहते हैं– "यह हमारे अन्दर केवल सहिष्णुता की मनोवृत्ति को नहीं जगाता, न यह केवल शरणता देनेवाली करुणा को, न लोकोत्तर उदारता को ही जगाता है, अपितु सच्चे आदर और मूल्यांकन की भावना भी उत्पन्न करता है।"[५]

तुलनात्मक धर्म के विभिन्न अर्थों और उद्देश्यों पर प्रकाश डालने के बाद इसकी पद्धति पर प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है। प्रायः जितने भी विषय हैं उनकी एक अपनी पद्धति होती है। अब प्रश्न उठता है कि क्या तुलनात्मक धर्म की भी कोई पद्धति है? तुलनात्मक धर्म के अर्थ एवं उद्देश्य देखने से इसकी कोई निश्चित पद्धति स्पष्ट नहीं होती है। विज्ञान और दर्शन की पद्धति स्पष्ट है। फिर भी रॉबर्ट अर्नेस्ट ह्यूम ने अपनी पुस्तक **दि वर्ल्डस् लिविंग रिलिजन** में तीन प्रकार की पद्धतियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार पहली पद्धति का उद्देश्य सभी धर्मों के अंध विश्वासों एवं परम्परागत अबौद्धिक तत्त्वों का संकलन कर यह दिखाना है कि सभी धर्म समान रूप से निन्दनीय हैं। दूसरी पद्धति तमाम गैर ईसाई धर्मों की आलोचना करने की है। तीसरी पद्धति एक विशेष धर्म को आधार मानकर अन्य धर्मों की निन्दा करने की है। परन्तु, सही रूप से देखने पर रॉबर्ट अर्नेस्ट ह्यूम द्वारा प्रस्तुत तुलनात्मक धर्म की तीन पद्धतियाँ तुलनात्मक धर्म को स्पष्ट करने में असमर्थ हैं। कारण, तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य किसी धर्म विशेष की निन्दा करना नहीं है। बल्कि विभिन्न धर्मों के अंध विश्वासों

एवं अबौद्धिक तत्त्वों का मूल्यांकन करना है। फिर तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य सभी गैर ईसाई धर्मों की आलोचना भी करना नहीं है। और अन्त में, तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य किसी धर्म विशेष को अच्छा या बुरा कहना नहीं है और इस प्रकार अन्य धर्मों की निन्दा करना या सरहना करना भी तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य नहीं रह जाता है। अतः यहाँ पर यही कहा जा सकता है कि तुलनात्मक धर्म की कोई एक विशेष पद्धति निर्धारित नहीं की जा सकती है क्योंकि तुलनात्मक धर्म तो स्वयं एक पद्धति है जिसके द्वारा विश्व के विभिन्न धर्मों की समानता एवं विषमता का मूल्यांकन किया जाता है।

अब, तुलनात्मक धर्म की संभावना स्पष्ट होती है। अगर कोई व्यक्ति यह यह कहता है कि तुलनात्मक धर्म का विचार निरर्थक है क्योंकि इसकी कोई निश्चित पद्धति नहीं है तो मेरी दृष्टि में ऐसा मानना एक पूर्वाग्रह होगा। ऐसे व्यक्ति वैयक्तिक संकीर्णताओं के कठघरे में ही खड़े माने जाएँगे। कारण, तुलनात्मक धर्म के विचार का उदय वैयक्तिक संकीर्णताओं को दूर करने के लिए ही हुआ है। धर्म का इतिहास साक्षी है कि विभिन्न धर्मों के हितैषी अपने-अपने धर्म के प्रति ही पागल रहे हैं। तुलनात्मक धर्म उनके वैयक्तिक जोश एवं कमजोरियों को स्पष्ट करता है। अतः इस रूप में तुलनात्मक धर्म की संभावना स्पष्ट होती है।

फिर विश्व धर्म, सामान्य धर्म एवं धर्मों की एकता का विचार संभव नहीं दिखता है क्योंकि इन सभी विचारों के समक्ष एक मूलभूत प्रश्न उठता है कि सभी धर्मों के सार्वभौम सत्य की स्थापना किस प्रकार की जाय और अगर एक सार्वभौम सत्य की प्राप्ति हो भी जाती है तो प्रश्न उठता है कि उस सार्वभौम सत्य को सभी धर्म के मनुष्यों पर कैसे लागू किया जाय? क्या मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर, गुरुद्वारा आदि को समाप्त कर दिया जाय? क्या विभिन्न धर्मों के विभिन्न प्रार्थनाओं के स्थान पर एक सार्वभौम या सामान्य प्रार्थना को स्वीकार किया जाय? क्या एक सामान्य धार्मिक भावना या व्यवहार की संरचना की जाय? ये सभी प्रश्न विश्व धर्म, सामान्य धर्म एवं धर्मों की एकता के सन्दर्भ में स्वाभाविक रूप से उठते हैं। यही कारण है कि विश्व धर्म, सामान्य धर्म एवं धर्मों की एकता से सम्बन्धित विचार आलोचना के विषय रहे हैं। परन्तु तुलनात्मक धर्म के समक्ष ऊपर चर्चित प्रश्न नहीं उठते। क्योंकि तुलनात्मक धर्म एक विशेष धर्मावलम्बी का उसके धर्म के प्रति के अनुराग एवं आकर्षण को सुरक्षा प्रदान करता है। तुलनात्मक धर्म का प्रमुख कार्य विभिन्न धर्मों के विभिन्न पक्षों का पक्षपात रहित तुलनात्मक अध्ययन करना तथा उनके कमजोरियों को स्पष्ट करना है। इससे एक लाभ स्पष्ट रूप से दिखता है कि सभी व्यक्ति सभी धर्मों

का अध्ययन कर सकते हैं। आज एक मुसलमान कुरान के अतिरिक्त रामायण या भगवद्गीता नहीं पढ़ता है। परन्तु तुलनात्मक धर्म एक मुसलमान को भी रामायण या भगवद्गीता पढ़ने की सलाह देता है। इस प्रकार एक मुसलमान को कुरान, रामायण एवं भगवद्गीता का तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अब, कौन-सी बात सही है और कौन-सी बात गलत है इसका निर्णय एक मुसलमान स्वयं कर सकता है। वह स्वयं यह भी निर्धारित कर सकता है कि सभी धर्मों का सार्वभौम सत्य क्या है? इस रूप में भी तुलनात्मक धर्म की संभावना अधिक स्पष्ट होती है। मैक्समूलर ने ठीक ही कहा है– "वह जो धर्म को जानता है किसी धर्म को नहीं जानता है।" [७] शायद यही कारण है कि बादशाह अकबर ने सभी धर्मों के अध्ययन पर बल दिया और अपने इजलास में यहूदी, ईसाई, मुसलमान, ब्राह्मण एवं जोराष्ट्र धर्म के विद्वानों को आमन्त्रित किया था।

तुलनात्मक धर्म की संभावना का व्यावहारिक एवं समसामयिक पक्ष भी देखा जा सकता है। आज पूर्व और पश्चिम की समस्या है, इस्लाम देश, बौद्ध देश, खलिस्तान, आदि की समस्या है। ऐसी स्थिति में अगर विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन पर बल दिया जाता है तो मेरी दृष्टि में इन समस्याओं से छुटकारा पाया जा सकता है। सब सभी धर्मावलम्बी विभिन्न धर्मों के अन्तर्निहित विचारों से अवगत हो जाते हैं तो उनके अन्दर पल रही कटुता एवं संकीर्णता की भावना समाप्त हो जाती है और परिणाम यह होगा कि उनके अन्दर सभी धर्मों के प्रति आदर की भावना जगेगी। फिर जब सभी धर्मावलम्बी एक दूसरे के धर्म के प्रति आदर दिखायेंगे तो पूर्व और पश्चिम, इस्लाम देश, बौद्ध देश एवं खलिस्तान की भावना भी दूर हो जायगी।

– संजीवन प्रसाद
दर्शन विभाग
किसान कॉलेज, सोहसराय
मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)

टिप्पणियाँ

१. डॉ. राधाकृष्णन्, धर्म : तुलनात्मक दृष्टि में, पृ. १५।
२. ई रायस्टन पाइक द्वारा संपादित, पृ. ३२०
३. वहीं।
४ द लाइफ एण्ड लेटर्स ऑफ फ्रेड्रिक मैक्समूलर, खण्ड-२, पृ. ४६४
५. इन्ट्रोडक्शन टू द साइंस ऑफ रिलिजन, पृ. २९
६. दि वर्ल्डस् लिविंग रिलिजन, पृ. ११–१२।
७. इन्ट्रोडक्सन टु द साइंस ऑफ रिलिजन, पृ. १३

प्रकृति-तत्त्व

पिछले लेख में हमने देखा कि प्राकृतिक जगत् अवच्छिन्न भाव्यात्मक (साध्योन्मुख) अस्तित्वों की समष्टि है। किन्तु अवच्छिन्नता ग्राहक और ग्राह्य, विषयी और विषय दोनों पक्षों में आत्यन्तिक रूप से संवेदनामूलक वस्तुओं का ही धर्म है। संवेदन ग्राह से मुक्त होने पर वस्तुएँ अपनी अवच्छेदक भित्तियों से मुक्त हो जाती हैं। विषय-पक्ष में अवच्छेदों से मुक्ति की पराकाष्ठा प्रकृति-तत्त्व के प्रत्यय में चरितार्थ होती है। अवश्य, जगत् भी अवच्छिन्न अस्तित्वों के समकक्ष अस्तित्व नहीं होकर इनकी सावयव व्यवस्था है और इस प्रकार असंवेद ग्राह्य है, अवच्छिन्न वस्तुएँ भी नितान्त अवच्छिन्न नहीं होकर अध्यवसाय के माध्यम से अपने को अपने बाहर व्यापक पाती हैं, किन्तु प्रकृति-तत्त्व इनसे मौलिक रूप से भिन्न है। प्रकृति-तत्त्व वस्तुओं की और जगत् की सत्ता, स्वभाव और तात्पर्य है, यह प्राकृतिक निर्धारणों का अनिर्धार्य आधार है। इस कारण इसका वस्तुओं के प्रकट रूप से कोई साम्य होना अपेक्षित नहीं है, बल्कि कहना चाहिए, इनमें कोई साम्य सम्भव ही नहीं है, क्योंकि जैसा कि हमने देखा, निर्धारित और अनिर्धार्य में कोई तारतम्य नहीं हो सकता।

किन्तु यदि हम प्रकृति-तत्त्व को नितान्त अनिर्धार्य कहें तो इसका अर्थ होगा कि यह इतर भी नहीं हो सकता, क्योंकि इतरता भी एक निर्धारण है। किन्तु इतरता का उच्छेद या उल्लंघन प्रकृति की सत्ता या स्वभाव का ही उल्लंघन करना है, क्योंकि 'प्रकृति' वास्तव में इतरता की अनपचेयता (इरिड्यूसेबिलिटी) और अनिवार्यता की स्वीकृति है। इतरता को अपचेय और केवल एक अन्तर्वर्ती (प्रोवीजनल) उपाधि मानने पर प्रकृति भी एक अन्तर्वर्ती उपाधि मात्र रह जाती है।

जैसाकि हमने पिछले लेख में संकेत किया, इतर के समकक्ष प्रकृति की दूसरी अवधारणा अनात्म के रूप में की गई है। यह भारतीय दर्शन की अवधारणा है; यद्यपि यह ग्रीक (प्लेटो) और ईसाई दर्शन में, और अनन्तर कांट में भी देखी जा

सकती है। 'अनात्म' के विपरीत 'इतरता' विषयात्मक तत्त्व है और वह सब विषय है जो आत्म का व्यावर्तक या बाधक है। इसके विपरीत अनात्म मूल्यात्मक अनवधानजन्य आत्मविमुखता है। इसे आत्मपरक दोष या अपर्याप्तता भी कह सकते हैं। विषय का तत्त्व यदि अनपचेय है, अथवा किसी प्रकार, यदि दोष या अपर्याप्तता आगन्तुक या औपचारिक (अध्यस्त) नहीं है, तो प्रकृति अनिवार्यतः एक स्वाधीन व्यवस्था हो जाती है। अन्यथा यह अनिर्धार्य चित्-तत्त्व में अपचेय है।

किन्तु यहां द्रष्टव्य है कि इतरता आत्मा के व्यावर्तक के रूप में निर्धार्य होने पर भी विषय के तत्त्व के रूप में अनिर्धार्य ही रहती है, क्योंकि यह तत्त्व विषय के सब निर्धारणों का अतिक्रमण करता है। किन्तु तब यह केवल अनिर्धार्य चेतना द्वारा ही ग्राह्य हो सकती है, जो वदतोव्याघात है, क्योंकि अनिर्धार्य चेतना इतर-व्यावृत्त और इस प्रकार इतर-निर्धारित नहीं हो सकती। इस कारण इतरता वास्तव में आत्मा का आत्मनिर्धारण मात्र ही हो सकती है, स्वतन्त्र तत्त्व नहीं। किन्तु तब आत्म भी अनिर्धार्य नहीं हो सकता, यह अपने ही अन्तस्तल में निर्धारित हो जाता है। किन्तु यह वास्तविकता के स्पष्टतः विपरीत है, क्योंकि जैसाकि हमने प्रथम लेख में देखा, निर्धारित अनिर्धार्य की आश्रय के रूप में अनिवार्यतः अपेक्षा करते हैं, और निर्धारणों का यह अतिक्रमण या तो विषय पक्ष में हो सकता है– जिसका अर्थ है कि विषयी विषयमूलक निर्धारण है– अथवा आत्म-पक्ष में–जिसका अर्थ है कि विषय आत्ममूलक, अथवा कहें आत्मपरक, एक निर्धारण है– अथवा दोनों पक्षों में हो सकता है– जिसका अर्थ है कि पुरुष और प्रकृति दो पूर्णतः स्वतंत्र तत्त्व हैं। किन्तु जैसाकि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, यह अतिक्रमण दोनों पक्षों में होने पर विषय-पक्ष का ग्राह्यता या इतरता से रहित होना आवश्यक है। दिङ्नाग की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की अवधारणा में एक प्रकार से, और सांख्य की प्रकृति-पुरुष की अवधारणा में दूसरे प्रकार से, इसी उभयात्मक अनिर्धार्य को साधने का प्रयत्न है। सांख्य का प्रयत्न समग्र-ग्राही और सूक्ष्म है, क्योंकि यह दिङ्नाग के समान प्राकृतिक जगत् को केवल इन्द्रिय-गोचरता तक ही सीमित नहीं करता, बल्कि उसमें अनुभव के सभी आयामों का आकलन करता है। तब इसका समाधान यह है कि आत्म स्वरूपतः अनिर्धार्य है, जबकि प्रकृति निर्धारणों का अनिर्धार्य आश्रय है। तब इस के अनुसार इतर प्रकृति नहीं होकर आत्म है, जिसकी इतरता का बोध प्रकृतिगत निर्धारणों के लय के रूप में प्रतिफलित होता है। दूसर शब्दों में आत्म इतरता के बोध का विषय तो है किन्तु आश्रय नहीं है, और इस प्रकार इतरता से व्यवहित भी नहीं है, इसके विपरीत प्रकृति इतरता की आश्रय होने से केवल प्राकृतिक निर्धारणों का अनिर्धार्य आधार है, अन्यथा वह अनिर्धार्य नहीं है, क्योंकि वह पुरुष की इतरता से निरन्तर और अनिवार्यतः व्यावृत्त है।'

यहाँ यह देखना उपयोगी होगा कि सांख्य को, वेदान्त से भिन्न, प्रकृति की स्वतंत्र सत् के रूप में आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई ? इसका कारण यह है कि इतरता का आश्रय इतर वास्तविकता नहीं होने पर उसका आश्रय स्वयं आत्मा में हो जायगा। और परिणामतः आत्मा आन्तरतः इतर-व्यावृत्त हो जायगा। जैसाकि हमने पीछे देखा, घट पट से व्यावृत्त है और स्वयं अपने स्वरूप (नोशन) से भी अपर्याप्त है। ये दोनों इतरताएँ हैं, एक प्रकटतः बाह्य है और दूसरी आंतरिक। घटादि में यह आंतरिक इतरता, इनके स्वरूप के अविपुल होने से, उतनी मुखर नहीं होती जितनी मनुष्य में, जो कि अत्यधिक विपुल स्वरूप-प्रत्यय है और आत्मचेतन है। आत्मचेतन होने से इसकी स्वरूपगत पूर्णता और वास्तविक अपूर्णता में खाई आन्तरतः प्रकाशित (वेदितव्य) होती है। इसी से सांख्य और शंकर ने क्रमशः दुःख और युष्मद्-अस्मत् व्यामिश्र को विवेच्य बनाया है। अब प्रश्न है कि वह अविद्या जो दुःख या युष्मदस्मत्-व्यामिश्र के रूप में प्रकट होती है, आत्मगत है या परगत ? यदि आत्मगत है, तो आत्मा स्वरूपतः निर्धारित है, और अनिर्धार्यता का कोई अर्थ नहीं हो सकता। इसलिए सांख्य का समाधान है कि यह आत्मगत नहीं है, यही इतर है, आत्मा स्वरूपतः और वस्तुतः पर्याप्त और पूर्ण है, उसमें भाव और भाव्य का भेद नहीं है। किन्तु स्वरूपतः पूर्ण भाव और पूर्ण अभाव में भेद कर पाना असम्भव है। स्वयं सांख्यकारिकाकार ने प्राकृतिक व्यापार का प्रयोजन पुरुष-विमुक्ति कहा है, जो व्यंग्यतः पुरुष में आत्म-व्यवधान की स्वीकृति है।

वास्तव में सांख्य के इस अत्यन्त अर्थगर्भित प्रयत्न की महत् असफलता से प्रकृति-विषयक समस्या में गहरी अन्तर्दृष्टि मिलती है। समस्या है कि भाव या अभाव भाव्य कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि भाव्य केवल अभाव से अन्तःप्रविष्ट भाव, भाव की न्यूनता, भवितव्यता (बिकमिंग) का गंतव्य ही हो सकता है। किन्तु भाव तब तक अभाव से व्यवहित कैसे हो सकता है जब तक वह पूर्ण भाव से अन्तर्गर्भ नहीं है, क्योंकि अभाव भाव की अपेक्षा से ही हो सकता है। और यदि भवितव्य या भावा-भाव पूर्ण भाव से अन्तर्गर्भ है तब पूर्ण भाव व्यवहित क्यों या कैसे है ? उदाहरण के लिए घट-विशेष को लें जो घटत्व का एक आविर्भाव है। अब घट स्पष्टतः अपने प्रत्यय की अपेक्षा न्यून है, इसीसे असंख्य प्रकार के घटों की सम्भावना है, किन्तु समस्या है कि घट घटत्व के होने पर उससे व्यवहित क्यों होते हैं, अथवा अधिक उपयुक्त शब्दों में, घटत्व के सत् होने पर उसमें आत्म-व्यवधान का (घटास्तित्वों का) आविर्भाव क्यों होता है ? दूसरे शब्दों में, अविद्या, दुःख, न्यूनता या दोष की विद्यमानता क्यों है और किस अधिष्ठान में है ? सांख्य के अनुसार यह व्यवधान आत्मा या पूर्ण भाव में नहीं हो सकता।

किन्तु यहां आपत्ति हो सकती है कि दोष या अभाव यदि भाव के अन्तर्गत नहीं होंगे, तो वे दोष या अभाव ही नहीं होंगे। उदाहरणतः घट की अपर्याप्तता घट में घटत्व के भाव की अपर्याप्तता है, यदि इस अपर्याप्तता का अधिष्ठान घटगत नहीं हो तो घट अपर्याप्त नहीं होगा। सांख्य की ओर से इसका उत्तर हो सकता है कि घट घटत्व नहीं है, घट घटत्व की अपेक्षा से अपर्याप्त है, स्वयं घटत्व अपर्याप्त नहीं है : अपर्याप्तता घटगत है, न कि घटत्वगत। किन्तु तब आपत्ति होगी कि घट घटत्व के अतिरिक्त केवल उपादान (मिट्टी) है, जो स्वतः न अन्यून घट है और न न्यून घट है। इसका सांख्यीय उत्तर होगा कि घट उपादान में घटत्व का अपर्याप्त आविर्भाव है, अधिक पारिभाषिक पदावली में कहें तो, घट उपादान में घटत्व की अपेक्षा ये घटत्व-निरूपण है जो अनिवार्यतः अपर्याप्त होता है। इस प्रकार इस अपर्याप्तता का अधिष्ठान निरूपण में है।

सांख्य का विचार्य विषय मनुष्य है, घटादि नहीं, जो उसके लिए नाम-रूप मात्र हैं। मनुष्य मुक्त नहीं है, किन्तु मोक्षाकांक्षी है। इसका अर्थ है कि मुक्ति है, क्योंकि यदि मुक्ति (मुक्त-भाव, स्वातंत्र्य) वस्तुसत् नहीं हो तो मोक्षाकांक्षा भी नहीं हो सकती। मुक्त-सत् के बिना मोक्षाकांक्षा असम्भव है, क्योंकि आकांक्षा भाव-अभाव का यौगपद्य है, और अभाव यदि भावाश्रित नहीं है, भाव का आत्मव्यवधान नहीं है, तो वह स्वयं एक भाव हो जायगा, और परिणामतः आकांक्षा एक अनन्त, शाश्वत और अनिवार्यतः असफल पर्येषणा हो जाएगी। किन्तु यदि मुक्तावस्था मोक्षाकांक्षा का साध्य नहीं होकर नित्यसिद्ध अवस्था हो, तो भी मोक्षाकांक्षा नहीं हो सकती। दूसरी ओर, यदि मोक्षाकांक्षा और मुक्त अवस्था एक ही अधिष्ठान में हों तो वह वास्तव में मोक्षाकांक्षा ही होगी, मुक्तावस्था नहीं, क्योंकि मोक्षाकांक्षा मुक्ता-मुक्त अवस्था है और अमुक्तता के रहते मुक्त-पूर्णता नहीं हो सकती। इसलिए उसका समाधान है कि भाव (मुक्ति) नित्यसिद्ध अवस्था है, मोक्षाकांक्षा अभाव में भाव का आत्म-व्याकरण है।[२] इसके विपरीत वेदान्त इनका एक ही अधिष्ठान मानता है, किन्तु तब वह मोक्षाकांक्षा को, अभाव को, मिथ्या मानता है।

हेगल एक भिन्न प्रसंग में इसके अनुरूप प्रश्न उठाता है। उसकी समस्या भवितव्यता (बिकमिंग) है जिसे वह न प्लेटो के समान असत् मानता है और न हेराक्लाइटस के समान सत्। किन्तु तब उसका समाधान नितान्त विचित्र है। उसके अनुसार 'भाव' (बींग) शुद्ध निरपेक्ष विचार (थॉट) और अव्यवहितता (इमीजियेसी) है। किन्तु भाव अपने शुद्ध रूप में उद्ग्रहण (एब्स्ट्रेक्शन) मात्र है और परिणामतः पूर्ण रूप से निषेधात्मक है : इस प्रकार भाव के समान ही

अभाव भी निरपेक्ष और अव्यवहितत्व है। परिणामतः भाव और अभाव का सत्य इन दोनों की एकता में है, जो एकता कि भवितव्यता (बिकमिंग) है।[३] इस प्रसंग में हेगल ने नागार्जुन के शून्यवाद का भी उल्लेख किया है; किन्तु यह द्रष्टव्य है कि नागार्जुन शून्य को स्पष्ट रूप से भावात्मक कहता है, अभावात्मकता केवल व्यवहार (फिनोमिना) की है।[४] जहां तक हेगल के 'अभाव' का प्रश्न है, इसमें एक साथ दो कोटियों का व्यामिश्र प्रतीत होता है : पहले वह कहता है कि मात्र भाव नितान्त विपन्न अवधारणा है और अपनी अवस्तुता या रिक्तता में पूर्णतः उद्ग्रहणात्मक (एब्स्ट्रेक्ट) है, परिणामतः यह अपने निषेध से अभिन्न है। किन्तु आगे वह इसी आधार पर कहता है कि भाव और अभाव का सत्य इन दोनों के मिश्रण में, एकस्थता में, है, जो मिश्रण भवितव्यता को जन्म देता है। इस दूसरे में भाव और अभाव विपन्नता या रिक्तता के कारण समान अवधारणाएँ नहीं है, बल्कि संयुक्त रूप से अस्तित्व मात्र का स्वरूप हैं, जो अस्तित्व अपनी सम्पन्नता में निरपेक्ष प्रत्यय में अपने परमार्थ का लाभ करता है। यहां स्पष्टतः भाव और अभाव दो भिन्न कोटियां हैं। अब यह दूसरी कोटि हमें पुनः उसी समस्या के सामने ला खड़ा कर देती है जिसके एक समाधान का प्रयत्न हमने सांख्य के रूप में देखा था। हेगल इसका दूसरा समाधान देता है। उसके अनुसार भाव और अभाव दोनों पूर्ण भाव की विपुल सम्पन्नता के विधायक हैं जिनके सम्मिश्रण के बिना पूर्णभाव पूर्णतः रिक्त होता।

यहाँ एक आपत्ति पर विचार करना स्थाने होगा : यह कहा जा सकता है कि अनिर्धार्यता और निरपेक्षता वास्तविक नहीं हैं, ये बौद्धिक कल्पनाएँ हैं। इसी प्रकार मोक्ष के सम्बन्ध में भी : मनुष्य में मोक्षाकांक्षा (पुरुषार्थान्वेषण) हो सकता है किन्तु मोक्षावस्था या पुरुषार्थ भी सत् है, यह एक दूसरी बात है। यह आपत्ति वास्तविकता विषयक एक मौलिक भ्रान्ति पर आधारित है। इसमें वास्तविकता के सम्बन्ध में यह धारणा निहित है कि कोई देश-कालमूलक स्थिति ही हो सकती है, और देशकाल मूलक स्थितियाँ केवल वर्तमान में ही होती हैं, भावी स्थितियाँ केवल सम्भव होती हैं। किन्तु ये लोग यह भूल जाते हैं कि विचार भी सत्ता का एक आयाम है और यह चेतना के उच्चतर स्तर से सम्बन्धित होने के कारण सत्ता को उच्चतर आयाम में प्रकट करता है। और विचार केवल अपने निजी क्षेत्र में ही सदोन्मुख नहीं होता, यह इन्द्रियगोचरता के क्षेत्र को भी व्यापकता और गहराई देता है। इन्द्रियगोचरता के क्षेत्र में चेतना द्वारा विषय का स्वतंत्र निरीक्षण और विनिश्चय, और उसके गहनतर अर्थों का उद्घाटन विचार के कारण ही सम्भव होता है। किन्तु ऐन्द्रिक स्तर पर चेतना विचार के द्वारा कितनी भी स्वतंत्र होकर भी अन्तर्विभक्त ही रहती है। यहाँ वह इतर का विचार करती

है, यद्यपि विचारक के रूप में यह इतर से अपने पार्थक्य का भी ग्रहण करती है। इस स्तर पर इस पार्थक्य के अन्तराल में ही उसकी स्वतंत्रता अधिष्ठित होती है। यह द्रष्टव्य है कि इसमें चेतना बाह्यतः नियुक्त होने पर भी नियमाधीन नहीं होती, नियम यहाँ चेतना के अपने प्रभुत्व का ही प्रसार होता है। किन्तु यह नियम आत्मनियुक्त नहीं होकर इतर-नियुक्त होता है: "यह पुस्तक है" वाक्य में तीनों पद सामान्यग्राही हैं, विशेषग्राही नहीं, जो कि इन्द्रिय-गोचरता का लक्षण है, और इन सामान्य पदों की व्यवस्था और इनके द्वारा व्यष्टि का अवच्छेदन यह सब ही विचार का स्वतंत्र व्यापार है, किन्तु यह व्यापार इन्द्रिय-प्रदत्त का अतिक्रमण नहीं कर सकता, और यह इन्द्रिय-प्रदत्त इसके नियम के अधीन नहीं है। अब यहाँ वास्तविकता (वस्तु-सत्ता) उस सीमा तक नितान्त उथली और विपन्न होती है जिस सीमा तक यह इन्द्रिय-विषयक होती है, इसके विपरीत काव्य, राजनीति विज्ञान और दर्शन के सर्जन या चिन्तन में अवगत वस्तुसत्ता की गहराई अतल होती है। जैसाकि हमने पिछले लेखों में देखा, वैचारिक वस्तुता निर्धारणों या अवच्छिन्नताओं के माध्यम से अनिर्धार्य या अनवच्छिन्न होती है, यह अनवच्छिन्नता विचारात्मक निर्धारणों की अनिवार्य पर्यन्तता है, और यही उनकी परम वस्तुता भी है, क्योंकि निर्धारित आत्मनिर्भर और परिणामतः पर्याप्त सत् नहीं होते। नागार्जुन और ब्रैड्ले कम से कम इस पक्ष में सही हैं। इस प्रकार मोक्ष या अनवच्छिन्न अथवा पूर्ण भाव मौलिक वास्तविकता है जो पर्येषणाओं और अवच्छिन्नताओं को वास्तविकता देती है। किन्तु तब निर्धारणों की अपनी कोई वास्तविकता है या नहीं?

हमने पिछले लेखों में देखा था कि 'निर्धारित भाव' का अर्थ है 'अभाव-व्यावृत्त भाव'। भाव की यह अभाव-व्यावृत्ति तीन प्रकार से होती है: (१) अपने प्रत्यय से न्यूनता के रूप में, जैसे मनुष्य की अपने स्वरूप से, (२) जाति या गुण-मूलक व्यावृत्ति के रूप में, जैसे गाय की अश्व में, और नील की रक्त में और कठोर में, (३) देश-काल-मूलक, जैसे दो व्यष्टियों या घटनाओं में। किन्तु थोडा गहराई से देखने पर इस निर्धारणीकरण में कठिनाइयाँ दिखायी देने लगती हैं: १ और ३ में प्रकट भेद १ में संगृहीत हो सकता है, उदाहरणतः एक ही जाति के दो व्यष्टियों में भेद व्यष्टियों की अपने प्रत्यय से न्यूनता के कारण होता है। यदि सब व्यष्टि अपने प्रत्यय को समग्रतः धारण कर सकें तो उनमें व्यष्टि-भेद केवल देशमूलक या काल-मूलक ही रहेगा, जैसे एक ही इन्द्रियगोचर दो संवेद-प्रदत्तों में होता है, किन्तु केवल देश और कालमूलक भेद केवल संवेदों और संवेद-प्रदत्तों में ही हो सकता है, अध्यवसायरूढ इन्द्रिय-गोचर विषयों में भी यह नहीं हो सकता, विचार-गोचर विषयों की तो बात ही क्या। विचारगोचर वस्तुएँ अपने तात्पर्य में इतनी अधिक

सम्पन्न होती हैं कि व्यष्टि के लिए उसको समग्रता में धारणा करना असम्भव होता है। प्राणिजातियों में यह तथ्य जनन-कण मूलक सम्भावनाओं की अगणनीयता के रूप में स्थूलतः भी द्रष्टव्य है, जबकि मानवीय वृत्तियों में यह प्रत्यय भी आत्मगोचर होता है। अब, यदि यह सही है तो दो घट घट-प्रत्यय से व्यवधान की मात्रा और प्रकार के आधार पर अवच्छिन्न होते हैं और घट तथा पट अपने प्रत्ययों की परस्पर व्यावर्तकता के द्वारा अवच्छिन्न होते हैं। किन्तु यहाँ दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि आपत्ति करेंगे कि गोत्व आदि मात्र कल्पनाएँ हैं, दो गायें संवेद्य गुणों के आधार पर ही परस्पर भिन्न होती हैं। इस प्रकार इनके अनुसार दो व्यष्टियों में भेद, चाहे वे दो गायें हो और चाहे गाय और अश्व, संवेद्य गुणमूलक ही होता है। किन्तु ये दार्शनिक यह नहीं देख पाते हैं कि संवेद्य गुणात्मक व्यावर्तन गाय और अश्व आदि, अथवा घट-पटादि अवयवियों में नहीं बल्कि संवेद्य गुणों में ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त इनके पक्ष में और कोई भी युक्ति नहीं है सिवाय इस पूर्वमान्यता के कि चैतन्य केवल संवेद के द्वारा ही वस्तु-साक्षात्कार कर सकता है। किन्तु यह भी सही है कि दो गायों या दो मेजों में व्यावर्तन संवेद्य गुणात्मक भी होता है। किन्तु संवेदात्मक निर्धारण को जिस प्रकार बौद्ध या अनुभववादी देखते हैं उस प्रकार से ये निर्धारण नहीं होकर चेतना के मौलिक उद्दीपन हैं। किन्तु तब चेतना परस्पर स्वतंत्र उद्दीपनों का समूह मात्र रह जाती है जिसमें सामूहीकरण का कोई आधार नहीं है, सिवाय कथंचित्ता के। बौद्ध इस निष्कर्ष को स्वीकार करने का साहस भी दिखाते हैं। किन्तु जबकि अत्यधिक अविकसित पाशव चेतना इसी स्तर पर क्रिया करती है, मानव-चेतना संवेद-गत सीमाओं का विचार में अतिक्रमण कर संवेद-प्रदत्त विशिष्ट को सामान्य में और संवेद-ग्रहण को प्रत्ययन की व्यापकता में उन्मुक्त कर देती है और क्रमशः इस स्तर के ग्रहणों को भी अनिर्धार्य और निरवच्छिन्न को समर्पित कर देती है। इस प्रत्ययन या अवधारण को उपचार या विकल्प कहना चेतना के निम्नतम स्तरों को उच्चतम मूल्य देना है।

इस प्रकार अभाव और न्यूनता भाव की पूर्णता की अपेक्षा से ही होते हैं और भाव की पूर्णता के अत्यन्त के वास्तविक होने से अभाव और न्यूनता केवल प्रकटतः ही वास्तविक होते हैं, वस्तुतः नहीं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो सांख्यीय प्रकृति की पृथक्तः कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। किन्तु इस पर सांख्य की आपत्ति होगी कि अभाव या न्यूनता आत्यन्तिक भले ही नहीं हों किन्तु वे अनात्यन्तिक (तात्कालिक) रूप से तो हैं ही। अथवा इन्हें आत्यन्तिक सापेक्षताएँ भी कह सकते हैं, क्योंकि अनिर्धार्यता निर्धारणों को समाप्त नहीं करती, उसमें उनका अतिक्रमण होता है : जैसाकि हमने पिछले लेख में देखा, घट-प्रत्यय स्वरूपतः

व्यष्टिमूलक है। जहाँ तक अपने प्रत्यय से न्यूनता का प्रश्न है, यह न्यूनता प्रत्यय की अन्यूनता से असत् नहीं हो जाती। घट, चित्र, या मानव-व्यक्ति की न्यूनता निवार्य है, किन्तु यदि वह हो ही नहीं तो उसके निवारण का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

इस प्रकार निर्धारितता या न्यूनता जगत् के स्वभाव में मौलिक है, परिणामतः यह जगत् अनिर्धार्य पूर्णता में अधिष्ठित नहीं होकर इसकी इतरता मे अधिष्ठित है। जगत्-रूप में व्यक्त सभी प्रत्यय व्यावर्तनात्मक हैं, ये व्यावृत्त वस्तुएँ और प्रत्यय अंततः परस्पर व्यावर्तनात्मक त्रैगुण्य में अधिष्ठित हैं। यह त्रैगुण्य आत्यन्तिक है, यद्यपि आत्मपर्याप्त नहीं है : इसका अपना कोई अर्थ (प्रयोजन) नहीं है, अर्थ के लिए यह उस तत्त्व का अपेक्षी है जो अपनी पर्याप्तता को और प्रकृति के अर्थ को धारण कर स्वातंत्र्य में प्रतिष्ठित है।[५] दूसरे शब्दों में, प्रकृति का प्रयोजन उस स्वातंत्र्य, निरपेक्षता, सहज अन्यूनता या विपुलता की सापेक्षता, न्यूनता और विपन्नता के माध्यम से प्रकाशन है, जो इसके बिना अपने भाव की पूर्णतः में अविदित रहता है।[६]

डेकार्ट के लिए प्रकृति एक दूसरे कारण से आवश्यक है, और यही 'प्रकृति' का अधिक प्रचलित अर्थ भी है। उसके अनुसार प्रकृति इन्द्रियगोचर अर्थों का सत्यापक तत्त्व है और इसका स्वरूप विस्तार या देशमात्रता है, जिसका दूसरा आशय है कि यह तत्त्व ग्राहक चेतना से स्वतंत्र है। किन्तु गोचर अर्थों (विषयों) का सत्य उन अर्थों से इतर होना क्यों आवश्यक है ? यदि इस लिए कि चित् सत्य के लिए अन्य सत् का अपेक्षी है, तो यह बात डेकार्ट को अभिप्रेत नहीं है। पश्चिमी दर्शन के इतिहास में इस बोध का श्रेय डेकार्ट को ही दिया जाता है कि चित् जिस सत् का असंदिग्ध रूप से साक्षात्कार कराता है वह उसके अपने से अभिन्न है, कि असन्दिग्ध रूप से अज्ञात सत् चित् का अपने से अव्यवहितत्व ही है। इतर सत् वास्तव में डेकार्ट के लिए केवल अनुमेय और दो पद दूर है। उसके अनुसार अव्यवहित ज्ञान और अव्यवहित सत् एक ही हैं : "मैं विचार करता हूँ" यह तथ्य चित् और सत् का यौगपद्य है, ईश्वर का ज्ञान भी इसी ज्ञान के अन्तर्गत है, क्योंकि "मैं विचार करता हूँ" अपने स्वरूप की अपूर्णता का भी ज्ञान है और अतएव इतर पूर्णता का भी ज्ञान है। किन्तु यहां प्रश्न हो सकता है कि यह अपूर्णता ज्ञान की है या भाव की ? स्पष्टतः ज्ञान की अपूर्णता भाव की अपूर्णता को भी आपादित करती है और परिणामतः पूर्णता ज्ञान और भाव दोनों में आपादित ही होती है : अर्थात् यह तर्कानुमान है, प्रत्यक्ष नहीं किन्तु डेकार्ट अपूर्ण विचार को पूर्ण विचार का अनिवार्य अपेक्षी मानता है और यह अपेक्षा

तार्किक नहीं बल्कि प्रत्यक्षात्मक है। किन्तु तब वह पूर्ण के अस्तित्व को तर्कसाध्य मानता है। किन्तु यदि अपूर्ण विचार ज्ञान के अव्यवहितत्व के कारण ही असंदिग्ध सत् है तो उसी प्रकार पूर्ण विचार भी अव्यवहित ज्ञान होने से सत् भी होगा। किन्तु वास्तव में पूर्ण न ज्ञान में अव्यवहित है और परिणामतः न भाव में ही है, वह दोनों में अनिवार्य-अतिक्रामी आधार है। जो भी हो, मुख्य बात यह है कि यदि ईश्वर का ज्ञान और अस्तित्व दोनों में अव्यवहित भी माने जायें तो भी उसकी श्रेयस्करता प्रकृति के अस्तित्व को आपादित नहीं करती, क्योंकि यदि पूर्णता अनिवार्यतः अकलुष है तो अपूर्णता सकलुष होगी, और परिणामतः अपूर्ण सदैव अपने ग्रहणों और धारणाओं में भ्रान्त हो सकता है। इस प्रकार डेकार्ट को प्रकृति की आवश्यकता आन्तरिक रूप से नहीं है, केवल उन अर्थों या प्रत्ययों की सत्यता के लिए है जिनकी सत्यता की रक्षा वह अपनी पहली आलोचना में नहीं कर सका। किन्तु डेकार्ट निगमनात्मक रूप से भी प्रकृति को प्रमाणित नहीं कर सका। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट को प्रकृति की सत्ता सिद्ध करना आवश्यक प्रतीत हुआ : गोचर अर्थों की अतिक्रामी सत्ता की धारणा हममें इतनी सहज है कि उसका निषेध हमें क्रूरतम प्रवंचना प्रतीत होता है, जो हम स्वयं अपने प्रति कर नहीं सकते, तब दूसरे के सम्बन्ध में देखने की आवश्यकता है कि वह कर सकता है या नहीं ?

कांट भी इन्द्रियगोचर अर्थों को इसी प्रकार एक बाह्य आधार पर प्रतिष्ठित देखता है। उसकी युक्ति है कि, यह सम्भव नहीं है कि प्रतीति (इन्द्रियगोचर अर्थ) किसी बाह्य आधार के बिना हों। किन्तु अंततः वह इस स्वलक्षण वस्तु स्वातंत्र्य या आत्मनियामक आद्य संकल्प ही सिद्ध होती है, इन्द्रियगोचर अर्थों की इन्द्रियातिक्रामी, यद्यपि ठोस, आधार नहीं। यहां इस बात की ओर पुनः ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि कांट स्वलक्षण वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं है। जिसे वह प्रतीतियों का आधार और इन्द्रियों के लिए अगम्य किन्तु विचार के लिए गम्य कहता है, वह वस्तु वही नहीं है जो स्वातंत्र्य या संकल्प स्वरूप है। किन्तु कांट को इस दुविधा में पडने का श्रेय देना होगा जो उस प्रकार दिङ्नाग और शंकर को नहीं दिया जा सकता। दिङ्नाग शुद्ध संवेद को गम्य शुद्ध वस्तु को निर्द्वन्द्व भाव से स्वीकार करते हैं और शंकर इसी प्रकार अध्यवसायात्मक इन्द्रियार्थों को वस्तुमूलक मानते हैं, अलीक अर्थों से भिन्न, किन्तु यह वस्तु उनके लि ब्रह्म है। कांट की उलझन है कि संवेद अपने अनुरूप वस्तु की अपेक्षी हैं, परिणामतः आधार-वस्तु प्राकृतिक होनी चाहिए। किन्तु संवेद केवल बाह्य ही नहीं आन्तर भी होते हैं, तब इन दोनों की आधार वस्तु एक ही है या दो ? शुद्ध रीजन इसके लिए दो निर्देशक प्रत्ययों (आइडियाज़) की अपेक्षा करता है, किन्तु ये वस्तुएँ दो नहीं

हो सकतीं। किन्तु तब यह वस्तु प्रयोजन क्या सिद्ध करती है ? सम्भवतः वही जो शंकर के लिए ब्रह्म करता है, जो सब प्रतीतियों और प्रतीत वस्तुओं का सत्त्व है। दिङ्नाग इस ओर देखता ही नहीं, उसके लिए स्वलक्षण वस्तु निर्विकल्पक संवेद की विषय है। किन्तु श्रवण और दर्शन के, और सुखादि के संवेदों में मौलिक भेद है। तब क्या स्वलक्षण वस्तु में भी ये भेद हैं ? पुनः, इन्द्रियमूलक बुद्धि (विकल्प) और उससे स्वतंत्र बुद्धि (शुद्ध विचार) में भी भेद है। शुद्ध विचार इन्द्रियगम्य की निर्विकल्पकता का और अध्यवसायगम्य की सविकल्पकता का आकलन कर सकता है, स्वयं दिङ्नाग उसी के द्वारा उसका आकलन कर रहा है; इसके बिना निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अपनी विपन्नता की अत्यन्तता में अनभिलाप्य और अग्राह्य रहता है यह वह नहीं देख पाता। कांट यह देखता है, किन्तु वह निरन्तर ह्यूम से आक्रान्त रहता है। अनुभववाद के इस आतंक को निरस्त करते हुए फिख्ते ने इन्द्रियगोचर वस्तु को उस आद्य चैतन्य में स्थापित किया जो एक साथ अपने को विषयी और विषयरूप में विभक्त करता है। फिख्ते का यह विचार उपनिषद् के कितना निकट है, यह प्रथम लेख में उद्धृत **ईशावास्य तथा ऐतरेय उपनिषद्** के मंत्रों से देखा जा सकता है। यह आद्य सत् स्वतः न विषयी है और न विषय न चित् और न प्रकृति, वह दोनों का एक आधार है। किन्तु दोनों का यह एक आधार ऐसा भाव ही हो सकता है जो प्रत्यय में दोनों का अतिक्रमण करे। 'प्रत्यय में अतिक्रमण' कहने का अर्थ है कि विषयी-विषय, या चेतना तथा प्रकृति भाव के बीच तटस्थ (इंडिफरेंट) इस पर-तत्त्व से द्वैत की उत्पत्ति न कारण-कार्यात्मक है, न निमित्त-निष्पत्यात्मक, केवल यह कि द्वैत के दोनों पक्ष परस्पर सापेक्ष हैं और यह युगल अपरम या अनंतिम है और अपने आधार के रूप में अन्य पद का अपेक्षी है। किन्तु जैसाकि हमने पीछे देखा, यह अपेक्षा अकारण-कार्यात्मक होने से काल्पनिक नहीं हो जाती, बल्कि यह अधिक वास्तविक है, क्योंकि यह प्रत्यङ्मुख चेतना को अव्यवहिततया गम्य है। किन्तु यहां आपत्ति की जा सकती है कि चेतना को अव्यवहिततया गम्य केवल चेतना स्वयं ही हो सकती है, ऐसी अवस्था में जगत् और प्रकृति स्वतः ही व्यवहित हो जाते हैं और यदि ये व्यवहित हैं तब ये ज्ञेय हो ही कैसे सकते हैं, ये केवल कल्पनामात्र ही हो सकते हैं। किन्तु चेतना स्वयं को या तो विषयी रूप में जानती है, जैसे काव्य-संगीत आदि परक अनुभूति के क्षणों में अथवा विषय रूप में, जैसे पशु में, अथवा उभय रूप में, जैसे प्रतिविषयाध्यवसाय में; यह कभी अतिक्रामी-अद्वय रूप में अपने को जानती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार वास्तव में अन्तिमता या परमता की बात केवल काल्पनिक ही ठहरती है।

किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि विषय-विषयिता जबकि बाह्योन्मुख चेतना में गम्य है, प्रत्यङ्मुख चेतना के लिए इस स्थिति ने प्रदत्त भाव या सत्ता आत्मपर्याप्त नहीं होती, इस चेतना के लिए केवल अतिक्रामी-अनिर्धार्य ही ज्ञान को धारण कर सकता है जैसाकि स्पष्ट है, आधार विषयि-चेतना रूप नहीं है, यह आधार चैतन्य की निरपेक्ष भाव में स्थिति है, जो स्थिति एक साथ ज्ञान और सत् है। इस स्थिति की अनुरूपता हम दार्शनिक और कलात्मक सर्जनों के क्षणों में देखते हैं, जिन क्षणों में चैतन्य विषय को अपने भीतर से उत्सृष्ट कर विषयि-रूप में उसका साक्षात्कार करता है। इसमें सत्ता किसी भी दूसरी स्थिति की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक होती है, केवल विषयी यहाँ अपने को विषय से नियंत्रित नहीं देखता, जिस प्रकार वह इन्द्रियगोचरता की, तथा वासना और आवेग की स्थितियों में देखता है। इसीसे इन दो स्थितियों को क्रमशः स्वातंत्र्य और प्रकृति के क्षेत्र कहा जाता है।

इस प्रकार प्रकृति पारतंत्र्य का क्षेत्र है। इस पारतंत्र्य का कारण यह है कि प्रकृति जिन निर्धारणों की आधार है वे निर्धारण परस्पर आगन्तुकतया ही सम्बन्धित होते हैं, स्वभावतया या अनिवार्यतया नहीं। इनमें एकमात्र सम्बन्ध कारण-कार्यात्मक होता है, जिसमें घटनाएँ जबकि पूर्व घटनाओं से नियुक्तवत् घटित होती हैं, पूर्वगामी घटनाओं के लिए ये बाह्य और आकस्मिक ही होती हैं। इस प्रकार इनमें कोई तंत्र नहीं रहता, सिवाय विवशतया नियुक्ति के। कारणता की चाहे जो भी व्याख्या स्वीकार करें: सत्कार्यवादी, प्रतीत्यसमुत्पादवादी, उत्पादवादी, अभ्यासवादी या कांटीय, इन सबमें यह तथ्य सामान्यतया स्वीकृत है कि प्रकृति घटनात्मक है और इन घटनाओं में यदि कोई सम्बन्ध है तो वह आगन्तुक है, सिवाय इसके कि द्वितीय घटना प्रथम से प्रेरित होती है और स्वयं वह द्वितीय से किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होती। अवश्य कारणता सम्बन्धी एक अनिवार्यात्मक अवधारणा भी है, जिसके अनुसार समान कारण समान कार्य का उत्पादक होता है, और यह अवधारणा अतर्कित रूप से वैज्ञानिक अन्वेषणों की भी आधार है। किन्तु इस प्रकार निर्धारित घटनाएँ आनुभविक नहीं होकर उद्गृहीत (एब्स्ट्रेक्ट) आकार मात्र होती हैं। इस अनिवार्यता- सम्बन्ध के विपरीत आभ्यासिक सम्बन्ध का सिद्धान्त घटनाओं में कोई भी सम्बन्ध नहीं देखता। किन्तु अभ्यास स्वयं प्राकृतिक सम्बन्ध है। ह्यूम पश्चिमी दर्शन की प्रायः सर्वसामान्य धारणा के अनुसार अन्तःकरण को मनस् के अन्तर्गत रखकर उसे अप्राकृतिक मान लेते हैं, जो सही नहीं है। अन्तःकरण उतना ही प्राकृतिक है जितने संवेद-प्रदत्त, परिणामतः अभ्यास स्वयं प्राकृतिक घटनाओं से कारणता-सम्बन्ध है। किन्तु यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि अभ्यासवश हम जिन घटनाओं में सम्बन्ध देखते हैं उनमें वह सम्बन्ध

नहीं होता, जैसे पत्थर लगने और कांच टूटने में, यह सम्बन्ध केवल ग्राहक अतःकरण में ही होता है। किन्तु तब, ग्राह्य घटनाओं में सम्बन्धाभाव होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में बौद्धों को इस बात का बड़ा श्रेय है कि उन्होंने अन्तरबाह्य के इस भेद को हटाकर कारणता-सम्बन्ध को प्रतीत्यात्मक (आश्रित्योत्पन्नात्मक) कहा, जिसमें न सम्बन्ध का विधान है, न निषेध। किन्तु जगत् के एक बड़े भाग में उत्पादकता-उत्पाद्यता का सम्बन्ध भी दिखायी देता है: सब प्राणी घटनाओं को उत्पन्न करते हैं– हाथ को हिलाने की इच्छा हाथ के हिलने को, हाथ का हिलना पत्थर के हिलने को, और पत्थर का हिलना कांच के टूटने को। इनमें हाथ से पत्थर का हिलना, और पत्थर से कांच का टूटना बाह्य (भौतिक) घटनाएँ हैं, जबकि इच्छा से हाथ का हिलना क्रमशः मानसिक और बाह्य (दैहिक)। यहाँ मानसिक, दैहिक और भौतिक में सम्बन्ध की सम्भावना के प्रश्न को छोड़ते हुए केवल यह द्रष्टव्य है कि एक प्राकृतिक घटना दूसरी को क्रियान्वित कर रही है और इनमें यह सम्बन्ध केवल 'ऐसा होने पर ऐसा होता है' का नहीं है, बल्कि स्पष्टतः उत्पादकता-उत्पाद्यता का है, जिसका प्रत्यक्ष हम स्वयं घटनाओं के उत्पादक के रूप में करते हैं। किन्तु कहा जा सकता है कि यह सम्बन्ध मानसिक घटना की प्रथम प्रवर्तकता के कारण है, जिसके कारण घटनानुक्रम में एक मौलिक रूपान्तर घटित हो जाता है : यहाँ अनुक्रम केवल प्रथम से द्वितीय का नहीं है बल्कि प्रथम की अन्तिम में प्रयोजकता का और अन्तिम की प्रथम में अपेक्षा का एक ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है जैसा मात्र भौतिक घटनाओं में प्रत्यक्षगम्य नहीं होता। किन्तु इस इच्छा का क्या कारण होता है ? यदि इसे प्रथम कारण कहा जाय तब यह (इच्छा) प्राकृतिक नहीं रहती, यह स्वतंत्र हो जाती है, और यदि यह प्रथम कारण नहीं है तब इसका कारण किस प्रकार का है, भौतिक प्रकार का या कि प्रयोजनात्मक प्रकार का ? स्पष्टतः इच्छा प्रथम कारण नहीं होती, यह स्वयं कारित होती है; और इसका कारण दैहिक या मानसिक कुछ भी हो सकता है। यह कारण दैहिक होने पर उसका कारण भौतिक हो सकता है, जैसे भूख का कारण दैहिक होता है और दैहिक का कारण रासायनिक (भौतिक)। इस प्रकार यह कारण-शृंखला अनादि और अनन्त होती है, और दूसरी ओर कोई घटना ऐसी नहीं होती जो प्रथम से अनिवार्यतः अनुगत होती है। दूसरे शब्दों में, जबकि कोई भी घटित प्राकृतिक घटना अनिवार्यतः घटनाओं की जनक-जननात्मक अनादि-अनंत शृंखला को आपादित करती है, इनमें से कोई भी घटना अनिवार्य नहीं होती, केवल आगन्तुक होती है। यहाँ कहा जा सकता है कि शृंखला में से कोई भी घटना भिन्न होने पर अनुगामी शृंखला भी भिन्न हो जायगी, और परिणामतः पूर्वगामी शृंखला के वैसी रही होने पर जैसी वह थी। यह असम्भव है कि यह घटना भिन्न हो सकती,

जिसका अर्थ है कि घटना-शृंखला में अनिवार्यता है। किन्तु यह सही नहीं है, घटना १०० तक की पूरी शृंखला घटना १०१ के होने को अनिवार्य नहीं करती। यह एक विचित्र विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु इसमें कोई वास्तविक विरोध नहीं है, क्योंकि अस्तित्वतः प्रकृति संवेद-ग्राह्य है जबकि नियमतः बुद्धिग्राह्य।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि हमारे ग्रहण की विधा ग्राह्य के वस्तु-स्वरूप की निर्धारक नहीं कही जा सकती। इस आपत्ति के अनुसार, अस्तित्व और नियम ये प्रकृति के मूलतः भिन्न दो पक्ष नहीं हो सकते : कि एक स्वरूपतः आगन्तुक हो और दूसरा स्वरूपतः अनिवार्य। यह भेद केवल इस बात का द्योतक है कि प्रकृति न संवेदतः ग्राह्य है और न बुद्धितः ग्राह्य है। यह आपत्ति अयुक्त है, क्योंकि नितान्त अग्राह्य होने पर हम प्रकृति के न निरूपण में प्रवृत्त हो सकते हैं और न निरूप्य का इस प्रकार निषेध कर सकते हैं। यह निरूपण और निषेध इस बात का द्योतक हैं कि निरूप्य आत्यन्तिक नहीं है, केवल अंतरिम है। इस प्रकार, घटनाएँ संवेदात्मकता में प्राकृतिक ह, किन्तु इनका यह स्वरूप (प्राकृतिकता) आत्मप्रतिष्ठित नहीं है, इसे इनकी निस्वभावता या नितान्त विपन्नता भी कह सकते हैं। जहां तक ग्राह्य-ग्राहक के भेद का प्रश्न है, यह भेद संवेद-संवेद्यात्मक नहीं है, जैसाकि इच्छा, सुख-दुःखादि में देखा जा सकता है इनमें संवेद और संवेद्य अभिन्न होते हैं। ठीक इसी प्रकार बाह्य संवेदों में है : इन्द्रियगोचर गुणों और आकारों को बाह्य वस्तु के कार्य कहने में कोई युक्ति नहीं है। किन्तु तब ये आन्तर और बाह्य संवेद अपने आप में इतने विपन्न होते हैं कि इन्हें सत् कहना और शेष को विकल्प और उपचार कहना विकल्प और उपचार को सत् से अधिक संपन्न कहना है। इसलिए इन संवेदों के आधार के रूप में स्वलक्षण वस्तु अथवा भौतिक तत्त्व का आक्षेप किया जाता है, जो प्रतिभास के लिए पर्याप्त आधार हो सके। किन्तु यहां यह नहीं समझना चाहिए कि आक्षिप्त आधार की अपेक्षा केवल काल्पनिक है, जो इस बात से और स्पष्टतया सिद्ध होता है कि आक्षिप्त आधार-सत् के बारे में कोई सहमति नहीं है। इस असहमति का एक मुख्य कारण वास्तव में आधार-सत् की अनवगाह्य और अनिर्धार्य सम्पन्नता है। विचार जिस सीमा तक अपने को संवेद या विशिष्ट के ग्राह से मुक्त कर पाता है उसी सीमा तक सत्ता की अतल सम्पत्ति का अवगाहन कर पाता है। वास्तव में विभिन्न प्रयत्नों का कारण प्रत्येक दूसरे प्रयत्न की अपर्याप्तता का ही बोध है।

इस प्रसंग में यहां तीन प्रयत्नों को उदाहरण रूप में देखना उपयुक्त होगा : एक में भौतिकवाद को, दूसरे में सांख्यीय प्रकृतिवाद को और तीसरे में

औपनिषदिक अद्वैतवाद को लिया जा सकता है। शुद्ध भौतिकवाद, जैसे चार्वाकीय या हॉब्सीय, संवेदग्राह्य वर्ण, स्थौल्य और सुख-दुःख से आगे किसी भी अनुभव का आकलन नहीं कर पाता, और यह केवल इनके ही आधार के रूप में सत्ता को देखता है। यही बात डेकार्टीय भौतिक तत्त्व के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, सिवाय इसके कि उसका भूततत्त्व प्रत्ययगम्य शुद्ध विस्तार होने से भौतिक विज्ञान को आधार दे सकता है। किन्तु तब उसे संवेद, कल्पना, अनुभूति और मूल्य-बोध आदि सबके लिए एक अन्य सत्ता की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार डेकार्ट सत्ता के वैभव के आकलन के लिए भौतिक के अतिरिक्त मानसिक तत्त्व का भी आक्षेप करता है। किन्तु सत्ता का यह द्वित्व इस पार्थक्य में न तो अपने को धारण कर पाता है और न उस वैभव को, जो एक ओर प्राकृतिक जगत् के रूप में दृष्टिगोचर होता है ओर दूसरी ओर इसमें से स्वातंत्र्य की ओर उत्क्रमित होती चेतना के प्रत्यङमुख व्यापार के रूप में।

सांख्यीय प्रयत्न डेकार्टीय प्रयत्न की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और सूझपूर्ण है। उसके अनुसार प्रकृति केवल ऐन्द्रिक प्रत्ययों का सत्यापक द्रव्य नहीं होकर वह व्यापार है जो साध्य अर्थ (स्वातंत्र्य) के साधन के रूप में उससे पृथक् है, अथवा जो विषयिता के परिपूर्ण वैभव को सापेक्ष विषयता के माध्यम में स्फुटित कर उसे निरपेक्ष विषयता में उपसंहृत करता है। इसके अनुसार इन्द्रियगोचर वस्तु और ऐन्द्रिक प्रत्यय एक ही जगद्व्यापार के दो पक्ष हैं : प्रत्यय सत्त्व प्राधान्य है और वस्तु तमस् प्राधान्य। पुरुष को सिद्धसाध्य के रूप में और प्रकृति को साधक उन्मेष-व्यापार के रूप में कल्पित कर सांख्य अद्वैतवाद की इस समस्या के समाधान का प्रयत्न करता है कि स्वतंत्र और सम्पन्न अद्वय तत्त्व सापेक्षताओं में आत्म-व्यवहृत कैसे होता है? यद्यपि नागार्जुन, वसुबन्धु और शंकर तीनों इसके समाधान का प्रयास करते हैं कि, तत्त्वतः सापेक्षताएँ असत् हैं : जिस प्रकार वृत्त के दो अर्ध भागों की सापेक्षता निरपेक्ष वृत्त में उनकी प्रतिष्ठा के कारण ही होती है उसी प्रकार जागतिक सापेक्षताएँ निरपेक्ष में प्रतिष्ठित हैं। किन्तु भ्रम, अभाव और दोष की विद्यमानता मानव-चेतना में अनुभूत होती है और तर्कगम्य अपेक्षाएँ भ्रांति हैं तो फिर भ्रांति की वही समस्या होगी कि वह कैसे है? अवश्य उपर्युक्त तीनों दार्शनिक इस समस्या के समाधान का प्रयत्न भी करते हैं, किन्तु इसी समस्या के समाधान का एक द्वैतवादी प्रयत्न सांख्य करता है। सांख्यीय द्वैतवाद को निम्न तीन सूत्रों में रखा जा सकता है : (१) दृश्य-दर्शक, विचारक-विचारविषय, और भोक्ता-भोग्य सभी कुछ प्राकृतिक हैं, और (२) परिणामतः जगत् या प्राकृतिक व्यापार पुरुषोल्लेखी, अथवा कहें अर्थोन्वेषण की प्रक्रिया है, (३) अन्वेष्य इस प्रक्रिया का लक्ष्यभूत

निरपेक्ष-स्वतंत्र चित्-सत् है, जो जगत्-प्रक्रिया के लिए साध्य होने पर भी स्वत: त्रिकाल सिद्ध है।

जैसाकि इस विवेचन से स्पष्ट है, यह सिद्धान्त जगत् और अतिक्रान्तता के सभी अर्थों की, उन्हें नकारे बिना, व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। किन्तु इसका द्वैत उतना वास्तविक नहीं है जितना इसमें उद्घोषित है। क्योंकि प्रकृति की पुरुषापेक्षा, और प्राकृतिक व्यापार की पुरुषोन्मुखता प्रकृति को नितान्त पृथक् द्रव्य या पृथक् तंत्र नहीं रहने देती। अथवा दूसरी ओर, पुरुष इनमें केवल मूल्यान्वेषण की पर्यन्तता की भाव्यात्मक सत्ता के बजाय अन्वेष्य की भावात्मक सत्ता है। अन्वेषण और अन्वेष्य को दो पृथक् सत्ताएँ देकर सांख्य अन्वेष्य को उस सम्पूर्ण वैभव से रिक्त कर देता है जो अन्वेषण में लक्षित है। अवश्य अनिर्धार्य तत्त्व निर्धारणों में लक्ष्यमाण पर्यन्तता-रूप नहीं होता, जैसाकि हम प्रथम लेख में देख आये हैं, वह उनसे अलक्षित और पर होता है; किन्तु तब यह बात भारतीय अद्वैतवादी सम्प्रदायों में भी स्वीकृत है। उनमें जगत् के मिथ्यात्व का यही अर्थ है। सांख्य जो एक असम्भव कार्य करना चाहता है वह यह कि वह एक ओर निर्धारणों को स्वतंत्र सत्ता देना चाहता है और उनके लिए एक अधिष्ठान की कल्पना करता है, और दूसरी ओर उनके इस स्वतंत्र अधिष्ठान को आत्मा अपर्याप्त पाकर इसकी पर्याप्तता अनिर्धार्य चित्-तत्त्व में देखता है। वास्तव में यही बात डेकार्ट और मध्व के दर्शनों में एक दूसरे प्रकार से देखी जा सकती है : इनमें ईश्वर सर्वशक्तिमान् और सर्वस्रष्टा है। मध्व स्पष्टतः प्रकृति को अस्वतंत्र कहता है। अब यदि ऐसा है तब प्रकृति जीव से तो स्वतत्र हो सकती है किन्तु ईश्वर-द्रव्य से स्वतंत्र द्रव्य कैसे हो सकती है, यदि वहाँ स्वतंत्रता-परतंत्रता का अर्थ स्वामी-दास जैसा नहीं हो तो ? यदि परतंत्रता का अर्थ यह है कि यह स्वप्रतिष्ठित नहीं है, कि यह अपनी प्रतिष्ठा के लिए, या व्याख्या की मूल प्रतिज्ञा के लिए, अनिर्धार्य प्रत्यय (पूर्ण चैतन्य) की अपेक्षा करता है, तो हम केवल प्रकटतः ही द्वैतवाद की बात कर रहे हैं वास्तव में नहीं।

किन्तु यहाँ कहा जा सकता है कि इस अप्रतिष्ठितता के बावजूद इतरता और पारतंत्र्य को हम अपने भीतर अनुभव करते हैं। यदि इन्द्रियगोचर को चित्त की क्षणिक उद्भावनाओं (संवेदों) में अपचयित किया जा भी सके तो भी इन क्षणिकाओं के अधिष्ठान रूप में हम स्थायी वस्तु को भी देखते हैं। यह देखना ऐन्द्रिक नहीं होकर अन्तःकरणमूलक है, इससे वास्तव में कोई अन्तर नहीं पड़ता, जैसा नैरात्म्यवादी बौद्ध और संवेद-सत्तावादी अनुभववादी समझते हैं, क्योंकि संवेद और वस्तु-प्रतिष्ठापन दोनों चैतसिक हैं और चित्त प्राकृतिक है। इसलिए

वही समस्या संवेदानुरागी और वस्त्वनुरागी चित्त की हो जाती है– कि उसका बीज क्या है ? यह द्रष्टव्य है कि सांख्य जगत् का प्रवर्तन बुद्धि में देखता है जो जगद्भाव की अवस्था में अहंकार से उपहित होकर अवछिन्न व्यष्टियों के रूप में व्यक्त होती है । इस प्रकार सांख्यीय द्वैतवाद का प्रतिवाद भौतिक वस्तुओं और भौतिक नियमों की चित्तमूलकता दिखाकर नहीं किया जा सकता ।

तब इसका समाधान क्या है ? इसका समाधान यह हो सकता है कि वस्तु-अनुरागी चित्त प्रत्यङमुखता के क्रम में वस्तुओं को धर्मों या तत्त्वों में अन्तर्भाव्य पाता है और भोगानुरागी चित्त प्रत्यङ-मुखता के क्रम में जागतिक अन्वेषणों को परमार्थान्वेषण में । इसके विरुद्ध सांख्य का उत्तर हो सकता है कि, इससे जगत् की आगन्तुकता तो प्रकट होती है किन्तु चित्त की नहीं, और यह चित्त ही प्रकृति है, जो जगत्प्रवृत्ति में जगद्रूप में परिणत होता है और निवृत्ति में विवेक रूप में। किन्तु तब अद्वैतवादी की आपत्ति होगी कि, तब पुरुष की क्या आवश्यकता है ? चित्त ही अपनी दो गतियों में पर्याप्त होना चाहिए । यदि वह प्रवृत्ति में जगत् की वस्तुता का अधिष्ठान हो सकता है तो निवृत्ति में वह मोक्ष की वस्तुता (पुरुषता) का अधिष्ठान भी हो सकता है । और जगत् के अवस्तु होने से केवल मोक्ष की वस्तुता ही शेष रह जाती है: यही हमारे (अद्वैती के) अनुसार चित् और सत् का यौगपद्य है, इसे मोक्ष का आत्म प्रकाशन भी कह सकते हैं । इस प्रकार जगत् का अधिष्ठान प्रकृति (इतर सत्ता) नहीं होकर चित् की आत्म-विमुखता मात्र ही रह जाता है । किन्तु तब प्रश्न होगा कि, इस आत्मविमुख प्रवृत्ति का क्या बीज है ? अद्वैतवादी अधिकांशत: इसके उत्तर में भूल करते हैं । वे कहते हैं कि यह अनिर्वचनीय है, मानो यह कोई घटना या स्थिति हो । ऐसा 'असदेवेदमग्रआसीत्' जैसे वाक्यों से, या फिख्तीय प्रस्थापना से कि "आद्यतत्व दो में विभक्त होता है," से भी प्रतीत होता है । किन्तु यह 'अग्रता' कालिक नहीं होकर पारमार्थिक है । उसी पारमार्थिक प्रसंग में स्थिति यह है कि प्रकृति प्रदत्त और प्रस्तुत स्थिति है, किन्तु यह आत्म-निवारक दृष्टि से अन्त:प्रविष्ट है । यह दृष्टि जागृत हो जाने पर प्रवृत्ति का अपने आधार में रीतापन प्रकट कर देती है ।

-- यशदेव शल्य

पी-५१, मधुवन पश्चिम,
टोंक रोड, जयपुर,
(राजस्थान)

टिप्पणियाँ

*. यह लेख मेरी लेखनाधीन पुस्तक **सत्ता विषयक अन्वीक्षा** का पांचवां अध्याय है। पुस्तक भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् की फैलोशिप के अन्तर्गत लिखी जा रही है। अध्ययन-लेखन का यह अवसर प्रदान करने के लिए मैं भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के प्रति अत्यधिक अनुगृहित हूँ।

१. सांख्य की यह व्याख्या सांख्य की पदावली के अनुसार नहीं है, क्योंकि सांख्य पुरुष को आत्म और विषयी तथा प्रकृति को विषय कहता है। किन्तु उपर्युक्त पदावली उसके प्रतिपादन से पूर्णतः संगत है।

२. ईश्वर कृष्ण- **सांख्यकारिका**, कारिका ५६–६५

३. Hegel's *Logic*; Being Part I of *The Encyclopaedia of the Philosophical Sciences*; Translation and Ed. William Wallace; Oxford University Press, p. 128

४. नागार्जुन- **मूलमाध्यमिक कारिका** - १३–८, १५–५, १५–६, १५–१०

५. संघात परार्थत्वात् .....का. १७.

६. नानाविधैरुपायैरूपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः,
गुणवत्यगुणस्यसतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥

अपभ्रंश वाङ्मय में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि

वैदिक, बौद्ध और जैन मान्यताओं पर आधारित संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति का संगठन करती हैं। भारतीय संस्कृति को जानने के लिए इन संस्कृतियों को जानना परम आवश्यक है। इन संस्कृतियों को जानने के लिए मुख्यतया दो स्रोत प्रचलित हैं–

१) व्यावहारिक पक्ष

२) सिद्धान्त पक्ष

काल और क्षेत्र के अनुसार व्यावहारिक पक्ष में प्रचुर परिवर्तन होते रहे, किन्तु वाङमय में प्रयुक्त शब्दावलि में किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं हो सका। जब-जब इस प्रकार के साहित्य को समझने में असावधानी की गई है तब-तब उसके अर्थ में परिवर्तन हुए हैं।

किसी भी साहित्य को समझाने के लिए उसमें व्यवहृत शब्दावलि को बड़ी सावधानी से समझना चाहिए। इस दृष्टि से अपभ्रंश वाङमय में जैन संस्कृति से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार हुआ है जिनका अर्थ वैदिक और बौद्ध-संस्कृतियों की अपेक्षा भिन्न है। शब्द का सम्यक् विश्लेषण कर हमें उसमें व्याप्त अर्थात्मा को भली-भांति जानना और पहिचानना चाहिए। ऐसी जानकारी प्राप्त करने के लिए शब्द-साधक को किसी भी पूर्व आग्रह का प्रश्रय नहीं लेना होगा। वह तटस्थ भाव से तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक-शब्दावलि को जानने का प्रयास करता है।

शब्द क्या है ? यह जानना भी आवश्यक है। **बृहत् हिन्दी कोशकार** ने पृष्ठ १३१२ पर शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि आकाश में किसी भी प्रकार से उत्पन्न क्षोभ जो वायु तरंग द्वारा कानों तक जाकर सुनाई पड़े अथवा पड़ सके शब्द कहलाता है। शब्द मूलतया ध्वनि है। ध्वनि दो प्रकार की होती– यथा-

(अ) निरर्थक

(ब) सार्थक

वाद्ययंत्र (मृदंगादि) से उत्पन्न ध्वनि निरर्थक है और जो मनुष्य के वाग्यंत्र से निस्सृत सार्थक ध्वनि है वर्णात्मक ध्वनि कहलाती है। यही व्याकरण में वह ध्वनि-समष्टि है जो एकाकी रूप में अपना अर्थ रखती है। जब शब्द वाक्य के अन्तर्गत प्रयुक्त होकर विभक्त्यन्त रूप धारण करता है तो वह पद कहलाता है। 'बालक' एक शब्द है और जब यह वाक्य के अन्तर्गत 'बालकः पठति' के रूप में प्रयुक्त होता है तो 'बालकः' पद बन जाता है, क्योंकि यह प्रथमा विभक्ति का एक वचन है और व्याकरण के अनुसार इसमें 'सुप्' विभक्ति प्रत्यय है। 'पठति' दूसरा पद है क्योंकि इसमें 'तिङ' प्रत्यय है। आचार्य पाणिनी ने अष्टाध्यायी नामक ग्रंथ में लिखा है–

'सुप्तिङतम् पदम्।'
(अष्टाध्यायी, १।४।१४)

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से शब्द की मान्यता में कालान्तर में परिवर्तन हुआ करता है। शब्द बड़ा स्थूल है और इसमें व्यञ्जित अर्थ उतना ही सूक्ष्म। यद्यपि सूक्ष्म की अभिव्यक्ति स्थूल के माध्यम से सम्भव नहीं होती तथापि जो प्रयत्न हुए हैं उन्हें सावधानी पूर्वक समझने की सर्वथा अपेक्षा रही है। किसी विशिष्ट शास्त्र में जो शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है, उस अर्थ की दृष्टि से उस शब्द को पारिभाषिक शब्द कहते हैं। 'भव' का सर्व-सामान्य अर्थ है संसार किन्तु जैन दर्शन में अथवा जैन शास्त्रों में 'भव' शब्द जन्म से मरण तक की मध्यवर्ती अवधि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः जैन दर्शन में 'भव' पारिभाषिक शब्द है।

यह जानकर आश्चर्य नहीं होगा कि आज अपभ्रंश वाङ्मय में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि से अपरिचित होने के कारण व्यञ्जित अर्थात्मा को समझने-समझाने में बड़ी असावधानी की जा रही है। प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किए बिना कोई भी अर्थ-शास्त्री किसी भी काव्यांश का अर्थ और व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो सकता।

हिन्दी साहित्य पर अपभ्रंश का सीधा प्रभाव पड़ा है। हिन्दी साहित्य के अध्येता के लिए यथार्थ स्वरूप तथा अर्थ के मूलस्रोत को जानने के लिए अपभ्रंश का अध्ययन आवश्यक हो गया है। अपभ्रंश के अध्ययन के लिए उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि का ज्ञान होना परमावश्यक है। आश्चर्य है कि इस दिशा में अभी तक आज के अनुसंधित्सुओं का कोई ध्यान नहीं गया। अभाव के विषय में सुधी अनुसंधित्सुओं का ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रस्तुत लेख लिखने का हमारा मूलाभिप्रेत रहा है। यहाँ हम अपभ्रंश वाङ्मय में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि का संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

आस्रव (मयणपराजय चरिउ, ६)[1] संस्कृत-आस्रव, हिन्दी अर्थ--काय, वचन और मन की जो क्रिया है वह योग कहलाती है। इसी योग को आस्रव कहते हैं। शुभ और अशुभ के भेद से योग के दो भेद होते हैं- यथा

(१) शुभयोग- यह पुण्य कर्म का आस्रव होता है।
(२) अशुभयोग- यह पाप कर्म का आस्रव होता है।

जिस प्रकार तालाब में पानी लाने वाला द्वार पानी आने का कारण होने से 'आस्रव' कहा जाता है, उसी प्रकार आत्मा की यह योग-रूप प्रणाली भी कर्मास्रव का हेतु होने से जितेन्द्र भगवान् के द्वारा आस्रव कही जाती है। [2]

कम्मट्ठ (करकंड चरिउ, संधि ३।२२)[3] संस्कृत- कर्माष्ट, हिन्दी अर्थ-जैन दर्शन में आठ प्रकार के कर्मों का उल्लेख है। इन्हें दो भागों में विभाजित किया गया है- यथा--

१ **घातिया**-जो जीव के अनुजीवी गुणों को घात करने में निमित्त होते हैं वे घातिया कर्म कहलाते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं- यथा--

(क) **ज्ञानावरणी**- वे कर्म-परमाणु जिनसे आत्मा के ज्ञान स्वरूप पर आवरण हो जाता है अर्थात् आत्मा अज्ञानी दिखलाई देता है उसे ज्ञानावरणी कर्म कहते हैं

(ख) **दर्शनावरणी**-वे कर्म परमाणु जो आत्मा के अनन्त दर्शन पर आवरण करते हैं, दर्शनावरणी कर्म कहलाते हैं।

(ग) **मोहनीय**-वे कर्म परमाणु जो आत्मा के शान्त आनंद स्वरूप को विकृत करके उसमें क्रोध, अहंकार आदि कषाय तथा रागद्वेष रूप परिणति उत्पन्न कर देते हैं, मोहनीय कर्म कहलाते हैं।

(घ) **अन्तराय**-वे कर्म परमाणु जो जीव के दान, लाभ, भोग उपभोग और शक्ति के विघ्न में उत्पन्न होते हैं अन्तराय कर्म कहलाते हैं।

२ **अघातिया**-आत्मा के अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त न हों वे अघातिया कर्म कहलाते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं- यथा--

(च) **वेदनीय**-जिनके कारण प्राणी को सुख या दुःख का बोध होता है, वेदनीयकर्म कहलाते हैं।

(छ) **आयु**-जीव अपनी योग्यता से जब नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य या देव शरीर में रुका रहे तब जिस कर्म का उदय हो उसे आयु कर्म कहते हैं।

(झ) नाम-जिस शरीर में जीव हो उस शरीरादि की रचना में जिस कर्म का उदय हो उसे नाम कर्म कहते हैं।

(ज) गोत्र-जीव को उच्च या नीच आचरण वाले कुल में उत्पन्न होने में जिस कर्म का उदय हो उसे गोत्र कर्म कहते हैं।[४]

कसाउ (महापुराण संधि १७।२८)[५] संस्कृत-कषाय, हिन्दी अर्थ-राग-द्वेष का ही अपर नाम कषाय है। जो आत्मा को कसे अर्थात् दुःख दे, उसे ही कषाय कहते हैं। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा में उत्पन्न होने वाला विकार मोह-राग-द्वेष ही कषाय है अथवा जिससे संसार की प्राप्ति हो वही कषाय है। कषाय चार प्रकार की होती है-[६] यथा-

(१) **क्रोध**-गुस्सा करने को क्रोध कहा जाता है। जब हम ऐसा मानते हैं कि इसने मेरा बुरा किया तो आत्मा में क्रोध उत्पन्न होता है।

(२) **मान**-घमण्ड को ही मान कहा जाता है। जब हम यह मान लेते हैं कि दुनियाँ की वस्तुएँ मेरी हैं, मैं इनका स्वामी हूँ, तो मान उत्पन्न होता है।

(३) **माया**-छल-कपट भाव को माया कहा जाता है। मायाचारी जीव के मन में, वाणी में तथा उसके करने अर्थात् व्यवहार में भिन्नता होती है।

(४) **लोभ**-पर-पदार्थ के प्रति उत्पन्न आसक्ति को लोभ कहा जाता है। मिथ्यात्व (उल्टी मान्यता) के कारण पर-पदार्थ या तो इच्छा (अनुकूल) या अनिष्ट (प्रतिकूल) अनुभव होते हैं, मुख्यतया तभी कषाय उत्पन्न होती है।[७]

केवलणाण-(योगसारु, दोहा, ३)[८] संस्कृत-केवलज्ञान, हिन्दी अर्थ-जो किसी बाह्य पदार्थ की सहायता से रहित, आत्म स्वरूप से उत्पन्न हो, आवरण से रहित हो, क्रम रहित हो, घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुआ हो तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला हो, उसे केवल ज्ञान कहते हैं।[९]

तित्थंकर- (पउमचरिउ, सन्धि २१/११)[१०] संस्कृत-तीर्थङ्कर, हिन्दी अर्थ-संसार सागर को स्वयं पार करने तथा दूसरों को पार कराने वाले महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। प्रत्येक कल्प में वे २४ होते हैं। उनके गर्भावतरण, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञानोत्पत्ति व निर्वाण इन पाँच अवसरों पर महान् उत्सव होते हैं जिन्हें पाँच कल्याणक कहते हैं। तीर्थङ्कर बनने के संस्कार षोडश कारण रूप अत्यन्त विशुद्ध भावनाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, उसे तीर्थंकर प्रकृति का बँधना कहते हैं। ऐसे परिणाम केवल मनुष्य भव में और वहाँ भी किसी तीर्थंकर व केवली के पादमूल में ही होना सम्भव है। ऐसे व्यक्ति प्रायः देवगति में ही जाते

हैं। फिर भी यदि पहिले से नरक आयु का बन्ध हुआ हो और पीछे तीर्थंकर प्रकृति बँधे तो वह जीव केवल तीसरे नरक तक ही उत्पन्न होते हैं, उसके अनन्तर भव में वे अवश्य मुक्ति को प्राप्त करते हैं।[११]

णिग्गंथ–(मयण पराजय चरिउ, १७)[१२] संस्कृत–निर्ग्रन्थ, हिन्दी अर्थ–जिस प्रकार जल में लकड़ी से की गई रेखा अप्रकट रहती है, इसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय अप्रकट हो और अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ही जिन्हें केवलज्ञान व केवलदर्शन प्रकट होने वाला है, वे निग्रंथ कहलाते हैं।[१३]

परमेट्ठी (कालस्वरूप कुलक, दो.६)[१४] संस्कृत–परमेष्ठी हिन्दी अर्थ–जो परमपद में तिष्ठता है वह परमेष्ठी कहलाता है।[१५] ये पांच प्रकार के होते हैं-यथा

१) **अरहंत**– जो गृहस्थापना त्यागकर मुनिधर्म अंगीकार कर निज स्वभाव साधन द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय करके अनंत चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनंत सुख, अनंतवीर्य) रूप विराजमान् हुए वे अरहंत कहलाते हैं।

२) **सिद्ध**- जो गृहस्थ अवस्था का त्याग कर, मुनिधर्म साधन द्वारा चार घातिया कर्मों का नाश होने पर अनन्त चतुष्टय प्रकट करके कुछ समय बाद अघातिया कर्मों का नाश होने पर समस्त अन्य द्रव्यों का सम्बन्ध छूट जाने पर पूर्ण मुक्त हो गए हैं, लोक के अग्रभाग में किंचित् न्यून पुरुषाकार विराजमान हो गए हैं, जिनके द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नो कर्म का अभाव होने से समस्त आत्मिक गुण प्रकट हो गए हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।

३) **आचार्य**– जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र की अधिकता से प्रधान पद प्राप्त करके मुनि संघ के नायक हों वे आचार्य कहलाते हैं।

४) **उपाध्याय**– द्वादशांग के पाठी, जो समस्त शास्त्रों का सार आत्मस्वरूप में एकाग्रता कर उसमें लीन रहनेवाले तथा मुनिसंघ को पढ़ाने वाले परमेष्ठी उपाध्याय कहलाते हैं।

५) **साधु**– जो मुनिधर्म के धारक हैं और आत्मस्वभाव को साधते हैं तथा समस्त आरम्भ और अन्तरंग, बहिरंग परिग्रह से परे ज्ञान-ध्यान में लीन रहने वाले परमेष्ठी साधु कहलाते हैं।[१६]

महव्वय– (प्रकीर्ण दोहा १५)[१७] संस्कृत–महाव्रत, हिन्दी अर्थ–हिंसादि पांच पापों से सर्वदेश निवृत्ति होने को महाव्रत कहते हैं। ये पांच प्रकार के कहे गए हैं।[१८] यथा

१) **अहिंसा**– काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणस्थान, कुल, आयु, योनि–इनमें सब जीवों को जानकर कायोत्सर्गादि क्रियाओं में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है।[१९]

२) **सत्य**– ज्ञान और चारित्र की शिक्षा आदि के विषय में धर्मवृद्धि के अभिप्राय से जो निर्दोष वचन कहे जाते हैं वह सत्यधर्म कहलाता है।[२०]

३) **अचौर्य**– दूसरों के स्व का हरण न करने को अचौर्य अथवा अस्तेय कहते है।[२१]

४) **ब्रह्मचर्य**– जननेन्द्रिय, इन्द्रिय समूह और मन की शान्ति को ब्रह्मचर्य कहा जाता है।[२२]

५) **अपरिग्रह**– बाह्य (आत्मा से अतिरिक्त वस्तुओं) में मन का सम्बन्ध न करने को अपरिग्रह कहा जाता है।[२३]

मोक्ख– (पउमचरिउ, सन्धि २२/२)[२४] संस्कृत–मोक्ष हिन्दी अर्थ–सकल कर्मों का नाश हो जाने पर जीव का केवल ज्ञानानन्दमय स्वरूप को प्राप्त होकर, देह के छूट जाने पर ऊर्ध्वगमन स्वभाव के द्वारा ऊपर लोक के अग्रभाग में सदा के लिए स्थित हो जाना मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण कहलाता है।[२५]

रुद्दट्ट- (मयणपराजय चरिउ, १६)[२६] संस्कृत–रेद्रार्त, हिन्दी अर्थ–हिंसा झूठ, चोरी और विषय संरक्षण के समय से युक्त जो ध्यान होता है वह संक्षेप से रौद्र ध्यान कहा गया है [२७] तथा इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग, निदान और वेदना का उदय होने पर जो कषाय से युक्त ध्यान होता है वह संक्षेप से आर्तध्यान कहा गया है।[२८]

सत्तभंगि– (णायकुमार चरिउ, सरस्सइवन्दणु)[२९]-संस्कृत–सप्तभंगी, हिन्दी अर्थ–स्याद्वाद (सापेक्षवाद) में कथन के कितने तरीके, ढंग या भंग हो सकते हैं इसको सप्तभंगी से दर्शाया है। कहने के अधिक से अधिक सात भंग (तरीके) हो सकते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल ब स्वभाव की अपेक्षा से सत् है, वही वस्तु परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव की अपेक्षा से असत् है। घट व पट दो वस्तुएँ हैं, घट अपने घट-द्रव्य की अपेक्षा सत् है। वही घट पर द्रव्य पट की अपेक्षा असत् है (अर्थात् वह घट पट नहीं)। घट द्रव्य अपने क्षेत्र की अपेक्षा सत् है, वही घट-द्रव्य पर क्षेत्र की अपेक्षा असत् है। इस प्रकार सत् असत् या अस्ति, नास्ति दो विपरीत गुण प्रत्येक वस्तु में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं के कारण होते हैं। अस्ति व नास्ति दो पक्ष हुए, इन अस्ति व नास्ति दोनों पक्षों को एक

साथ ले लेने से तीसरा पक्ष अस्ति-नास्ति हुआ। यदि कोई व्यक्ति वस्तु के अस्ति व नास्ति दोनों विरोधी गुणों को एक साथ कहना चाहे तो नहीं कह सकता। इसलिए अवक्तव्य चौथा भंग (ढंग) हुआ। इसप्रकार अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति व अवक्तव्य चार भंग निश्चित होते हैं। ये ही मुख्यभंग हैं। इनमें से प्रत्येक के साथ अवक्तव्य अस्ति-नास्ति अवक्तव्य तीन और भंग हो जाते हैं।

वस्तु अस्ति है, परन्तु उसका अस्तित्व स्वरूप उसके नास्ति स्वरूप के साथ होने के कारण एक साथ नहीं कहा जा सकता। यह अस्ति अवक्तव्य भंग हुआ। इसीप्रकार नास्ति अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ये दो और भंग हो जाते हैं। इस प्रकार

१. स्याद् अस्ति
२. स्याद् नास्ति
६. स्याद् अस्ति-नास्ति
४. स्याद् अवक्तव्य
५. स्याद् अस्ति अवक्तव्य
६. स्याद् नास्ति अवक्तव्य
७. स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य

केवल सात भंग ही होते हैं इससे अधिक भंगों का प्रयोग करने से पुनरुक्त दोष होता है।[३०]

सल्लेहण– (पउमचरिउ, संधि २२-११)[३१] संस्कृत–सल्लेखन, हिन्दी अर्थ–सत् अर्थात् भली प्रकार और लेखना का अर्थ हैं कषाय तथा शरीर का कृश करना। इसप्रकार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) तथा शरीर को भली प्रकार कृश करना सल्लेखना कहलाती है।[३२] सल्लेखना दो प्रकार की होती है, यथा–

१. आभ्यन्तर सल्लेखना– कषायों को कृश करना आभ्यन्तर सल्लेखना कहलाती है।

२. बाह्य सल्लेखना– शरीर को कृश करना बाह्य सल्लेखना कहलाती है।[३३]

सल्लेखना योगीगत है जबकि आत्महत्या भोगीगत। योगी तो अपने प्रत्येक जीवन में शरीर को सेवक बनाकर अन्त समय में सल्लेखना द्वारा उसका त्याग करता हुआ प्रकाश की ओर चला जाता है, और भोगी अर्थात् आत्महत्यारा अपने प्रत्येक जीवन में उसका दास बनकर अन्धकार की ओर चला जाता है।[३४]

३१४, मङ्गल कलश
सर्वोदय नगर, आगरा रोड,
अलीगढ़–२०२००१ (उ. प्र)

—आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

टिप्पणियाँ

१. तह दोस आसव विसय कोह लोय रुद्दट्ट उब्भउ।
मय माणमय सद्ध तह वसण दंड समपाय दिढमउ॥
मयण पराजय चरिउ, ६, हरिदेव।

२. काय वाङ्मनसां कर्मस्मृतो योगः स आस्रवः।
शुभः पुण्यस्य विज्ञेयो विपरीतश्च पाप्मन :॥
सरसः सलिलवाहि द्वारमत्र जनैर्यथा।
तदास्रवण हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते॥
आत्मनोऽपि तथैवैषा जिनैर्योग प्रणालिका।
कर्मास्रवस्य हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते॥
तत्त्वार्थसार, अध्याय ४, श्लोक २–४,
श्री अमृतचन्द्राचार्य।

३. कम्मट्ठ-गंठि-णिट्ठवण-सारु।
तउ चरिवि-सु दुद्धरु काम-मारु॥
करकंड चरिउ, सं. ३।२२, मुणिकणयामर।

४. **जैनधर्म**, पृष्ठ ४०, रतनलाल जैन।

५. दूयय– वयणहिं वड्ढिय- कसाउ।
जंपई सरोसु रायाहि- राउ॥
महापुराण, सन्धि १७।२८, पुष्पदंत।

६. **तत्त्वसार**, श्रीमद् अमृतचन्द्र सूरि, पृष्ठ १२।

७. **बाल बोध पाठमाला** भाग २, पृष्ठ ११,
डॉ. पं. हुकुमचन्द्र भारिल्ल।

८. सुद्ध सचेयण बुध्दु जिणु, केवलणाण सहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु, जई चाहहु सिव लाहु॥
योगसारु, दोहा ३, जोइंदु।

९. असहायं स्वरूपोत्थं निवारणमक्रमम् ।
घातिकर्म क्षयोत्पन्नं केवलं सर्व भावगम् ।।
तत्त्वसार, प्रथम अध्याय ३०,
श्री अमृतचन्द्र सूरि ।

१०. भणइ णराहिउ केत्तिं एण, जगे माणुस-खेत्तु जे अग्गलउ ।
जसु पासिउ तित्थंकरेहिं, सिहतणु लद्धउ केवल उ ।।
पउमचरिउ, संधि २१।११,
स्वयंभू ।

११. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश**, भाग २, पृष्ठ ३७०,
क्षु. जितेन्द्र वर्णी ।

१२. तर मयरद्धएण मोकल्लिय ।
लहु णिग्गंथ पहे संचल्लिय ।।
मयणपराजय चरिउ, १७, हरिदेव ।

१३. उदक दण्डराजिवदनाभिव्यक्तोदयकर्माणः ऊर्ध्वं ।
मुहूर्तादुद्भिद्यमान केवलज्ञान दर्शन यो निर्ग्रन्थाः ।।
सर्वार्थसिद्धि, ६।४६।४६०।१० ।

१४. जसु परमेट्ठि- मंतु मणि निवसई ।
सो दुह-मज्झि कया-वि न पइसइ ।।
कालस्वरूप कुलक, दो. ६, जिनदत्त सूरि ।

१५. परमपदे तिष्ठति इति परमेष्ठी परमात्मा ।
स्वयंभू स्तोत्र टीका, ३९ ।

१६. **बालबोध पाठमाला**, भाग ३, पृष्ठ ७ से १० तक,
डॉ. हुकुमचन्द्र भारिल्ल ।

१७. जेप्पि असेसु कसाय-बलु, देप्पिणु अभउ जयस्सु ।
लेवि महव्वय सिवु लहहिं, झाएविणु तत्तस्सु ।।
प्रकीर्ण, दोहा १५, हेमचन्द्राचार्य ।

१८. हिंसा विरदी सच्चं अदत्र परिवज्जणं च बंभं च ।
संग विमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता ।।

मूलाचार, गाथा सं. ४, अनन्तकीर्ति ग्रंथमाला,
प्रथमसंस्करण १९७६।

१९. कांये दियगुण मग्गण कुला उजोणीसु सव्व जीवाणं।
णाऊण य ठाणा दिसु हिंसादि विवज्जणम हिंसा ॥
मूलाचार, गाथा सं. ५, अनन्तकीर्ति ग्रंथमाला,
प्रथम संस्करण १९७६।

२०. ज्ञान चारित्र शिक्षादौ स धर्मः सुनिगद्यते।
धर्मोपबृंहणार्थं यत्साधु सत्यं तदुच्यते ॥
तत्त्वसार, षष्ठाधिकार। १७ अमृतचन्द्र सूरि।

२१. परोपरोधाकरणमस्तेयम्।
मनोनुशासनम्, पृष्ठ १३७,
आचार्य तुलसी।

२२. वस्त्वीन्द्रियमनसामुपशमो ब्रह्मचर्यम्।
मनोनुशासनम्, पृष्ठ १३७,
आचार्य तुलसी।

२३. बाह्ये मनसोऽनिवेशनम् परिग्रहः।
मनोनुशासनम्, पृष्ठ १३६,
आचार्य तुलसी।

२४. सच्चउ चलु जीविउ कवणु सोक्खु।
तं किज्जइ सिज्झइ जेण मोक्खु ॥
पउमचरिउ, सं. २२।२, स्वयंभू।

२५. **समणसुत्तं**, गाथा ६१४–६२३, पृष्ठ १९५ से १९८।

२६. तह दोस आसव विसय कोह लोय रूद्दट्ट उब्मउ।
मय भाण भय सत्र तह बसण दंड समपाय दिढमउ ॥
मयणपराजय चरिउ, १६, हरिदेव।

२७. हिंसायामनृते स्तेये तथा विषय रक्षणे।
रौद्रं कषाय संयुक्तं ध्यानमुक्त समासतः ॥
तत्त्वार्थसार, सप्तमाधिकार, श्लोक ६७,
अमृतचन्द्र सूरि।

२८. प्रियभ्रंशेऽप्रिय प्राप्तौ निदाने वेदनोदये ।
आर्तंकषाय संयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ।।
तत्त्वार्थसार, सप्तमाधिकार, ३६,
अमृतचंद्र सूरि ।

२९. चउदह पुव्विल्ल दुवाल संगि ।
जिणवयण विणिग्गय सत्तभंगि ।।
णायकुमार चरिउ, सरस्सइवन्दणु,
पुष्पदंत ।

३०. **जैनधर्म**, पृष्ठ १६२, रतनलाल जैन

३१. जिण- वन्दण वारापेक्ख करणु ।
सल्लेहण कालु समाहि- मरणु ।।
पउमचरिउ, संधि २२।११,
स्वयंभू ।

३२. **जैनधर्म**, पृष्ठ ९२, रतनलाल जैन ।

३३. संलेहणा य दुविहा, अब्भितरिया य बाहिराचेव ।
अब्भितरिया कसाए, बाहिरिया हो इय सरीरे ।।
समणसुत्तं, मोक्षमार्ग,
पृष्ठ १८० ।

३४. **श्री वल्लभ शताब्दी स्मारिका**, पृष्ठ १७८,

समाज-विज्ञान की प्रणालीगत समस्याएँ

समाज-दर्शन के अनेकों कार्यों में से एक कार्य समाज-विज्ञान की विषय-सामग्री और उसकी प्रणालियों पर विचार करना भी है। समाज-विज्ञान का प्रणाली-विज्ञान (Methodology) दर्शनशास्त्र की ही एक शाखा है। समाज-दर्शन का प्राथमिक-कार्य (First-order activity) स्वयं समाज के विषय में मीमांसा करना है। उसका द्वितीय श्रेणी का कार्य समाज के वैज्ञानिक अध्ययन की मीमांसा है। अपने इस द्वितीय श्रेणी के कार्य में समाज-दर्शन, समाज-विज्ञान के दर्शन में परिणत हो जाता है। प्रस्तुत निबंध में समाज-दर्शन के इसी द्वितीय श्रेणी के कार्य पर हम विचार करेंगे।

प्राकृतिक-विज्ञानों की अपूर्व सफलता से प्रभावित होकर समाज-वैज्ञानिकों ने आरम्भ में प्राकृतिक विज्ञानों की प्रणाली को ज्यों का त्यों अपनाने का प्रयत्न किया। और केवल इस प्रणाली को ही 'वैज्ञानिक-प्रणाली' का नाम दिया गया। जो विषय इस प्रणाली को अपनाता है, वही 'विज्ञान' है– धीरे-धीरे ऐसी धारणा का निर्माण किया गया; और इस प्रकार, कई समाज-वैज्ञानिक, प्रकृति-विज्ञान और समाज-विज्ञान की प्रणालियों में एक मूलभूत एकता देखने लगे। मनोविज्ञान के व्यवहारवादी संप्रदाय ने इस प्रकार का मत सर्वप्रथम व्यक्त किया। वॉटसन और पैवलॉव इस मत के प्रणेता कहे जा सकते हैं। वॉटसन ने मनोविज्ञान को 'विज्ञान' का दर्जा देने के अपने उत्साही प्रयत्न में, उसके क्षेत्र से समस्त ऐसी दार्शनिक-मानसिक पदावली और तत्त्वों का बहिष्कार किया जो वस्तुनिष्ठ प्रेक्षण के लिए अनुपलब्ध और अगम्य हैं। वॉटसन के इसी कार्य को बाद में ऑल्पोर्ट और स्किनर जैसे मनोवैज्ञानिकों ने आगे बढ़ाया।

व्यवहारवादियों के अनुसार मनोविज्ञान की विषय सामग्री व्यक्ति का 'व्यवहार' है। वस्तुनिष्ठ रूप से केवल 'व्यवहार' ही प्रेक्षणात्मक है। व्यवहार को अपनी विषय सामग्री स्वीकार करके ही किसी भी समाज-विज्ञान को 'विज्ञान' का दर्जा प्राप्त हो सकता है। अप्रेक्षणात्मक तत्त्वों का वैज्ञानिक ज्ञान संभव ही नहीं है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ५, अङ्क ४, सितम्बर, १९८४

वैज्ञानिक-पद्धति, इस प्रकार मूलभूत रूप से प्रेक्षण पर आधारित है। उसका तर्क 'आगमनात्मक' है। तथ्यों के धैर्यवान् निरीक्षण से ही वैज्ञानिक-खोज संभव है। तथ्य अपनी व्याख्या स्वयं ही 'सुझा' देते हैं। विशेष तथ्यों के सूक्ष्म और धीर निरीक्षण द्वारा वैज्ञानिक सहज ही उन तथ्यों में एक प्रारूप पा लेता है। इसीसे सामान्य-नियमों का निर्माण होता है। आगमनात्मक प्रक्रिया के लिए वैज्ञानिक को केवल धैर्य से अपने विषय से संबंधित निरीक्षण मात्र करते रहना है। हाँ, शर्त यह है कि इस प्रकार का निरीक्षण पूर्णतः पूर्वाग्रहों से मुक्त हो। वैज्ञानिक के लिए यह ज़रूरी है कि वह अपनी आत्मनिष्ठ धारणाओं से अपने निरीक्षण को दूषित न होने दे। वैज्ञानिक-प्रेक्षण स्पष्टतः वस्तुनिष्ठ प्रेक्षण है। आत्मनिष्ठ होते ही वह अवैज्ञानिक हो जाता है। एक वैज्ञानिक की दृष्टि अनिवार्यतः एक बाह्य-अवलोकन की दृष्टि है। वह स्वयं को विषय से बाहर रखकर उसका निरीक्षण करता है। विषय का एक भाग बन जाने पर प्रेक्षण की वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जाती है। इतना ही नहीं। एक विषयनिष्ठ वैज्ञानिक उस व्यक्ति की अपनी बात सुनने के लिए भी उत्सुक नहीं रहता जिसके व्यवहार का वह प्रेक्षण कर रहा होता है। उसे डर रहता है कि कदाचित् व्यक्ति की बात पूर्वाग्रहों से युक्त हो, आत्मनिष्ठता से रंजित हो।

प्राकृतिक-विज्ञानों में प्रयोग होने वाली वैज्ञानिक-विधि की एक और विशेषता यह है कि वह प्रेक्षणात्मक तथ्यों की व्याख्या केवल कारणों द्वारा करती है। ये कारण घटनाओं को मानो आगे ढ़केलते हैं। कारणों और उनसे संपन्न घटनाओं का संबंध यांत्रिक है। वैज्ञानिक विधि में इस प्रकार मानवी 'प्रयोजनों' के लिए– जो मनुष्य को कर्म के लिए प्रेरित करते हैं– कोई स्थान नहीं है। वैज्ञानिक पद्धति केवल 'कारणों' की खोज में ही संतुष्ट है। वस्तुनिष्ठ और प्रेक्षणात्मक होने के कारण वह व्यवहार के 'मूल्यों' और 'अर्थों' पर ध्यान नहीं देती। वह क्या चीज है जो व्यक्ति के कर्म को 'सार्थक' करती है, उसे 'मूल्यवान्' बनाती है– ऐसे प्रश्न अवैज्ञानिक घोषित कर, विषय-क्षेत्र के बाहर कर दिए जाते हैं।

यहाँ स्किनर का उदाहरण दिया जा सकता है। उनके अनुसार व्यक्ति एक ऐसा जीव है जिसका व्यवहार पूर्णतः अपने परिवेश से प्राप्त उत्तेजनाओं द्वारा संपादित होता है। इस प्रकार समस्त व्यवहार की व्याख्या उत्तेजनाओं और प्रतिक्रियाओं के यांत्रिक अनुबंधन द्वारा की गई है। मनुष्य के सारे व्यवहार का भवन धीरे-धीरे इसी अनुबंधन की एक-एक ईंट द्वारा निर्मित होता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति केवल उन्हीं प्रक्रियाओं की पुनरावृत्ति करता है जिनकी परिवेश

द्वारा पुष्टि की जाती है। जिन्हें वातावरण से पुनः बल नहीं मिल पाता वे क्रियाएँ त्याग दी जाती हैं। एक प्रक्रिया की पुनरावृत्ति कितनी बार होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि पुनर्बलन कितनी बार हुआ है। साथ ही अन्य बातें भी, जैसे जीव की भौतिक दशा तथा वर्तमान परिस्थिति की किसी पूर्व परिस्थिति से समानता जिसमें कभी पुनर्बलन मिला हो, आदि, प्रक्रिया के पुनः घटने के लिए 'कारण' हो सकती हैं। ये सभी घटक प्रेक्षणात्मक हैं और इनका मात्रागत निरूपण किया जा सकता है। व्यवहार के अनुबंधन को नापा जा सकता है। उसे संख्याओं और रेखाओं द्वारा अंकित और चित्रित किया जा सकता है। समाज विज्ञान का यह दृष्टिकोण मानव व्यक्ति के व्यवहार को अन्य जीवों के व्यवहार से गुणात्मक रूप से भिन्न नहीं मानता। स्किनर के अनुसार मनुष्य के व्यवहार की व्याख्या अन्य प्राणियों के आचरण की व्याख्या से भिन्न है ही नहीं। स्किनर, वस्तुतः, अपने तकनीकी और प्रायोगिक कौशल द्वारा अन्य प्राणियों तक को मनुष्य की ही भांति व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता प्रतीत होता है। उसका यह पूर्ण विश्वास है कि मानव व्यवहार के एक वैज्ञानिक सिद्धांत को कर्ता के रूप में व्यक्ति की अवधारणा का परित्याग कर देना होगा। यह ठीक है कि स्किनर के अभिनव चिंतन में जीव की– जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित है– आत्मोपक्रम (initiative) की क्षमता को एक सीमित मात्रा में स्वीकार किया गया है किन्तु यह ध्यातव्य है कि स्किनर आंतर-मनोवैज्ञानिक कारणों (हेतुओं, प्रयोजनों के अर्थ में) की धारणा को– 'आंतरिक मनुष्य' को– पूर्णतः अस्वीकार करता है।[1]

स्किनर और अन्य व्यवहारवादियों द्वारा अपने मत की जबरदस्त हिमायत के बावजूद, समाज वैज्ञानिकों की अभिनव विचारणा वैज्ञानिक पद्धति को उसके सीमित अर्थ में (जिस अर्थ में उसे भौतिक विज्ञानों द्वारा स्वीकारा गया है) समाज विज्ञान की विषय सामग्री के अध्ययन के लिए उपयुक्त नहीं मानती। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह उसे पूर्णतः अस्वीकार करती है। किन्तु आम-सहमति यह है कि इस प्रणाली द्वारा हम समाज-विज्ञानों की वास्तविक विषय-सामग्री को समझने में तथा उसकी पूर्ण व्याख्या करने में पूरी तरह समर्थ नहीं हैं। ऐसा क्यों है, इसे हम निम्नलिखित शीर्षकों में प्रस्तुत करेंगे–

१. **व्यवहार और कर्म** (Behaviour and Action) क्योंकि वैज्ञानिक प्रणाली के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि वह प्रेक्षण पर आधारित हो, अतः समाज विज्ञान से वे सभी प्रत्यय निष्कासित कर दिए गए हैं जो प्रेक्षण की परिधि में नहीं आते। यह इसी दृष्टि का परिणाम है कि समाज विज्ञान की

विषय सामग्री को केवल व्यक्ति का 'व्यवहार' माना गया है। किन्तु यदि हम थोड़ा भी सुविचार करें तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि केवल प्रेक्षणात्मक व्यवहार द्वारा व्यक्ति के संपूर्ण 'कर्म' को समझना लगभग असंभव है। मान लीजिए एक व्यक्ति किसी दूसरे को कुछ अनुमुद्रित सिक्के दे रहा है। इस देने की क्रिया को हम प्रेक्षणात्मक व्यवहार कह सकते हैं। किन्तु, क्या हम इस व्यवहार के प्रेक्षण-मात्र से 'व्यक्ति क्या कर रहा है?' इसका अनुमान लगा सकते हैं? हो सकता है व्यक्ति उन सिक्कों को पौलिश करने के लिए दे रहा हो, पुरस्कार के लिए मैडल बनवाने के लिए दे रहा हो, या शायद उनसे नए, किन्तु खोटे-सिक्के बनवाने की उसकी मंत्रणा हो, क्या कहा जा सकता है? दूसरे शब्दों में व्यवहार का अर्थ क्या है, यह व्यवहार के प्रेक्षण मात्र से नहीं लगाया जा सकता। व्यक्ति क्या कर रहा है, यह हम तभी पता लगा सकते हैं जब उसके व्यवहार के पीछे 'हेतु' या 'प्रयोजन' का पता लग सके। और इसे प्रेक्षण द्वारा नहीं बताया जा सकता।

अतः, 'व्यवहार' और 'कर्म' में भेद करना आवश्यक है। यह भेद 'जीव' और 'मानव-व्यक्ति' के भेद के समानान्तर है। जीव केवल व्यवहार करता है, और उस व्यवहार को 'कारणों' की पदावली में व्याख्यायित किया जा सकता है। जीव होने के नाते मनुष्य भी व्यवहार करता है और उसके व्यवहार के कारण भी खोजे जा सकते हैं। किन्तु इन कारणों की खोज से व्यवहार की अर्थवत्ता की व्याख्या नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति के 'कर्म' की व्याख्या नहीं हो सकती। कर्म की संपूर्ण व्याख्या के लिए हमें कारणों के अतिरिक्त हेतुओं पर भी ध्यान देना होगा। साथ ही, व्यक्ति को केवल जीव-मात्र न मान कर, उसे अन्य जीवों से भिन्न मानना होगा। उसे कर्ता के रूप में स्वीकार करना होगा। कर्ता द्वारा किया गया कर्म केवल अंध-अनुबंधन द्वारा प्राप्त 'व्यवहार' मात्र नहीं है, वह प्रयोजनों द्वारा प्रेरित भी है। सामाजिक संवृत्ति के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि वैज्ञानिक की दृष्टि कर्म-संदर्भित हो। कर्म के संदर्भ में ही सामाजिक संवृत्तियों का सही परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जा सकता है। कर्म के लिए एक ऐसी सामाजिक परिस्थिति की आवश्यकता है जिसमें कम-से-कम दो व्यक्ति हों– जिनमें से एक कर्ता भी है। इसके अतिरिक्त, जहाँ एक ओर 'भौतिक वस्तुएँ,' अवस्थाओं और उपकरणों के रूप में, कर्म का 'कारण' बनती हैं वहीं दूसरी ओर कर्म की अर्थवत्ता समझने के लिए 'सामाजिक वस्तुएँ'– जैसे व्यक्ति के सांस्कृतिक मूल्य, उसके हेतु और प्रयोजन आदि– भी आवश्यक हैं। कर्म इस प्रकार कर्ता और उसकी परिस्थिति के बीच वह प्रक्रिया है जिसका स्वयं व्यक्ति के लिए– अथवा समूहगत स्थिति में, समूह के सदस्यों के

लिए– एक प्रेरक महत्त्व अथवा 'अर्थ' है। कर्ता के इस 'कर्म' को हमें जीव के 'व्यवहार' से अलग करना होगा क्योंकि जीव के व्यवहार को उसके हेतुओं से न समझ कर, हम केवल भौतिक-रासायनिक 'कारणों' द्वारा व्याख्यायित करते हैं।[2]

२. **कारण और हेतु** (Causes and Reasons) : हम किसी भी व्यक्ति की क्रिया को 'व्यवहार' के रूप में भी देख सकते हैं और 'कर्म' के रूप में भी। व्यवहार को व्याख्यायित करने के लिए हमें केवल उसे संपन्न कराने वाले भौतिक-रासायनिक 'कारणों' को जानना होता है; किन्तु, जैसा कि ऊपर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, जब हम एक क्रिया को 'कर्म' के रूप में देखते हैं तो कारणगत व्याख्या, उसकी अर्थवत्ता को स्पष्ट कर पाने में असमर्थ हो जाती है। तब हमें 'हेतुओं' पर ध्यान देना होता है। 'हेतु' भौतिक-रासायनिक अवस्थाएँ न होकर कर्ता के सामाजिक और सांस्कृतिक 'मूल्यों' और उसके 'प्रेरकों' से संबंधित होते हैं। अतः 'हेतु' के लिए कभी-कभी 'प्रेरक' (motive) अथवा 'साध्य' (end) अथवा 'अभिप्राय' (intention) आदि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

'कारण' और 'हेतु' का भेद 'व्यवहार' और 'कर्म' के भेद के समानान्तर है। जिस प्रकार कई वैज्ञानिकों ने भौतिक-विज्ञान की प्रणाली को अपनाने के अपने उत्साह में 'व्यवहार' और 'कर्म' में कोई भेद नहीं किया, और समस्त 'कर्म' को 'व्यवहार' के रूप में देखने का प्रयत्न किया, उसी प्रकार कभी-कभी 'हेतुओं' को भी 'कारणों' में परिणत करने की कोशिश की गई है।[3] किन्तु ये प्रयत्न सफल नहीं हो सके हैं। हेतुओं को कारणों में परिणत करने की सारी कोशिश और परिश्रम के पीछे भी, वैज्ञानिक एक सुनिश्चित हेतु से संचालित होता है और वह है मनुष्य को विज्ञान की सीमित परिधि में व्याख्यायित करने के लिए उसका कृति-संकल्प होना!

सामान्य भाषा में हम प्रायः 'कारण' और 'हेतु'– दोनों ही पदों का समानार्थक रूप में प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ आत्महत्या का 'कारण' हम 'जल कर मर जाना' भी बता सकते हैं और 'प्रेम में असफलता' भी। किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से ये दोनों ही तथाकथित 'कारण' एक ही वर्ग के अंतर्गत नहीं रखे जा सकते। आग लगने से जल मरना आत्महत्या का 'कारण' हो सकता है, किन्तु प्रेम में असफल होना उसका 'कारण' न होकर, 'हेतु' है। इसी प्रकार दूसरी ओर, हम 'हेतु' शब्द का भी प्रायः सुनिश्चित अर्थ में प्रयोग नहीं करते। स्पष्ट ही यदि कोई व्यक्ति, किसी 'हेतु' से काम करता है तो उसे हेतु की प्राप्ति

के प्रति सचेत होना चाहिए। किन्तु हम प्रायः 'अचेतन हेतुओं' अथवा 'प्रेरकों' की चर्चा भी करते हैं। कभी-कभी तो हम कर्ता के चेतन प्रेरकों को अमान्य कर उसके कार्य की व्याख्या उसके उन अचेतन प्रेरकों से करने की कोशिश करते हैं जिनके संबंध में वह कुछ जानता ही नहीं! इसका एकमात्र कारण यह है कि जब हम अचेतन हेतुओं की बात करते हैं, तो उनके संबंध में हम ऐसी कल्पना कर लेते हैं कि मानो वे उन हेतुओं के प्रतिरूप हों जो चेतन हैं। हम सोचते हैं कि यदि व्यक्ति अपने अचेतन प्रेरकों के प्रति सचेत होता, तो भी वह उद्देश्य को ऐषणीय मान कर अपना व्यवहार उसी प्रकार करता। किन्तु पारिभाषिक अर्थ में अचेतन हेतु वस्तुतः 'हेतु' कहे ही नहीं जा सकते। रायल ने तो व्यक्ति के स्थाई प्रेरकों– जैसे महत्त्वाकांक्षा– को भी केवल स्वभाव (disposition) मात्र माना है। उसके अनुसार किसी व्यक्ति का महत्त्वाकांक्षी होना ऐसा ही है मानों यह शतरंज का एक ऐसा खिलाड़ी है जो खेलने के लिए बाध्य है। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि 'हेतु' शब्द को भी हम अपनी साधारण-भाषा में एक से अधिक अर्थ में प्रयुक्त करते हैं।

'कारण' और 'हेतु' में प्रायः एक सहज भेद यह किया गया है कि हेतु जब कि हमारे 'समक्ष' (*a fronte*) होता है, 'कारण' हमारे सामने न होकर 'पृष्ठीय' (*a tergo*) है। 'कारण' हमें 'धक्का देते' प्रतीत होते हैं ताकि व्यवहार संपन्न हो सके। 'हेतु' कर्म के लिए हमें 'खींचते से लगते' हैं। एक छात्र यदि महाविद्यालय सिर्फ इसलिए आता है कि उसके माँ-बाप उसे घर से बाहर कॉलेज के लिए ठेल देते हैं, तो यह उसके कॉलेज आने का 'कारण' हो सकता है। किन्तु कॉलेज आने की व्याख्या, विद्यार्थी के समक्ष जो 'हेतु' है– उदाहरण के लिए उसके शिक्षित होने की इच्छा– उससे भी की जा सकती है। इसी भेद को एक दूसरे प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है। 'कारण' और 'क्रिया' दो भिन्न घटनाएँ हैं जो समय क्रम में अलग-अलग घटती प्रतीत होती हैं। कारण 'पहले' होता है और क्रिया 'बाद' में। किन्तु यही बात 'हेतु' और 'कर्म' के लिए सही नहीं है। वे अलग-अलग नहीं घटते। 'कर्म' से 'हेतु' तक मानों एक-सूत्रता है। हेतु स्वयं कर्म में ही निहित है। स्वयं कर्म के विवरण का हेतु एक अंग है। हेतु का संदर्भ कर्म से 'बाहर' न होकर उसके अंतर्गत है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि 'कारण' का स्वभाव सदैव ही सार्विक होता है। जब हम किसी विशेष घटना के कारण का उल्लेख करते हैं, तो यह धारणा निहित रहती है कि इस प्रकार की सभी घटनाओं का यही कारण हो। किन्तु हेतु से प्रेरित सभी व्यक्ति एक ही प्रकार से कार्य करेंगे अथवा एक ही प्रकार के कार्य, एक ही तरह के हेतुओं से प्रेरित होते हैं– जरूरी नहीं है। वस्तुतः

हेतु से प्रेरित होकर कर्म करने में हम किसी न किसी नियम का अनुसरण करते हैं– या, कम से कम उसे पालन करने का प्रयत्न तो करते ही हैं। उदाहरण के लिय जब हम अपनी मित्रता के हेतु किसी व्यक्ति की सहायता करते हैं तो मानों इस प्रकार की सहायता मित्रता– निभाने का एक नियम है जिसका यदि हम उल्लंघन कर देते तो मित्रता का कोई अर्थ ही न रहता। यों, नियमबद्धता कारणगत व्याख्या में भी पाई जाती है क्योंकि स्वतंत्र प्रक्रियाओं में एक समान-वृत्ति की खोज से ही कारण का पता लगाया जाता है और उन्हें तब हम नियम-बद्ध कर पाते हैं। किन्तु हेतु के विषय में नियमानुसरण का जो संदर्भ है वह स्वतंत्र व्यवहारों में समान वृत्ति से न होकर किसी भी एक स्वतंत्र कर्म के संपन्न करने में नियम-पालन से है।

एक तर्क यह दिया जा सकता है कि 'कारण' और 'हेतु' के उपर्युक्त सभी भेदों में अंतर तो स्पष्ट है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि 'हेतु', 'कर्म' की व्याख्या है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि 'हेतु' की धारणा 'कर्म' का अधिक विस्तृत वर्णन करती है। जिस प्रकार 'कारण' और 'क्रिया' दो क्रमशः पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती, दो पृथक् पृथक् प्रेक्षणात्मक घटनाएँ हैं, उस तरह 'हेतु' को हम 'कर्म' से पृथक् नहीं समझ सकते।[४] स्पष्ट ही इस प्रकार का आग्रह वैज्ञानिक-पद्धति का केवल वह सीमित दृष्टिकोण है जो केवल प्रेक्षणात्मक व्यवहार, अर्थात् केवल ध्वनि और गति-व्याख्या (the noise and movement type of explanation), तक ही अपने को सीमित रखता है। किन्तु एक उदार वैज्ञानिक, व्याख्या के लिए, हेतुओं की खोज सार्थक समझता है। और यहाँ कदाचित् एक दार्शनिक उसकी सहायता कर सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दार्शनिक-कर्म में हेतुओं को खोजने की कोई विशेष प्रकार की क्षमता है जो एक वैज्ञानिक के पास नहीं है। आशय केवल यह है कि एक दार्शनिक संकुचित अर्थ में वैज्ञानिक प्रणाली संबंधी कठिनाइयों को स्पष्ट कर सामाजिक संवृत्ति की व्याख्या के लिए 'हेतुओं' पर भी बल देता है।

यहाँ एक सार्थक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि यदि किसी कर्म के वास्तविक हेतुओं को खोज भी लिया जाए, तो इसे कर्म की वैज्ञानिक व्याख्या भला कैसे कहा जा सकता है? वैज्ञानिक नियम अनिवार्यतः एक सामान्य नियम होता है जो व्यवहार की सामान्य व्याख्या करता है न कि किसी व्यक्ति के विशेष व्यवहार की कोई विशेष व्याख्या। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक की खोज कर्म-विशेष की व्याख्या न होकर प्रारूप-कर्मों (typical actions) प्रारूप हेतुओं द्वारा व्याख्या करना है। वे हेतु जिनके द्वारा प्रायः लोग

परस्पर अंतर्क्रिया करते हैं प्रारूप-हेतुओं की भांति प्रस्तुत किए जा सकते हैं और उनसे संचालित होने वाले कार्य और कर्ता प्रारूप कार्य और कर्ताओं की तरह समझे जा सकते हैं। इस प्रकार पुरोहितों, सैनिकों, किसानों, मजदूरों आदि वर्गों के व्यक्तियों के कर्मों और हेतुओं में एक सुनिश्चित समरूपता देखी जा सकती है जिनके आधार पर वैज्ञानिक किसी वर्ग के प्रारूप-हेतुओं का सामान्यीकरण कर प्रारूप कर्म को व्याख्या कर सकता है।

३. **बाहरी और भीतरी दृष्टि** (Outside and Inside view) : सामाजिक संवृत्ति की व्याख्या के लिए कारणों के अतिरिक्त हेतुओं पर बल दिया जाना एक भीतरी दृष्टि की अपेक्षा रखता है जिसकी जबरदस्त कमी संकुचित अर्थ में समझी गई वैज्ञानिक प्रणाली में प्रायः दृष्टिगोचर होती है। कहा जाता है कि वैज्ञानिक की दृष्टि वस्तुनिष्ठ दृष्टि है जो किसी भी वैज्ञानिक को अपने पूर्वाग्रहों से सायास मुक्त रखती है। वैज्ञानिक की इसी वस्तुनिष्ठता' को कभी-कभी उसकी ' बाहरी दृष्टि ' कहा गया है। अर्थात्, वैज्ञानिक केवल व्यवहार का प्रेक्षण मात्र करता है और इस प्रकार के प्रेक्षण से व्यवहार के नियमों की खोज करता है। उसका संबंध, कर्ता के उस व्यवहार को संपन्न करने में क्या हेतु हो सकते हैं, यह जानना नहीं है। वैज्ञानिक की मान्यता है कि शायद इन्हें जानने की आवश्यकता भी नहीं है। उदाहरण के लिए आधुनिक अर्थशास्त्र केवल मांग और पूर्ति के गणित से ही किसी भी वस्तु का मूल्य और लागत समझाने का प्रयत्न करता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह निरर्थक रूप से इसके लिए व्यक्तियों की आत्मनिष्ठ आवश्यकताओं और धारणाओं की खोज करता फिरे। वैज्ञानिक का प्रमुख काम समाज में व्यक्तियों के व्यवहार का प्रेक्षण कर सामान्य नियमों की खोज करना है-इसके लिए, उसे केवल इस दृष्टि से काम करना है कि वह यह समझे कि व्यक्तियों का व्यवहार एक वैज्ञानिक लिए क्या अर्थ रखता है। यही बाहरी दृष्टि है। यह सामाजिक संवृत्ति को केवल बाहर से, वस्तुनिष्ठ रूप से देखती है। इसमें वैज्ञानिक को यह जानने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि व्यवहार संपन्न किए जाने में स्वयं कर्ता का क्या अर्थ रहा होगा। उसके क्या प्रयोजन, हेतु रहे होंगें।

किन्तु किसी भी सामाजिक-कर्म की पूर्ण व्याख्या के लिए व्यवहार के प्रेक्षण के अतिरिक्त, और इस प्रकार उसके कारणों को जानने के अतिरिक्त उस प्रेरकों पर भी ध्यान दिए जाने की आवश्यकता होती है जिनके उद्देश को समक्ष रखकर कर्म किया गया है। एल्फ्रेड शुट्ज़ ने इसलिए कारण-प्रेरकों और उद्देश्य प्रेरकों ('because motives' and 'in-order-to-motives')में एक महत्त्वपूर्ण भेद किया

है।[5] उद्देश्य-प्रेरकों को जानने के लिए यह आवश्यक है कि वैज्ञानिक का दृष्टिकोण मात्र 'बाहरी' न होकर भीतरी हो, अर्थात् वह कर्ता की आत्मनिष्ठ दृष्टि की भी व्याख्या करे और इस प्रकार उद्देश्य-प्रेरकों को अपनी व्याख्या में उचित स्थान दे। व्यवहारवादियों ने उद्देश्य-प्रेरकों को पूर्णतः तिरस्कृत किया है और नतीजा यह है कि वे, विशेषकर बुद्धि और बुद्धिमान् व्यवहार को, केवल अनुबंधन के द्वारा व्याख्यायित करने में पूरी तरह असफल रहे हैं।

भीतरी दृष्टि का अर्थ वैज्ञानिक द्वारा केवल कर्ता की आत्मनिष्ठता की ओर आवश्यक ध्यान देना ही नहीं है इसका एक आयाम सामाजिक संवृत्ति में स्वयं वैज्ञानिक की भागीदारी से भी है। जब तक वैज्ञानिक उस सामाजिक-संवृत्ति में जिसकी वह व्याख्या करना चाहता है स्वयं भागीदार नहीं होता, उसके मूल्यों और पूर्वमान्यताओं से परिचित नहीं होता वह उसका विश्लेषण और विवेचना नहीं कर सकता। वैज्ञानिक के लिए विशेषकर एक समाज-वैज्ञानिक के लिए, यह जरूरी नहीं है कि वह पूर्णतः तटस्थ और वस्तुनिष्ठ बना रहे। सच तो यह है कि तटस्थ और वस्तुनिष्ठ बने रहने के लिए भी तार्किक रूप से पहले अंतर्ग्रस्त होना जरूरी है। यदि किसी संवृत्ति में हम अंतर्ग्रस्त नहीं होंगे तो उससे तटस्थ रहने की बात ही नहीं उठ सकती। वस्तुतः प्रत्येक समाज-वैज्ञानिक अपने वैज्ञानिक-कर्म में सायास रूप से तटस्थ केवल इसलिए रह सकता है कि वह अपने को सामाजिक संवृत्ति में सम्मिलित पाता है। यदि ऐसा न हो तो सामाजिक संवृत्ति को समझना ही उसके लिए नामुमकिन हो जावे।

कल्पना कीजिए कि एक समाज वैज्ञानिक किसी एक ऐसे आदिवासी क्षेत्र में भेज दिया जाता है कि जहां लोगों से उसका पूर्ण अपरिचय है-वह न तो उनकी भाषा जानता है और न ही उनके आचरण से परिचित है। वह केवल उनकी आवाज़ भर सुन सकता है और उनका आचरण देख भर सकता है। क्या इस सुनने और देखने से इस विशुद्ध वस्तुनिष्ठ प्रेक्षण से वह उनकी किसी सामाजिक संवृत्ति की व्याख्या कर पाने में सफल हो सकता है? यह लगभग असंभव है। हम यदि किसी अन्य संस्कृति और समाज को अपनी संस्कृति और समाज के चश्मे से देखते हैं तो उसकी सही व्याख्या कभी नहीं कर सकते। इसके लिए जिस समाज की हम व्याख्या करना चाहते हैं, उसमें हमारी भीतरी दृष्टि होना अत्यंत आवश्यक है। यह भीतरी दृष्टि केवल सहानुभूति पूर्ण समझ नहीं है। इसका अर्थ समाज के संप्रत्ययों और उसकी मान्यताओं को समझना है और उनमें एक प्रकार से सहभागी होना भी है। हर समाज का एक संप्रत्ययात्मक संयंत्र (conceptual apparatus) होता है जिसके कार्य को समझे बिना, उस समाज

की व्याख्या असंभव है। वैज्ञानिक की तटस्थता का अर्थ उसका पूर्वग्रहों से मुक्त होना अवश्य है किन्तु इसके लिए ही, और इसके अतिरिक्त, अध्ययन किए जाने वाले समाज की पूर्व मान्यताओं में सहभागिता होना, उनमें भीतरी दृष्टि होना भी ज़रूरी है। केवल बाहरी और सतही दृष्टि वास्तविक व्याख्या के लिए अनुपयुक्त है।

४. **आगमन और निगमन :** वैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन की प्रणाली में प्रायः आगमनात्मक तर्क-पद्धति को अपनाया है। उनकी धारणा है कि सिद्धान्तों और नियमों का निर्धारण विशेष घटनाओं के विधिवत् प्रेक्षण द्वारा सामान्यीकरण की प्रक्रिया से किया जाता है। तत्पश्चात् किसी एक वैज्ञानिक पद्धति द्वारा ही उन नियमों को 'संस्थापित' और कभी कभी 'सिद्ध' तक किया जा सकता है। वैज्ञानिक की खोज की प्रक्रिया प्रमुख रूप से इस प्रकार, 'विशेष' से 'सामान्य' की ओर अग्रसर होती है। इसीको आगमनात्मक प्रणाली कहा गया है।

निगमन-प्रणाली ठीक इसकी विरोधी दिशा ग्रहण करती है। वह सामान्य से विशेष की ओर अग्रसर है। इस प्रणाली में हम किन्हीं सामान्य नियमों से विशेष घटनाओं को फलित करते हैं। ये नियम हमें पहले से प्राप्त होते हैं।

निगमन और आगमन का विरोध मोटे तौर पर ज्ञानमीमांसा में प्रतिष्ठित तर्कबुद्धिवाद और इन्द्रियानुभववाद के समानांतर है। डेकार्ट निगमन प्रणाली को स्वीकार करने वाला एक बुद्धिवादी दार्शनिक था। इसके ठीक विपरीत बेकन से आरंभ होने वाली अनुभववाद की अंग्रेज़ी परंपरा थी जिसने आगमनात्मक पद्धति को अपनाया और नियमों की खोज में प्रेक्षणात्मक घटनाओं पर बल दिया। किन्तु यह ध्यातव्य है कि समकालीन चिंतन में पुनः निगमन-प्रणाली को प्रतिष्ठित करने के सक्रिय प्रयत्न हो रहे हैं और कभी-कभी तो यह संदेह तक किया गया है कि क्या वास्तव में कोई आगमन प्रणाली जैसी तर्क-पद्धति हो भी सकती है?[६] पॉपर के अनुसार विज्ञान के लिए– जिसमें समाज-विज्ञान भी सम्मिलित है– एक मात्र प्राप्य पद्धति निगमन ही है जिसका अनुसरण कर हम अपने सिद्धांतों को प्रयोगात्मक प्रेक्षण द्वारा खंडित करते हैं! स्पष्ट ही हमारे सिद्धांत और स्वीकृत सामान्य नियम स्वयं-प्रमाणित और न खंडित होने वाले नहीं है। डेकार्ट की तरह ही पॉपर भी सार्विक-प्रत्ययों की स्वयंसिद्धता को स्वीकार नहीं करता, वह उन्हें अनिवार्यतः खंडनीय मानता है। सार्विक-नियम, जब तक वे खंडित नहीं होते, केवल अंतरिम और कामचलाऊ नियम हैं [यहाँ हम डीवी का अर्थक्रियावादी प्रभाव स्पष्ट देख सकते हैं]। हमारा अनुभव, अथवा सायास निर्मित प्रयोगात्मक प्रेक्षण उन्हें कभी भी खंडित कर सकता है। सामान्य नियमों से विशेष घटनाओं

का अनुमान लगाना और फिर जब वे घटनाएँ वास्तव में हमारे अनुभव अथवा प्रयोग में प्राप्त न हों तो नियमों को अस्वीकार करना, स्पष्ट ही निगमन-प्रणाली है जो सामान्य से विशेष की ओर अग्रसर होती है। पॉपर की इस विशिष्ट निगमन-पद्धति को कभी-कभी 'प्राक्कल्पना-निगमन' (hypothetico-deductive) अथवा 'अटकल और खंडन' (conjecture-refutation) विधि कहा गया है। अर्थात् इस पद्धति में सामान्य नियम को केवल प्राक्कल्पना अथवा अटकल के रूप में स्वीकार किया गया है और प्रयोगात्मक प्रेक्षण का उद्देश्य उसे सप्रयास खंडित करना बताया गया है।

किसी भी सिद्धांत को पुष्ट करना तो बहुत सरल है। इसके लिए केवल कुछ ऐसे प्रेक्षणों की आवश्यकता है जो सिद्धांत के अनुरूप हों। जब वैज्ञानिक अपने-अपने सिद्धांतों की पुष्टि के लिए सामग्री जुटाने लगते हैं तो इससे एक वैज्ञानिक अराजकता-सी फैलती है और यह समझ में नहीं आता कि कौन-सा सिद्धांत सही है। उदाहरणार्थ आत्महत्या की व्याख्या के लिए एक वैज्ञानिक द्वारा सामाजिक विघटन का अध्ययन करना आवश्यक माना जा सकता है तो दूसरे के अनुसार व्यक्तियों के व्यक्तित्व का अध्ययन जरूरी है। और दोनों ही सिद्धांतों की पुष्टि के लिए तर्क जुटाए जा सकते हैं। अतः पॉपर सिद्धांतों की पुष्टि के लिए वैज्ञानिक-प्रयत्नों की बजाय, सिद्धांतों के खंडन के लिए आमंत्रित करता है। स्पष्ट ही उसका यह मत सामान्य वैज्ञानिकों के मत से– जो आगमनात्मक पद्धति अपनाते हैं और जो अपने सिद्धांतों की, सम्बद्ध-घटनाओं को एकत्रित कर, पुष्टि करना चाहते हैं– मेल नहीं खाता।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि आखिर एक वैज्ञानिक सामान्य नियमों को, जिनको वैज्ञानिक प्रेक्षण द्वारा पॉपर खंडित करने के लिए आमंत्रित करता है, प्राप्त कैसे कर पाता है? अभी तक ऐसा समझा जाता था कि इन नियमों की खोज का एकमात्र तरीका आगमन-प्रणाली है। पॉपर के लिए यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसके अनुसार सामान्य नियम को हम कैसे भी प्राप्त कर सकते हैं– अंदाज़ से, अटकल से, अंतःप्रज्ञा से, स्वयं अपने अनुभव के सामान्यीकरण से अथवा कदाचित् आगमन द्वारा भी। किन्तु, उसके अनुसार, आगमन प्रणाली से– अर्थात् केवल घटनाओं के तटस्थ और वस्तुनिष्ठ निरीक्षण से सामान्य नियम की खोज करना न केवल अत्यंत उबाऊ और नीरस हो सकता है वरन् लगभग असंभव-सा है। पॉपर का कहना है कि यदि वैज्ञानिक-पद्धति का आदर्श यह है कि एक वैज्ञानिक तथ्यों का केवल धैर्यपूर्वक प्रेक्षण करे ताकि तथ्य स्वयं किसी प्रारूप को सुझा सकें (और इस प्रकार किसी नियम की खोज हो सकें)

तो इस धैर्यवान् प्रतीक्षा का हो सकता है कोई अंत ही न हो। वस्तुस्थिति तो यह है कि इस प्रकार की तटस्थता बरतने का दावा करना स्वयं अपने को धोका देना है। हर वैज्ञानिक के मन में, कितनी ही अस्पष्ट क्यों न हो, यह धारणा ज़रूर होती है कि आखिर तथ्यों के जंगल में वह खोज क्या रहा है? कोई भी वैज्ञानिक तथ्यों का प्रेक्षण अपने मन की साफ स्लेट से आरंभ नहीं करता। तथ्यों का निरीक्षण करते समय उसके पास कोई विचार ज़रूर रहता है जो उसके प्रेक्षण को दिशा प्रदान करता है। वस्तुतः आगमन केवल अटकल लगाने का ही नाम है और इसलिए इसे वैज्ञानिक विधि या तार्किक-प्रणाली नहीं कहा जा सकता। आगमन को, सच तो यह है, नियमबद्ध किया ही नहीं जा सकता। वह वैज्ञानिक जो किसी विशिष्ट समस्या से जूझता हुआ किन्हीं तथ्यों पर ध्यान देता है, उसे मानो अचानक एक 'सूझ' प्राप्त हो जाती है। वह समस्या को हल करने की दिशा में एक अनुमान लगाता है, एक प्राक्कल्पना करता है। इस सारी की सारी प्रक्रिया में मुद्दे की बात यह होती है कि क्या वैज्ञानिक की सूझ अथवा प्राक्कल्पना समस्या का हल करने में सफल हो सकती है? इसके लिए परीक्षण की ज़रूरत है और यह परीक्षण केवल निगमन की प्रणाली से हो सकता है। अतः पॉपर निष्कर्ष निकालता है कि वैज्ञानिक के पास केवल एक ही प्रकार की प्रणाली है- निगमन-पद्धति। आगमन की तथाकथित विधि वस्तुतः तार्किक विधि है ही नहीं। वह केवल अटकल है। अटकल से कोई वैज्ञानिक संतुष्ट नहीं हो सकता। वैज्ञानिक की वृत्ति अपने सिद्धांत के बारे में यदि सदैव संदेहपूर्ण रहती है, तभी विज्ञान की प्रगति संभव है। अतः प्रयोग और प्रेक्षण का उद्देश्य 'सिद्धांत' को सिद्ध करना न होकर उसे 'खंडित' करना है। यदि यह खंडित नहीं हो पाता तो बहुत अच्छा, अन्यथा नए सिद्धांत के निर्धारण की दिशा में पुनः प्रयत्न करना वैज्ञानिक का धर्म है। पॉपर के अनुसार वैज्ञानिक विधि का प्रारूप 'अटकल और खंडन' है।

पॉपर द्वारा आगमन विधि की आलोचना कई अर्थों में बड़ी महत्त्वपूर्ण है। एक तो वह कुछ समाज वैज्ञानिकों की इस संकुचित धारणा को निरस्त कर देती है कि समाज की व्याख्या केवल प्रेक्षणात्मक तथ्यों के एकत्रीकरण और परीक्षण द्वारा संभव है। दूसरे वह वैज्ञानिक को उस हताश परिस्थिति से बचाती है जो तथ्यों के धैर्यवान् प्रेक्षण द्वारा निर्मित होती है। और कभी-कभी बिना परिणाम के समाप्त हो जाती है। तथ्य स्वयं कोई नियम सुझाएँ, इसके लिए अनिश्चित समय तक प्रतीक्षा करना, एक वैज्ञानिक के लिए असंभव है। नियम वैज्ञानिक के सक्रिय चिंतन के प्रतिफल हैं, वे उसकी अपनी 'सूझ' हैं- वे तथ्यों द्वारा सुझाए नहीं जाते।

किन्तु महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद, ऐसा लगता है, कि पॉपर द्वारा आगमन का खंडन कदाचित् आवश्यकता से अधिक उत्साहपूर्ण है। इसमें संदेह नहीं कि वैज्ञानिक के मन में नियम से संबधित एक 'अटकल' होती है, किन्तु ध्यातव्य यह है कि यह अटकल सभी को प्राप्त नहीं हो जाती। इसके लिए तथ्यों और घटनाओं पर सुविचारित प्रेक्षण आवश्यक है। आगमन अच्छा भी हो सकता है और घटिया भी। और यदि ऐसा है तो अच्छे आगमन के लिए कुछ नियम अवश्य होने चाहिए। आगमन को पूरी तरह निरस्त करना, या उसको एक तर्क-प्रणाली के रूप में स्वीकार न करना, गलत होगा।

अतिशयोक्ति पूर्ण होने के बावजूद भी पॉपर का मत कम-से-कम यह तो रेखांकित करता ही है कि वैज्ञानिक प्रणाली की वह संकुचित धारणा जो निगमन पद्धति को पूर्णतः अस्वीकार करती है और जिसमें ऐसी सुविचारित धारणाओं के लिए कोई स्थान नहीं है जो प्रेक्षण द्वारा प्राप्त न हुई हों, केवल समाज विज्ञानों के लिए ही नहीं वरन् प्राकृतिक विज्ञानों के लिए भी हानिकारक हो सकती है।

५. नियमितता और नियमन (Regularity and Regulation) वैज्ञानिकों की खोज नियमों की खोज है। इसमे कोई दो मत नहीं हो सकते। प्राकृतिक विज्ञानों में हम प्रकृति के नियमों की खोज करते हैं, समाज विज्ञान में हम सामाजिक नियमों की खोज करते हैं। जिस प्रकार प्रकृति अपने व्यवहार में एक नियमितता दर्शाती है, उसी तरह व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार में भी एक व्यवस्था और नियमबद्धता देखी जा सकती है। समाज-वैज्ञानिक की रुचि प्रायः इसी नियम-निष्ठता पर संकेंद्रित रहती है।

व्यवहार नियम का अनुसरण करता है, अर्थात् वह घटित होने में एक नियमितता दर्शाता है—वह नियमित रूप से घटित होता है। किन्तु यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि व्यवहार में केवल नियमितता ढूंढ लेना व्यक्ति के सामाजिक कार्य को पूर्णतः व्याख्यायित नहीं कर सकता। इससे हम यह कभी भी पूरी तरह नहीं जान सकते कि व्यक्ति क्या कर रहा है? ऐसा इसलिए कि व्यवहार की नियमितता मात्र देखकर, इसका अंदाज़ नहीं लगाया जा सकता कि इस नियमितता के पीछे कौनसा 'नियम' पालन किया जा रहा है। उदाहरण के लिए हम एक व्यक्ति को प्रतिदिन प्रातः ६ से ७ तक सड़क पर चलते हुए देख सकते हैं, किन्तु व्यवहार की इस नियमितता को देखकर ही हम यह बता सकते हैं कि व्यक्ति कर क्या रहा है—हो सकता है वह स्वास्थ्य-लाभ के लिए प्रातः रोज टहलने का नियम बरत रहा हो, या किसी बीमार मित्र से मिलने का कोई

वादा निभा रहा हो, या कदाचित् इन दोनों नियमों का साथ-साथ अनुसरण कर रहा हो, या शायद कोई तीसरी ही बात हो! अतः समाज वैज्ञानिक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह सामाजिक व्यवहार को केवल नियमितताओं के रूप में ही न देखें बल्कि उसे नियामिक करने वाले नियमों के रूप में भी समझे। सामाजिक नियम वस्तुतः नियमितताओं और नियमनों के संमिश्रण है।[७] उनमें नियमन का कुछ तत्त्व, अथवा यों कहें मानकीय तत्त्व (normative element) भी विद्यमान रहता है। इसके प्रति उदासीनता दर्शाना व्यक्ति के 'कार्य' की पूर्ण व्याख्या के लिए अस्वीकृति है।

स्पष्ट ही 'नियमितता' और 'नियमन' का उपर्युक्त भेद दो भिन्न प्रकार के नियमों के बीच का अंतर न होकर कदाचित् 'नियमों और 'मूल्यों' का अंतर है। नियम व्यवहार को यदि नियमित बनाते हैं, मूल्य उसे 'नियमन' प्रदान करते हैं।

प्रस्तुत निबंध में व्यवहार और कर्म, कारण और हेतु, बाहरी और भीतरी दृष्टि आगमन और निगमन तथा नियमितता और नियमन का सूक्ष्म भेद करके यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि समाज विज्ञान के संकुचित अर्थ में वैज्ञानिक प्रणाली जो केवल **बाहरी प्रेक्षण और आगमन** की विधि से **व्यवहार की नियमितताओं** की खोज करके **कारणों** को ढूंढती है, एक अपरप्राप्त प्रणाली है। इसके द्वारा हम समाज में व्यक्ति के 'कार्य' को समझने में असमर्थ रहते हैं। कार्य की समझ के लिए, 'हेतुओं' और नियमनों (norms) की खोज भी आवश्यक है जिसके लिए 'भीतरी दृष्टि' चाहिए। यह भीतरी दृष्टि आगमन द्वारा प्राप्त नहीं होती किन्तु इसमें सामाजिक व्यवहार को नियमित किया जा सकता है।

—सुरेन्द्र वर्मा

– प्राचार्य, शासकीय महाविद्यालय,
– जावरा (रतलाम, म. प्र.)
४५६२२६.

टिप्पणियाँ

१. देखिए, Skinner, B. F; *Science and Human Behaviour*, Macmillan 1953

२. Parson, Talcott; *The Social System*; Americana 1972, pp. 4–5, 543

३. Ayer, A. J; "Man as a Subject for Science" in *Philosophy, Politics and Society* (III Series) Ed. by Laswell and Reineman, Oxford, 1967, pp. ११-२४

४. वही

५. Alfred Schutz 'The Social World and One Theory of Social Action" in *Philosophical Problems of Social Seiences* ed. by David Braybrooke, Macmillan, 1965, pp. 64

६. देखिए, Popper, K.; *Conjectures and Refutation* (1965) and *The Logic of Scientific Disconry* (1959)

७. Mcpherson; *Social Philosophy*; Von Norstrand Reinhold Company, London, 1970, pp. 39–40

क्या दर्शन अनिवार्यतः भौतिकवादी होता है ?

एम. एन. राय के विचारों की समीक्षा

यूं तो मानवेन्द्र नाथ राय की मुख्य देन उनका 'मौलिक प्रजातंत्र' या 'नवमानवता वाद' का सिद्धान्त है जो आधुनिक मानव के समक्ष उत्पन्न संकट (Crisis) को दूर करने तथा उसे सुख सफलता की ओर अनवरत रूप से अग्रसर करने के लिए एक सामाजिक-राजनैतिक- दर्शन है। पर यह एक अत्यन्त ही मौलिक, वैज्ञानिक और भौतिकवादी-दर्शन है। अतः अपनी स्थापना के लिए एक आधुनिक एवं उच्च कोटि के भौतिकवादी-तत्त्व मीमांसा की अपेक्षा रखता है। अतः राय, हालांकि तत्त्वमीमांसा का प्रयोग तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अर्थ में करते हैं और इसे व्यर्थ बताते हैं फिर भी भौतिकवादी तत्त्वमीमांसा की स्थापना किसी न किसी रूप में उनके लिए अपरहार्य हो जाती है।

दूसरे, श्री राय एक उग्र यथार्थवादी एवं व्यवहारिक चिंतक हैं। उनके लिए दर्शन का काम परम सत्ता की खोज में बौद्धिक उड़ाने भरना नहीं बल्कि व्यवहारिक दुनियां की समस्याओं का समाधान है– अपने संपूर्ण अस्तित्व से विश्व के साथ क्रिया प्रतिक्रिया करना एवं उसे अपने अनुरूप बदल डालना है। श्री राय यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि अध्यात्मवादी दर्शन बौद्धिक दृष्टिकोण से असंगत एवं असंतोषप्रद तो है ही चूंकि यह अज्ञात एवं अज्ञेय रहस्यमय सत्ता की खोज एवं स्थापना करना चाहता है जो असंगत बात है। साथ ही ऐसा बौद्धिक व्यायाम विश्व में व्यावहारिक सफलता के लिए भी व्यर्थ एवं घातक है। भौतिकवाद ही एक मात्र संगत, व्यावहारिक एवं उपयोगी दर्शन है तथा यही हमें वर्तमान संकट से उभार सकता है। श्री राय के मुताबिक यह एक भ्रांत धारणा है कि भौतिकवाद की चरम परिणति खाओ पियो मौज उड़ाओ और 'Might is right' के नैतिक दर्शन में होती है जो अव्यवस्था, संघर्ष एवं विनाश को जन्म देता है। वस्तुतः भौतिकवाद नैतिकता की जितनी वैज्ञानिक, सर्वमान्य एवं उच्च व्याख्या कर सकता

है वह अध्यात्मवाद में कभी संभव नहीं। श्री राय के ईन्हीं दावों को हम समझने एवं मूल्यांकित करने का प्रयास प्रस्तुत लेख के अन्तर्गत करेगें।

– १ –

एम. एन. राय दर्शन के इस पारंपरिक परिभाषा से पूर्णतः सहमत हैं कि दर्शन विश्व का संश्लेषणात्मक (Synthetic) ज्ञान है। पर ऐसा दर्शन भौतिकवादी ही हो सकता है क्योंकि आनुभविक जगत् के ज्ञान या उसकी व्याख्या की निम्न शर्तें हो जाती हैं।

१. **प्रकृतिवाद** (Naturalism) :– हम जिस चीज की व्याख्या ढूंढ़ने चले हैं उसे वास्तविक एवं अस्तित्ववान् मानें क्योंकि ज्ञान के लिए सत्यता एवं सत्ता के लिए संज्ञेयता आवश्यक शर्त है। किसी बात को असत् मानना एवं उसके ज्ञान प्राप्ति की बात करना परस्पर विरोधी बातें हैं।

अध्यात्मवादी दार्शनिक भी जब ज्ञेय जगत् की व्याख्या करने चलते हैं तो उसे सत् मानकर ही चलते हैं पर इस क्रम में वे ऐसी बौद्धिक उड़ानें भरते हैं कि व्याख्येय विषय यानी सत्य माने गये विश्व को ही असत्, भ्रम या स्वप्न करार कर देते हैं और इस प्रकार के अपने मूल उदेश्य यानी विश्व की व्याख्या को ही समाप्त कर देते हैं। श्री राय के शब्दों में "An enquiry which denies the very existence of the object to be enquired, is bound to end in the idle dreams and hopeless confusion." ज्ञान की पहली शर्त है विश्व में जो स्पष्टतः भौतिक है उसे सत्य मानकर चलना, जो भौतिकवाद में ही संभव है।

दूसरे, अध्यात्मवादी दर्शन विश्व के मूल में परम सत्ता की खोज करता है तथा उसके आलोक में विश्व की सत्यता-असत्यता की जाँच करता है या फिर विश्व के निहित सामंजस्य या उद्देश्य के आधार पर चेतन आधार की खोज करता है। अब परम सत्य, सामंजस्य आदि बातें सिवा मान्यता के और कुछ भी नहीं हो सकती और वह भी ऐसी मान्यता जिसका अर्थ स्वतः स्पष्ट नहीं है। अब भला अस्पष्ट अनुभवातीत एवं असत्यापनीय मान्यताओं के आधार पर शुरू की गयी खोज में स्पष्टता कहां से जा सकती है ? यही कारण है कि अध्यात्मवाद सत्ता का हमें कोई भी स्पष्ट ज्ञान नहीं दे सकता है। राय इसे तत्त्वमीसांसा कहते हैं, दर्शन नहीं। सही दर्शन जो भौतिकवाद है कभी किसी ऐसी मान्यता या पूर्वकल्पना को अन्वेषण के लिए आधार नहीं बनाया करता जो स्पष्ट आनुभविक ज्ञान की सीमा के बाहर हो, क्योंकि ज्ञान की प्रक्रिया सदा सरल एनं स्पष्ट अनुभविक तथ्य से

जटिल एवं अस्पष्ट तथ्य की ओर अग्रसर होती है। हम सरल स्पष्ट एवं ज्ञात के आधार पर जटिल, अस्पष्ट एवं अज्ञात को समझने की चेष्टा करते हैं।

तीसरे, अध्यात्मवाद ज्ञेय भौतिक जगत् के मूल में एक अज्ञात अज्ञेय, कल्पित आध्यात्मिक सत्ता को स्वीकारता है तथा उसी के आलोक में विश्व की व्याख्या करना चाहता है। अब यदि सत्ता अज्ञात एवं अज्ञेय हो तथा उसी की चेतन इच्छा से विश्व संचालित होता हो तो दर्शन मात्र आस्था का केन्द्र हो जायगा। मनुष्य को मात्र आस्था रखनी चाहिए कि विश्व ऐसा है चूंकि ईश्वर ने इसे ऐसा ही बनाया है। कोई भी प्रश्न पूछना व्यर्थ है चूंकि अव्याख्येय परम सत्ता के आधार पर कोई भी व्याख्या ढूंढ़ना मात्र आत्म वंचना है। इस प्रकार दर्शन का ही अन्त हो जाता है क्योंकि दर्शन ज्ञान है आस्था नहीं।

२. **नियतिवाद** (Determinism) :– ज्ञान की दूसरी शर्त है यदि कोई अनहोनी घटना भी हमारे सामने उपस्थित हो तो उसके ज्ञान, 'उसकी व्याख्या' के लिए यह मानना आवश्यक है कि वह अटूट नियम के अन्तर्गत यानी पर्याप्त कारण के उपस्थित होने पर ही घटती है। किसी दैव सत्ता की मनमानी इच्छा से नहीं।

३. **एकवाद** (Monism) :– ज्ञान की तीसरी मान्यता है कि ज्ञाता एवं ज्ञेय से निर्मित यह संपूर्ण जगत् स्वरूपतः एकात्मक है, वरना ज्ञान असंभव है। जो अज्ञात है वह हमारे लिए कोई अर्थ नहीं रखता– सत्ता के लिए उसकी संज्ञेयता आवश्यक है। अतः जो सत् है वह अनुभवगम्य और बुद्धिगम्य है और जो अनुभवगम्य एवं बुद्धिगम्य है वह अनिवार्यतः प्रकृति का एक अंग है। इस प्रकार एकवादी प्रकृतिवाद स्थापित होता है। यदि कल Extra-sensory percepttion या भूत, प्रेत, आदि की भी सत्ता प्रमाणित हो जाय तो भी प्रमाणित होने के लिए उसे अनुभवगम्य एवं प्राकृतिक होना होगा।

इस प्रकार प्रकृतिवाद (Naturalism) नियतिवाद एवं एकवाद दर्शन की मूलभूत मान्यता है जो भौतिकवाद की भी मान्यता है; अतः दर्शन अनिवार्यतः भौतिकवादी ही हो सकता है।

फिर अगर ध्यान से देखा जाय तो ये ही मान्यताएँ विज्ञान की भी हैं चूंकि विज्ञान भी जब किसी असाधारण घटना को देखता है तो उसे वास्तविक 'प्राकृतिक' मानते हुए, अनिवार्य कारण-कार्य नियम के अंतर्गत संचालित मानकर एवं उसके कारण को भी प्राकृतिक घटना ही मानते हुए उसमें अनुसंधान करता है। इस प्रकार जो मान्यताएँ एवं पद्धति दर्शन की है वही विज्ञान की भी है। अतः वास्तविक

दार्शनिक खोज सदा वैज्ञानिक होती है आध्यात्मिक नहीं। फर्क मात्र इतना है कि जहाँ वैज्ञानिक तथ्यों का अध्ययन उसे खंडों या पहलुओं में बांट कर करता है दर्शन सत्य को उसकी समग्रता या संपूर्णता में जानने की चेष्टा करता है। इसी कारण बहुधा दर्शन को विज्ञानों का विज्ञान भी कहा गया है।

श्री राय की विचारधारा को स्पष्टता पूर्वक समझने के लिए हम यह प्रश्न उठा सकते हैं कि अध्यात्मवाद भी जगत् को मिथ्या मानकर प्रारम्भ नहीं करता; वह भी जगत् की व्याख्या के लिए तथ्यों का बौद्धिक विश्लेषण ही करता है। पर इस क्रम में वह पाता है कि जगत् आत्मव्याघातक है। अतः वह सत्य नहीं हो सकता। कारणता, द्रव्य, गुण, गति- स्थिति आदि समस्त धारणाएं आत्मव्याघातक अतः असत् हैं। अब ऐसी खोज को हम अवैज्ञानिक मात्र इसलिए नहीं कह सकते चूंकि यह अनुभव का खंडन करती है। चूंकि हम रेल की पटरियों को मिलते देखते हैं या पानी में छड़ी को टेढ़ी देखते हैं तो व्याघात के आधार पर बुद्धि के प्रयोग ही इन अनुभवों को मिथ्या या भ्रम करार देते हैं। पर इस तर्क को अवैज्ञानिक नहीं कहा जाता। बल्कि इसी पर विज्ञान आधारित होता है। उसी प्रकार जब हम तर्क के ही आधार पर समस्त अनुभवों को आत्मव्याघातक या मिथ्या कहते हैं और इस आधार पर व्याघातरहित बुद्ध्यातीत परमार्थ सत्ता को अनुमित करते हैं तो इसे अवैज्ञानिक भला कैसे कहा जा सकता है ?

श्री राय का कहना है कि बुद्धि एक आनुभविक तथ्य " जैसे पानी में छड़ी का टेढ़ी दीखना " के खंडण के आधार पर दूसरे आनभुविक बौद्धिक तथ्य को ही स्थापित कर सकती है, भला अनुभवातीत सत्ता की स्थापना का दावा कैसे कर सकती है ?

कांट, शंकर आदि का मत है कि बुद्धि निरपेक्ष सत्ता को स्थापित नहीं करती, बल्कि आनुभविक जगत् का खंडण करके एवं अनुभव एवं बुद्धि की सीमा को दिखलाकर पारमार्थिक आध्यात्मिक सत्ता में आस्था के मार्ग को प्रशस्त करती है।

पर श्री राय भिन्न मत रखते हैं। उनका कहना है कि दर्शन का संबध ज्ञान से है, धर्म की तरह आस्था से नहीं।

दूसरी, समस्या यह है कि आधुनिक विज्ञान भी भौतिक परमाणुओं को असिद्ध करता है तथा उनकी जगह ऊर्जा को प्रतिष्ठित करता है। प्रेत, पुनर्जन्म आदि पर भी वैज्ञानिक खोज आगे बढ़ रहा है। अगर यह सब प्रमाणित हो जाय तो क्या भौतिकवाद की आधार-शिला ही धराशायी नहीं हो जाती ?

श्री राय का मत है कि कुछ भी प्रमाणित होने के लिए उसे एक आनुभविक एवं बौद्धिक तथ्य होना होगा और भौतिकवाद का संबंध मात्र इस बात से है कि सत्ता आनुभविक एवं बौद्धिक तथ्य हो उसके स्वरूप के संबंध में बौद्धिक खोज के साथ साथ मत हमेशा बदलते रहते हैं -- इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। भौतिकवाद "Critical" होता है एवं नयी खोज को अंगीकार करने को तत्पर रहता है।

— २ —

प्रकृति के रहस्य एवं तज्जन्य प्राकृतिक आयंदाएं मानव मस्तिष्क को सदा आकृष्ट करते हैं, जिससे दर्शन, तत्त्वमीमांसा धर्म आदि की उत्पत्ति होती है। अब रहस्य सदा आत्मव्याघातक प्रतीत होता है जैसा कि जादू आदि में हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। अध्यात्मवादी दार्शनिक इन रहस्यों के सामने घुटने टेक देता है और या तो उसकी व्याख्या के लिए रहस्यमय जादुई शक्ति, देवी, देवताओं आदि को मानने लगता है जो बाहर से उन्हें संचालित करते हैं या फिर विश्व को आत्मव्याघातक यानी स्वप्न या मिथ्या मानने लगता है और अस्तित्व के किसी अतिबौद्धिक, अनुभवातीत, आध्यात्मिक आयाम की कल्पना करता है। पर ऐसी कल्पनाएं मानव हृदय को कुछ समय के लिए तसल्ली और आनंद Amusement भले ही दे सकती हैं पर न उसके ज्ञान पिपासा को शांत कर सकती है, न ही उसकी समस्याओं का समाधान ही दे सकती हैं। मानव का बौद्धिक विकास प्राकृतिक रहस्यों की व्याख्या प्रकृति में ही खोजने के लिए बाध्य करता है, ताकि वह उनपर विजय पा सके और अपनी सुविधा में इन्हें हस्तेमाल कर सके। यह काम सही दर्शन यानी भौतिकवाद का है। ज्यों ज्यों ज्ञान की प्रगति होती है व्यक्ति पहले रहस्यमय और असंगत दीखने वाली घटनाओं के मूल कार्य रहे (Explaining principle) कारण-कार्य नियम को ढूंढ़ निकालता है जिससे रहस्य की पर्याप्त व्याख्या हो जाती है और अब किसी दैवी शक्ति या आध्यात्मिक तत्त्व को मानना व्यर्थ लगने लगता है, हालांकि ज्ञान की बुद्धि के साथ-साथ अज्ञान के भी नये नये आयाम हमारे सामने आते रहते हैं (The more we know the more we feel ignorant) और इसी आधार पर आज के आध्यात्मवादी यह दिखलाना चाहते हैं कि विश्व अज्ञात और अज्ञेय यानी आध्यात्मिक है पर हमें दर्शन के इतिहास से सबक लेना चाहिए और यह समझना चाहिए कि हर रहस्य और अज्ञात कल व्याख्येय एवं ज्ञात होने की संभावना रखता है। हालांकि विश्व अनंत है और मानव बुद्धि सीमित अतः हम विश्व को पूर्णतः कभी नहीं जान सकते और इस कारण ज्ञान की खोज अनंत है; पर विश्व स्वरूपतः अज्ञेय एवं आध्यात्मिक नहीं बल्कि ज्ञेय एवं बौद्धिक है। श्री राय दर्शन के इतिहास पर एक विहंगम

दृष्टि डालते हुए यह दिखलाते हैं कि किस प्रकार अध्यात्मवादी प्रवृत्तियां हमारी अज्ञानता का सूचक हैं या फिर ज्ञान के अनवरत विकास में खुद मोल ली गयी शाश्वत रुकावट और इसके विपरीत भौतिकवाद सतत विकसित होने वाला अनंत ज्ञान का दर्शन।

इतिहास-प्रारंभिक मनुष्यों ने सूरज, चाँद, बादल, अग्नि आदि को देखा था, किसी सर्वशक्तिमान् देवता को पूजने की प्रेरणा से नहीं और न ही किसी आध्यात्मिक भूख से प्रेरित होकर बल्कि वर्षा, प्रकाश-तत्त्व आदि की उम्मीद में, ताकि उनसे जीवन को बेहतर बनाया जा सके। उनका दृष्टिकोण पूर्णतः व्यावहारिक उपयोगितावादी एवं कारण-कार्य नियम पर आधारित था। ज्ञान की प्रगति बहुत ही कम होने के कारण वे उनका सही कारण नहीं ढूंढ़ पाये और चूंकि उनका विचार अपनी सत्ता से ही सीमित था अतः उन्होंने उनके कारणों की कल्पना अपने ही रूप में की, हालांकि उसे अत्यधिक शक्तिशाली प्रभावपूर्ण आदि माना। इस प्रकार प्रारंभिक धर्म का विकास हुआ जो उस समय का दर्शन एवं विज्ञान भी था। कारण-कार्य नियम को ही आधार बनाकर उन शक्तियों को प्रमाणित करने के लिए विभिन्न तंत्र, पूजा, जादू आदि का भी विकास हुआ और इन कर्मों को करने वाला एक पुजारी वर्ग भी सामने आया। इस प्रकार अविकसित होते हुए भी प्रारंभिक धर्म, अध्यात्मवाद की तरह ज्ञान की खोज का समापन नहीं बल्कि कारणों की खोज की दिशा में ही प्रगति था।

पर जब तक व्यक्ति प्राकृतिक आपदाओं का दास रहता है, उसी पर उसका जीवन-मरण पूर्णतः आधारित रहता है, उस डर और संत्राश की अवस्था में वह प्रकृति के प्रति पूर्णतः वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं अपना सकता। धीरे धीरे ग्रीस में समृद्ध व्यापारी वर्ग का उद्भव हुआ जिन्होंने अपने धन के कारण प्राकृतिक विपत्तियों से अपने आप को काफी हद तक मुक्त कर लिया और उनके अंतर्गत प्रकृति की व्याख्या प्रकृति में ही ढूंढ़ने का प्रयास प्रारंभ हुआ। हम देखते हैं कि आयोनिक दार्शनिकों का उद्भव ग्रीस में ही इन्हीं समृद्ध वर्ग के बीच हुआ और उनका प्रयास पूर्णतः भौतिकवादी है। उस समय के समस्त दार्शनिक सर्वोत्तम गणितज्ञ, वैज्ञानिक आदि भी थे।

प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या प्रकृति के ही माध्यम से करने से और देवी देवताओं पर से आस्था घटने से पुजारी वर्ग की पूछ घटती थी। अतः पुजारी वर्ग भौतिकवाद का हमेशा से विरोधी रहा और रहस्यमय सत्ता को हमेशा से

प्रतिष्ठत करने की चेष्टा करता रहा। दोनों में लड़ाई चलती रही। फलत: कई दार्शनिकों को धर्म के खिलाफ बोलने के अपराध में कष्ट झेलना पड़ा और कुछ को जान से हाथ भी धोना पड़ा।

फिर भी ग्रीस में संपन्न वर्ग, जो काफी हद तक पुजारियों के प्रभाव से मुक्त थे, ने धार्मिक अंधविश्वासों के खिलाफ अपनी लड़ाई जारी रखी जबकि अन्य स्थानों पर जहां ऐसे वर्ग का अभाव था धर्म का ही बोलबाला रहा। पैथागोरस-एवं एनेक्जागोरस में हम भौतिकवाद को तत्त्वमीमांसात्मक चिंतन में बदलते हुए देखते हैं, कारण यह कि एनेक्जागोरस ने माना कि संवेदन ही ज्ञान का एक मात्र कारण है, पर इन्द्रियानुभव हमें बहुधा गलत ज्ञान देता है जिसमें सुधार बुद्धि करती है। पर यह बुद्धि क्या है? विज्ञान के समुचित विकास के अभाव में इसकी व्याख्या वे नहीं कर सके जिसके चलते उन्होंने बुद्धि को रहस्यमय सत्ता बना दिया और अध्यात्मवाद की ओर झुकते चले गये। चेतना या बुद्धि के उद्भव एवं स्वरूप के वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव में बाद का अधिकांश दर्शन द्वैतवादी तत्त्वमीमांसा के बौद्धिक उड़ान भरता रहा। इस अज्ञान से फायदा उठाकर कुछ पादरियों ने तो बुद्धि या विचार को ही एक मात्र सत्ता बना डाला। पर बाद में धीरे-धीरे जीव-विज्ञान के उदय के साथ साथ डार्विन तथा बाद के वैज्ञानिकों ने जीवन तथा बुद्धि के उद्भव एवं विकास की समस्या का वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत किया जिससे उन्हें आध्यात्मिक तत्त्व मानना अब अनावश्यक हो गया।

भारत में भी हम यूरोप की तरह ही प्रारंभिक धर्म का उद्भव वैदिक अनेकेश्वर वाद के रूप में पाते हैं। प्रारंभिक धर्म की आस्थाओं के प्रति असंतोष उपनिषदों में देखी जा सकती है पर यहां चूंकि बौद्धिक विकास पूर्णत: ब्राह्मणों के हाथ में ही केन्द्रित था, जिनकी रोजी धार्मिक आस्थाओं के खंडन से मारी जाती थी, अतः उन्होंने पुराने धर्मों का खुला विरोध कभी नहीं किया बल्कि उसे मात्र Religion of the vulger कहकर छोड़ दिया तथा धर्म के समर्थन में ही अध्यात्मवादी तत्त्वमीमांसा का जन्म हुआ। हालांकि चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि की ओर से इसका विरोध भी हुआ पर ब्राह्मण वर्ग के प्रभाव के कारण वे कभी स्थायी रूप से प्रभावशाली नहीं हो पाये। भारतीय अध्यात्मवाद फलत: बौद्धिक उड़ाने निर्बाध रूप से भरता रहा।

— ३ —

एम्. एन्. राय का विचार है कि चूंकि अध्यात्मवाद जगत् के ज्ञान की वास्तविक खोज से पलायन है, या फिर अज्ञान के कारण उत्पन्न तत्त्वमीमांसा अतः यह जगत् में आज जो मानवता के समक्ष उत्पन्न वास्तविक संकट है उससे निपटने में पूर्णतः अक्षम सिद्धान्त है, यहां तक कि यह एक हद तक इन समस्याओं की जड़ भी है।

आज हम एक अजीब संकट के दौर से गुजर रहे हैं। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर युद्ध का खतरा बढ़ता जा रहा है। कोई भी व्यक्ति युद्ध नहीं चाहता क्योंकि आज युद्ध का मतलब है पूर्ण विनाश। फिर भी युद्ध की संभावना एवं तैयारी बढ़ती जा रही है। वर्तमान अवस्था में युद्ध अपरिहार्य सा दीखता है। राजनैतिक क्षेत्र में हर व्यक्ति प्रजातंत्र की बात करता है पर वोट देने के क्षण को छोड़कर जनता कभी शासन में अपना योगदान अनुभव नहीं करती। आर्थिक क्षेत्र में जहां एक ओर समाजवाद, स्वतंत्रता, समानता और विश्वबंधुत्व के लुभावने नारे के नीचे आर्थिक सुरक्षा के नाम पर वर्षों से व्यक्ति की संत्रस्तता का सबसे बड़ा घातक अधिनायक वाद चला रहा है। साथ ही साथ इसमें व्यक्ति के निजी उत्थान के लिए उसकी मेधा एवं प्रयासों का कोई भी स्थान नहीं है, वहीं दूसरी ओर पूंजीवादी व्यवस्था में अमीरी-गरीबी की बढ़ती खायी, बेरोजगारी एवं वर्ग संघर्ष का तुमुलनाद हो रहा है। सारे पुराने सिद्धान्त इस संकट से निबटने में असमर्थ रहे हैं और व्यक्ति अपने को एक किंकर्तव्यविमूढ़ हताश में अनुभव करता है। इस संकट से बचने के लिए व्यक्ति किसी राजनैतिक संरक्षक की ओर देखता है जिससे उसकी स्वतंत्रता की ही समाप्ति हो जाती है, जो स्वतंत्रता नैतिक विकास के लिए आवश्यक है। साथ इससे शक्ति का केन्द्रीकरण होता है जो युद्ध का संकट उत्पन्न करता है, या फिर व्यक्ति अपने को किसी आध्यात्मिक सत्ता की मर्जी पर छोड़ देता है जिससे संकट का समाधान तो नहीं ही होता उल्टे मानव की सर्जनात्मकता एवं प्रयास की संभावना भी जाती रहती है। इससे स्थिति और भी बदतर होती जाती है। अध्यात्मवाद कर्मवाद को मानता है जो आधुनिक विपत्ति और संकट के मूल पुराने पापों की मान्यता है जिसके निवारण हेतु व्यक्ति को प्रार्थना, पुण्य कर्म आदि करने चाहिए। जैसे यदि आज बारिश नहीं हो रही है तो इसके लिए प्रार्थना, पुण्य-कर्म आदि अधिक जरूरी है और इससे नहर निर्माण, बोरिंग, वृक्षारोपण आदि पर से जोर हट जाता है। फिर अध्यात्मवादी व्यवस्था

में सब कुछ विधि के अनुरूप होता है जिसके समक्ष समर्पण के अतिरिक्त व्यक्ति कर भी क्या सकता है ?

इस प्रकार राजनैतिक सत्ता के प्रति समर्पण या आध्यात्मिक सत्ता के प्रति समर्पण दोनों ही मनुष्य के अपने आप में विश्वास का अभाव एवं बौद्धिक दिवालीयापन का सूचक है। आज का संकट एक बौद्धिक संकट (Intellectual crisis) है जो बीसवीं शताब्दी की समस्याओं को उन्नीसवीं, आठारहवीं सदी के सिद्धान्तों एवं आस्थाओं के आधार पर सुलझाने के प्रयास से उत्पन्न हुआ है। इसे निबटने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति भौतिकवादी एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनावे, संकट के स्वरूप एवं पुराने सिद्धान्तों की समीक्षा करे तथा एक ऐसे नवीन सिद्धान्त को खोजे जो आत्मविश्वास पर आधारित हो तथा मानव केन्द्रित यानी मानववादी हो। समाधान के रूप में राय द्वारा प्रस्तुत नव-मानवतावाद का प्रयास यहां दर्शनीय होगा।

— ४ —

आधुनिक संकट बेशक एक नैतिक संकट (moral crisis) हैं चूंकि वैज्ञानिक प्रगति के साथ साथ जो जटिलता एवं बढ़ी हुई चुनौतीयां हमारे सामने आयी हैं उनसे निभाने में हमारा नैतिक विकास कम पड़ रहा है। नैतिकता की पुरानी धारणा धर्म पर आधारित थी। धार्मिक आस्थाएँ बौद्धिक विकास के साथ साथ अपनी पकड़ खो चुकी हैं जिससे नैतिकता का आधार भी लड़खड़ा गया है। दूसरे, ईश्वर या राजनैतिक सत्ता के डर से पालन की गयी नैतिकता, जिसमें स्वतंत्रता का अभाव हो, वस्तुतः कोई नैतिकता है ही नहीं।

सही नैतिकता, जो कि एक वास्तविक तथ्य एवं मानव का स्वभाव है, की व्याख्या (Secular morality) द्वारा ही संभव है।

इस के अनुसार स्वतंत्रता जो नैतिकता का आधार है वह मानव का जैविक स्वभाव (Biological nature) है। जैविक के क्रम में निम्न स्तर पर जो जीवन संग्राम (Strugle for existence) है वह वस्तुतः बाह्य मुसीबतों एवं जान लेनी खतरों के विरुद्ध स्वतंत्रता संग्राम (Strugle for freedom) ही है और इसी का विकसित रूप मानव में स्वतत्रंता के रूप में देखने में आता है। विवेक के विकास के कारण मानव इस स्वतंत्रंता का उपयोग सामाजिक संतुलन एवं पारस्परिक विकास के लिए करता है। यह उसका नैतिक स्वभाव बन जाता है तथा जो कर्म वह इस नैतिक प्रकृति के अनुरूप करता है उसमें उसे आत्मसंतुष्टि एवं संतोष मिलता है

तथा इसके विपरीत किये गये कर्म में असंतोष एवं आत्मग्लानि का अनुभव होता है। यही नैतिक बाध्यता एवं नैतिक भावना का आधार है। नैतिकता की व्याख्या के लिए किसी अति-भौतिक आध्यात्मिक अनुभवातीत आस्था का आधार ढूंढना व्यर्थ एवं असंगत है।

— ५ —

अब हम एम्. एन्. राय के दर्शन की आलोचनात्मक समीक्षा करना चाहेंगे। वे ह्यूम की तरह अनुभव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके संदेहवाद के निष्कर्ष पर नहीं पहुचते ह। वे यह नहीं कहते कि हमारा ज्ञान असंबंधित प्रत्ययों तक सीमित है, बल्कि अनुभव का तार्किक विश्लेषण करके निर्णय को ज्ञान की इकाई बनाते हैं। यह निर्णय भौतिक जगत् में स्थित तथ्यों के वास्तविक संबंध को ग्रहण करता है। हमारे वाक्य हमारे निर्णय की अभिव्यक्ति होते हैं। इस तरह ये अनुभव के तार्किक विश्लेषण के आधार पर भूत की एक मात्र प्रत्यक्ष सत्ता यानी प्रकृतिवाद की स्थापना करते हैं। ये तार्किक प्रत्यक्षवाद की परम्परा में जाते हैं।

फिर ये तत्त्वमीमांसा को परम सत्य की खोज के रूप में ज्ञान की दृष्टि से व्यर्थ बताते हैं। अनुभवातीत परम सत्य से संबंधित वाक्य निरर्थक हैं, क्योंकि ऐसे वाक्यों को आनुभविक जाँच (Empirical verification) संभव नहीं है। इनके अनुसार जाँच की संभवनीयता ही वाक्य का सही अर्थ है। दर्शन को 'संश्लेषणात्मक ज्ञान' कहकर वे इसे विज्ञान तक सीमित कर देते हैं। दर्शन का काम केवल वैज्ञानिक उक्तियों की भाषाई छानबीन रह जाता है जिसे कार्नप (Logical Syntax) "तार्किक वाक्य रचना" और (Semantics) अर्थ-विज्ञान का नाम देते है। इस तरह दर्शन की पद्धति शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति हो जाती है।

लेकिन हम कहना चाहेंगे कि दर्शन विज्ञान नहीं है। दर्शन दर्शन है। विज्ञान विज्ञान है। दोनों का अपना क्षेत्र है। दोनों का अपना अपना उदेश्य है और उस उदेश्य से प्रेरित काम। अपने व्यावहारिक जीवन को आगे बढ़ाने के लिए हम भौतिक जगत् के नियमों का पता लगाते हैं और इस तरह विज्ञान को जन्म देते हैं। लेकिन सिर्फ शारीरिक जिन्दगी से हमें संतोष नहीं होता। जीवन की केवल मात्रा (Quantitiy) हमें तृप्त नहीं कर पाती। हम जीवन के विशिष्ट गुण (Quality) की खोज करने लगते हैं। आध्यात्मिक जमीन के उच्चतर और उच्चतम मूल्यों की प्यास हमें सताने लगती है। यह सत्यं, शिवं, सुन्दरं की खोज हमें दार्शनिक बना देती है। वैज्ञानिक जीवन की विफलता हमें दर्शन की ओर प्रेरित

करती है। यदि विज्ञान से हमें पूर्ण तृप्ति मिल पाती तो सचमुच दर्शन की कोई जरूरत नहीं थी। इसलिए वैज्ञानिक पद्धति दर्शन की पद्धति नहीं हो सकती है। जहां वैज्ञानिक पद्धति इन्द्रियानुभव पर आधारित अनुमान यानी आगमनात्मक होती है वहां दर्शन की पद्धति आगमनात्मक ज्ञान के अविरोध में यानी विज्ञान संगति में आस्था-जन्य प्रज्ञात्मक (intuitive) तत्त्वों के आधार पर निगमनात्मक हो सकती है।

एम्. एन्. राय कहते हैं कि परम तत्त्व की खोज हमें आस्थामय बना देती है। अनुभूत के आधार पर इन्द्रियातीत का निष्कर्ष अयुक्तिसंगत है। लेकिन सच तो यह है कि शुद्ध विज्ञान नामक कोई पदार्थ नहीं है। हम शुरू से वैज्ञानिक दार्शनिक ही रहते हैं। हर वैज्ञानिक सत्य के मूल में हमारी आस्था ही काम करती है। प्रकृति-समरूपता और कारण कार्य नियम—विज्ञान की मूलभूत मान्यताएँ—आस्था के ही विषय हैं। अनुभव हमेशा पूर्वापरता का होता है, कारण-कार्यता का नहीं। पूर्वापरता के आधार पर कारण-कार्यता का अनुमान अनुभूत के आधार पर अनुभूत के निष्कर्ष जैसा है जो अयुक्त संगत है, जैसा स्वयं एम्. एन्. राय कहते हैं। यथार्थ तो यह है कि आस्था में कोई दोष नहीं, बशर्ते कि यह हमारे आगमनात्मक ज्ञान के अविरोध में हो। यह तो हमारे जीवन का मूल तत्त्व है। अपने में जब आस्था विशिष्ट रूप से जगती है तो अहं की चेतना पैदा होती है। जानवर की आस्था प्रसुप्त है, अतः उसे आत्मचेतना (self-consciousness) नहीं हो पाती।

हम अस्तित्व के जिस स्तर पर हैं वहां ज्ञान के दो अंग होते है—विषयी यानी अहं-चेतनायुक्त पदार्थ (Subject) और विषय (object)। भौतिक-वाद विषय को मूलभूत मानता है। विषयी मूलभूत है यह अध्यात्मवाद की मान्यता है। अब अनुभव के आधार पर हम विषयी के पक्ष में निर्णय देना चाहेंगे : क्योंकि हमारे अनुभव में हमेशा विषयी विषय को जानता है यानी आत्मसात् करता है और ऐसा कभी नहीं होता कि विषय-विषयी को जाने यानी आत्मसात् करें। यदि ऐसा कहा जाय कि वर्तमान क्षण के ज्ञाता बोध को बाद के क्षण का बोध जानता है तो यहां भी हम देखते हैं कि जानने वाला बोध हमेशा विषयी का रूप धारण करता है, न कि विषय का। इससे सिद्ध होता है कि चरम सत्य वह निरपेक्ष बोध है जो फिर किसी का विषय नहीं बनता यानी चरम सत्य चरम ज्ञाता है।

भौतिकवादी मान्यता के आधार पर अहं की शाश्वत रक्षा नहीं हो पाती। वहां अहं एक व्युत्पन्न पदार्थ होता है। मूलभूत पदार्थ होता है अचेतन, भूत, क्योंकि

विषय विषय के रूप में हमेशा अचेतन ही होता है। लेकिन अहं मानव जीवन का का सबसे बड़ा मूल्य है। जो दर्शन इस अहं की रक्षा नहीं कर पाता वह मानव जीवन के लिए व्यर्थ है। आत्मा इसी अहं का अविनाशी तत्त्व (indestructible core) है। यही कारण है कि काण्ट जैसा मुक्तचिन्तक अज्ञेयवादी होते हुये भी व्यावहारिक नैतिक जीवन को संभव बनाने के लिए नैतिक मूल्यों के संरक्षण के लिए आत्मा की अमरता को मान लेता है। यदि आत्मा अमर न हो तो उसकी स्वतंत्रता उसका भ्रम है और स्वतंत्रता के बिना नैतिकता कोई अर्थ नहीं रखती। भौतिकवादी मान्यता के आधार पर मानव केवल नीति शून्य प्राणी ही बन सकता है, क्योंकि शुद्ध नियतिवादी क्रिया केवल नीति शून्य ही हो सकती है। जहां तक प्रकृति की प्रत्यक्षता का सवाल है अध्यात्मवादी व्यवहारिक स्तर पर इसकी वास्तविकता को इन्कार नहीं करता। वह केवल इतना ही कहता है कि इसकी व्यवहारिक सत्यता पारमार्थिक सत्यता नहीं है।

– राजेशकुमार सिंह

ग्राम व पोस्ट–खैरा
वाया–राजौन
जिला–भागलपुर (बिहार)

सांख्य एवं डेकार्ट : एक तुलनात्मक दृष्टिकोण

सांख्य तथा डेकार्ट के दर्शन भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिक परम्पराओं के दो द्वैतवादी सम्प्रदाय माने जाते हैं। दोनों दर्शनों को अपनी-अपनी परम्पराओं में विशेष महत्त्व प्राप्त है। यदि सांख्य दार्शनिकों ने प्रचलित वैदिक परम्परा की कतिपय मुख्य मान्यताओं को उसी रूप में स्वीकार नहीं किया है तो डेकार्ट ने भी पश्चिमी दर्शन में चली आ रही कुछ मान्यताओं को उसी रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। यद्यपि सांख्य दार्शनिकों ने सभी वैदिक मान्यताओं का पूर्णतः खण्डन नहीं किया है किन्तु उनका अन्धानुकरण भी नहीं किया। दोनों दार्शनिक पद्धतियों में विश्व की व्याख्या तर्कपूर्ण ढंग से करने का प्रयत्न किया गया है। डेकार्ट के दर्शन का उद्देश्य निश्चित तथा स्वतः प्रमाणित सत्य प्राप्त करना है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये वह समस्त पूर्व प्रचलित मान्यताओं पर सन्देह करता है तथा अन्त में एक ऐसे सत्य पर पहुँचता है जिसकी सत्ता के विषय में हम सन्देह नहीं कर सकते हैं।

दोनों दर्शनों में ज्ञान के सम्बन्ध में कई बातों में समानता है। दोनों में ही ज्ञान को बहुत महत्त्व दिया गया है। डेकार्ट के दर्शन का उद्देश्य निश्चित तथा स्वतः प्रमाणित सत्य प्राप्त करना है। सांख्य दर्शन में भी इसी प्रकार के विचार पाये जाते हैं। इनके अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य पुरुष तथा प्रकृति का भेदात्मक ज्ञान प्राप्त करना है। सांख्य दार्शनिकों ने तो यहाँ तक कहा कि जब तक इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता, हम इन सांसारिक दुःखों से मुक्त नहीं हो सकते।

सांख्य दार्शनिक तथा डेकार्ट दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे बाह्य वस्तु का हमारी आत्मा से सीधा सम्पर्क नहीं होता। डेकार्ट इस सन्दर्भ में प्रत्यय प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारा मनस् एक फोटोग्राफिक प्लेट के समान है जिस पर वस्तुयें प्रत्ययों के द्वारा अंकित होती हैं। यद्यपि मनस् इन वस्तुओं का ज्ञाता है किन्तु

मनस् का इन वस्तुओं से सीधा सम्पर्क नहीं होता है। सांख्य दर्शन में भी पुरुष अथवा आत्मा वस्तुओं के सीधे सम्पर्क में नहीं आती है। इनके अनुसार ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बुद्धि जब बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क में आती है तो उनसे प्रभावित होती है तथा उनका आकार ग्रहण करती है। उस परिवर्तित हुई बुद्धि पर जब चेतना शक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो चेतना शक्ति बुद्धि के परिवर्तनों का अनुकरण करती है तथा इस वृत्ति के अनुकरण के द्वारा ही आत्मा को ज्ञान प्राप्त होता है।[१]

दोनों ही दार्शनिक भ्रम अथवा मिथ्या ज्ञान के विषय में भी लगभग समान विचार रखते हैं। सांख्य दार्शनिक भ्रम की व्याख्या करने के लिये सदसत् ख्यातिवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। विज्ञान भिक्षु के अनुसार यह चाँदी है, इस प्रकार के भ्रम में जिस चाँदी के विषय में हम विचार कर रहे हैं वह सत् है किन्तु वह असत् हो जाती है जब हम भ्रमवश उसे सीपी के लिये प्रयुक्त करते हैं।[२] दोनों दार्शनिकों के अनुसार भ्रम में हम किसी वस्तु का अस्पष्ट प्रत्यक्ष करके विषय में गलत निर्णय देते हैं। डेकार्ट के अनुसार हमें, सामान्यतः भ्रम तब होता है जब हम किसी ऐसी वस्तु के विषय में निर्णय देते हैं जिसके विषय में हमें पूर्ण ज्ञान नहीं होता है।[३]

इन दोनों दर्शनों में न केवल ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया तथा मिथ्या ज्ञान के विचारों में समानता है अपितु ज्ञान प्राप्त करने के साधन भी समान रूप से स्वीकार किये गये हैं। दोनों ही दार्शनिक प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्त वचन की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं।[४] प्रत्यक्ष के विषय में सांख्य दार्शनिकों का विचार है कि इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।[५] इन्द्रियों के सम्पर्क से ही हम सांसारिक वस्तुओं को जानते हैं। बुद्धिवादी दार्शनिक होने के कारण डेकार्ट यद्यपि यह स्वीकार नहीं करेगा कि दार्शनिक ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु जहाँ तक इन सांसारिक वस्तुओं का सम्बन्ध है इनके ज्ञान के लिये हमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर ही निर्भर करना पड़ता है। दोनों ही दर्शन यह स्वीकार करते हैं कि सत्य का ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष की सीमा से परे है। दोनों ही दर्शनों में अनुमान को ज्ञान प्राप्ति का साधन माना जाता है। डेकार्ट निगमनात्मक पद्धति के द्वारा हम जिन तत्त्वों को निश्चित रूप से जानते हैं उनके द्वारा दूसरे तत्त्वों का का अनुमान लगाते हैं। दोनों ही दर्शन आप्त वचन को ज्ञान प्राप्ति का विश्वसनीय साधन मानते हैं। सांख्य दर्शन में यह स्वीकार किया गया है कि वेद स्वतः प्रमाणित हैं। इनसे हमें सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है।[६] डेकार्ट के अनुसार हमें धार्मिक पुस्तकों पर विश्वास करना चाहिए क्योंकि वे ईश्वर द्वारा रचित हैं।[७]

उपरोक्त दोनों दर्शनों में केवल ज्ञान के क्षेत्र में ही साम्य नहीं है, अपितु तत्त्वशास्त्रीय समस्याओं में भी साम्य है। दोनों ही दार्शनिक द्वैतवादी हैं तथा चेतन और अचेतन दो तत्त्वों को स्वीकार कर दर्शन का प्रारम्भ करते हैं। चेतन तत्त्व के रूप में सांख्य दार्शनिक पुरुष का अस्तित्त्व स्वीकार करते हैं तथा डेकार्ट मनस् तत्त्व को मानता है। दोनों ही दर्शन इस चेतन तत्त्व की अनेकता को स्वीकार करते हैं। सांख्य दर्शन में ही तो यह विचार बहुत ही स्पष्ट है। सांख्य सूत्र तथा सांख्य कारिका दोनों में ही अनेकात्मवाद का प्रतिपादन किया गया है तथा इस मत को सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ भी दी गई हैं।[८] ये दार्शनिक अद्वैत-वेदान्त के परम सत् सम्बधी सम्प्रत्यय से सन्तुष्ट नहीं हैं। डेकार्ट भी आत्मा अथवा मनस् की अनेकता में विश्वास करता है। वह यद्यपि मनस् शब्द का प्रयोग एक वचन में करता है किन्तु अनेकात्मवाद उसके दर्शन में निहित है। किस प्रकार एक ही मनस् बिना विस्तार के गुण के विभिन्न मनुष्यों में ज्ञाता तथा भोक्ता के रूप में कार्य कर सकता है, इस कठिनाई को अनेकात्मवाद के द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

दोनों ही दर्शन आत्मा की अमरता में विश्वास करते हैं। सांख्य विचारकों के अनुसार आत्मा मृत्यु के पश्चात् या तो दूसरा शरीर ग्रहण कर लेती है अथवा मुक्त हो जाती है। ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता है कि आत्मा भी शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है। डेकार्ट के अनुसार भी मानव-आत्मा अमर है। उसका कथन है कि मनुष्य का शरीर नष्ट हो जाता है किन्तु उसकी आत्मा अथवा मनस् अमर है।[९] एक अन्य दृष्टिकोण से भी दोनों दर्शनों में आत्मा सम्बधी विचारों में साम्य है। सांख्य दर्शन में केवल पुरुष ही चेतन सत्ता है। चेतना पुरुष के स्वरूप में निहित है, उसका औपाधिक गुण नहीं है।[१०] यद्यपि बुद्धि चेतन प्रतीत होती है किन्तु ऐसा उसमें पड़ने वाले पुरुष के प्रतिबिम्ब द्वारा सम्भव होता है। चेतना बुद्धि का स्वरूप लक्षण नहीं है। इसी प्रकार डेकार्ट के दर्शन में केवल मनस् ही चेतन तत्त्व है। पुदगल पूर्णतः अचेतन है।

जगत् की व्याख्या करने के लिये ये दोनों दार्शनिक जिस दूसरे तत्त्व को स्वीकार करते हैं उसके विषय में भी दोनों में कुछ साम्य है। दोनों दर्शनों के अनुसार वह तत्त्व, जिससे इस संसार की वस्तुएँ निर्मित की गई हैं, विभु हैं। डेकार्ट ने पुद्गल में विस्तार का गुण मानकर उसको अपरिमित परिमाण का बना दिया है। डेकार्ट के अनुसार रिक्त स्थान अथवा शून्य नहीं है। जहाँ कहीं भी स्थान है वहाँ पुद्गल है। जिस तत्त्व से इतने विस्तृत संसार की रचना हुई उसे सीमित परिमाण का कहना उचित भी नहीं है। सांख्य दर्शन के अनुसार भी प्रकृति

असीमित तथा विभु है।[11] हम इस सम्पूर्ण विश्व में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं पाते हैं जिसमें प्रकृति का कोई गुण क्रियाशील न हो। अतः यह कहा जा सकता है कि साँख्य की प्रकृति की सत्ता प्रत्येक स्थान में है।

दोनों ही दर्शन यह स्वीकार करते हैं कि वह तत्त्व, जिसका परिणाम यह सम्पूर्ण जगत् है, अचेतन है। ये दार्शनिक आदर्शवादी दार्शनिकों की इस विचारधारा से सहमत नहीं हैं कि केवल आध्यात्मिक तत्त्व ही सत् है तथा यह विश्व उस अनुभवातीत सत्ता की अभिव्यक्ति है। दोनों दर्शनों के अनुसार ये समस्त भौतिक वस्तुएँ भौतिक तत्त्व का ही परिणाम हैं। दोनों दर्शनों का विश्व के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण है। दोनों ही दर्शनों के अनुसार हम इस अचेतन तत्त्व को अनुमान के द्वारा जानते हैं, इसे प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं जान सकते हैं। साँख्य की प्रकृति को हम उसके परिणाम[12] अथवा उसके गुणों के द्वारा जानते हैं। साँख्य दर्शन में यह कहीं नहीं कहा गया है कि प्रकृति को हम प्रत्यक्ष के द्वारा जानते हैं। डेकार्ट भी यह स्वीकार करता है कि हम दोनों तत्त्वों को उनके गुणों के द्वारा जानते हैं।[13]

देश तथा काल के सम्बन्ध में भी दोनों दर्शनों में लगभग समान विचार पाये जाते हैं। दोनों के ही अनुसार देश की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। साँख्य दार्शनिकों के अनुसार देश प्रकृति का ही परिणाम है।[14] डेकार्ट के अनुसार भी देश पुद्गल का ही एक प्रकार है। एक ही विस्तार, जो देश का निर्माण करता है, पुद्गल का भी निर्माण करता है।[15] देश के समान ही दोनों दर्शनों में काल की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। साँख्य दार्शनिकों के अनुसार काल प्रकृति का एक प्रकार है। काल का प्रयोग जब हम व्यवहारिक जगत् में करते हैं तो यह केवल मनस् की ही उत्पत्ति होती है।[16] डेकार्ट के अनुसार भी समय को जब हम सामान्य अर्थ में प्रयुक्त करते हैं तथा जब गति को नापने के लिये इसका वर्णन करते हैं तो यह केवल विचार का ही एक प्रकार होता है।[17]

इन दोनों दर्शन-पद्धतियों में उपर्युक्त समानताओं के आधार पर यह कहना उचित नहीं होगा कि ये एक दूसरे से प्रभावित हैं। इनमें निहित विषमताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनका विकास अपनी-अपनी परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में स्वतन्त्र रूप से हुआ है। दोनों दार्शनिकों में भिन्न-भिन्न दर्शन पद्धतियों को अपनाया है। डेकार्ट ने अपने दर्शन में निगमनात्मक पद्धति का प्रयोग किया है। उसका उद्देश्य दर्शन के क्षेत्र में उसी प्रकार के स्वतः प्रमाणित सत्य प्राप्त करना था जैसे गणित में होते हैं। अतः उसने गणितीय पद्धति को ही अपनाया। इस पद्धति से उसका अभिप्राय था कि कुछ निश्चित तथा स्वतःप्रमाणित सत्यों के

आधार पर उसी प्रकार के दूसरे निश्चित तथा स्वतःप्रमाणित सत्य पर पहुँचना। दूसरी ओर सांख्य दर्शन में हम इस पद्धति का नियमपूर्वक प्रयोग नहीं पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दार्शनिकों ने परिकल्पनात्मक पद्धति को अपनाया है।

दोनों दार्शनिकों के प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न हैं। डेकार्ट के अनुसार दर्शन का उद्देश्य निश्चित तथा स्वतःप्रमाणित सत्य प्राप्त करना है। इस लक्ष्य को प्राप्त कर इसके आधार पर ही उसने बाह्य जगत् की वस्तुगत रूप से व्याख्या की। इसके विपरीत सांख्य दार्शनिकों का परम उद्देश्य मानव जीवन को दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति दिलाना है।[१८] इसके लिये वे जीवन और जगत् की तात्त्विक व्याख्या आवश्यक मानते हैं। सांख्य दार्शनिकों का यह उद्देश्य हमें डेकार्ट के दर्शन की अपेक्षा मानव जीवन के अधिक समीप प्रतीत होता है।

ज्ञान के सन्दर्भ में भी जहाँ दोनों दर्शनों में कुछ साम्य है वहाँ दूसरी ओर भिन्नता भी पाई जाती है। डेकार्ट के दर्शन में जन्मजात प्रत्ययों का जो विचार हम पाते हैं उसका सांख्य दर्शन में पूर्णतः अभाव है। डेकार्ट के अनुसार मनुष्य के मनस् में कुछ प्रत्यय जन्म से ही पाये जाते हैं। ईश्वर स्वयं इन प्रत्ययों को हमारे मनस् में स्थापित करता है। इनके द्वारा ही हमें सत्य का ज्ञान होता है। यद्यपि सांख्य दार्शनिक भी यह स्वीकार करते हैं कि जन्म से ही कुछ संस्कार अपने साथ लेकर आते हैं किन्तु ये संस्कार हमें ईश्वर अथवा किसी अन्य सत्ता से नहीं प्राप्त होते हैं। ये स्वरचित होते हैं। सत्य का ज्ञान प्राप्त होते ही ये संस्कार नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि डेकार्ट का जन्मजात प्रत्ययों का बिचार हमें सांख्य दर्शन में नहीं मिलता है।

सांख्य तथा डेकार्ट के दर्शनों में तत्त्व मीमांसीय समस्याओं को लेकर भी मतभेद है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष निरपेक्ष तथा अनुभवातीत है। वह चेतन है किन्तु कर्ता नहीं है। सांसारिक क्रियाओं से उसका सम्बन्ध नहीं है, वह विभु है। दूसरी ओर डेकार्ट के अनुसार मनस् अकर्ता नहीं है। संशय तथा विचार जैसी क्रियायें मनस् के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। डेकार्ट के अनुसार मनस् विभु भी नहीं है। यद्यपि डेकार्ट ने आत्मा की अनेकता स्वीकार की है किन्तु इस प्रकार के विचार कहीं नहीं मिलते हैं कि आत्मा विभु है। उसके अनुसार मनस् संसार तथा उसकी वस्तुओं से अछूता नहीं है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष सांसारिक सुख दुःख से परे है किन्तु डेकार्ट के अनुसार आत्मा का इन सुख-दुःख से सीधा सम्बन्ध है। सांख्य दर्शन में पुरुष अथवा आत्मा नित्य है किन्तु इसके विपरीत डेकार्ट के दर्शन में इस प्रकार के विचार मिलते हैं कि आत्मा ईश्वर द्वारा रचित है।[१९] ईश्वर ने पुद्गल के साथ ही आत्मा को भी उत्पन्न किया तथा जब वह

चाहे तो इन्हें नष्ट भी कर सकता है। अतः हम डेकार्ट के अनुसार आत्मा को नित्य नहीं कह सकते। यह केवल इस अर्थ में अमर है कि शरीर के साथ ही यह नष्ट नहीं होती है।

डेकार्ट के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि आत्मा यद्यपि पूरे शरीर से सम्बन्धित है किन्तु मस्तिष्क की एक विशेष ग्रन्थि में इसका मुख्य स्थान है।[२०] इसके विपरीत साँख्य दार्शनिकों के अनुसार हम यह नहीं कह सकते हैं कि आत्मा का स्थान शरीर का कोई विशेष भाग है। जीव, जो सूक्ष्म शरीर है युक्त है, उसका भी हम मनुष्य के शरीर में कोई निश्चित स्थान नहीं बता सकते हैं। यद्यपि जीव के कारण ही शरीर चेतन रहता है किन्तु डेकार्ट के आत्म-तत्त्व के समान हम उसका कोई निश्चित स्थान नहीं बता सकते हैं।

दोनों दर्शनों में अचेतन तत्त्व के विषय में भी मतभेद हैं। सांख्य दार्शनिक प्रकृति को तीन गुणों से निर्मित मानते हैं।[२१] डेकार्ट के दर्शन में इस गुण सिद्धान्त का अभाव है। डेकार्ट के अनुसार यह विश्व तीन गुणों से मिलकर नहीं बना है। पुद्गल का गुण विस्तार है अतः इसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म इकाई विभाजित की जा सकती है। यह अणुओं से मिलकर नहीं बना है।

जगत् की व्याख्या करते समय भी दोनों दार्शनिक कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों में भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। साँख्य दार्शनिक यद्यपि वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं किन्तु ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते हैं। कुछ दार्शनिक तो ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने वाले प्रमाणों का भी खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं।[२२] इसके विपरीत डेकार्ट के दर्शन में हम पाते हैं कि ईश्वर की सत्ता को न केवल स्वीकार किया गया है अपितु उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिये युक्तियाँ भी दी गई हैं।[२३] विश्व की व्याख्या करते समय डेकार्ट पग पग पर ईश्वर की सहायता की अपेक्षा रखता है। इसके अतिरिक्त साँख्य दार्शनिक जगत् की व्याख्या के लिये विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार प्रकृति का विकास यान्त्रिक नहीं है अपितु उसमें उद्देश्य-निहित है। प्रकृति का सम्पूर्ण विकास पुरुष के भोग तथा मोक्ष के लिये होता है।[२४] डेकार्ट इसके विपरीत यह मानता है कि ईश्वर ने विश्व की सृष्टि की है। ऐसा प्रतीत होता है कि डेकार्ट ईसाई धर्म के सृष्टि के सिद्धान्त को पूर्णतः स्वीकार करता है। वह इस जगत् की यान्त्रिक व्याख्या नहीं करता है। सांख्य दार्शनिक विकास के साथ ही प्रलय की अवस्था भी स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार सृष्टि तथा प्रलय का चक्र निरन्तर चलता रहता है। प्रलय की अवस्था में सब सांसारिक वस्तुयें प्रकृति में लीन हो जाती हैं तथा तीनों गुण अपनी साम्यावस्था में आ जाते हैं। प्रलय का यह विचार हम डेकार्ट के दर्शन में नहीं पाते।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विषयों में भी दोनों दार्शनिकों में मतभेद है। सांख्य दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि अविद्या के कारण पुरुष सांसारिक बन्धन में रहता है तथा विवेक ज्ञान प्राप्त होने पर ही उसे इस बन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है। वह जिस प्रकार के कर्म करता है उसके अनुरूप ही फल भोगता है। सांख्य दार्शनिक कर्मवाद, पुनर्जन्म, अविद्या, बन्धन तथा मोक्ष जैसे प्रत्ययों को स्वीकार करते हैं जबकि डेकार्ट के दर्शन में इस प्रकार के प्रत्ययों का पूर्णतः अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके विचार का क्षेत्र केवल यह भौतिक जगत् ही है जिसका हम प्रत्यक्ष करते हैं तथा जिस पर हम दैनिक जीवन में क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। अनुभवातीत जगत् डेकार्ट की पहुँच के बाहर है तथा वह उसे आकर्षित भी नहीं करता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य तथा डेकार्ट के दर्शन में ज्ञान तथा तत्त्वशास्त्र से सम्बन्धित समस्याओं में पर्याप्त भिन्नता है। दोनो दर्शनों के उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न हैं। इस भिन्नता का मुख्य कारण उनकी भिन्न पृष्ठभूमि तथा विचार पद्धति है। भारत में पश्चिम की अपेक्षा दर्शन का सम्बन्ध मानव जीवन से अधिक है। आदिकाल से ही भारतीय विचारक मानवीय समस्याओं से उलझा रहा है। दुःख-रूपी अन्धकार में पड़े मनुष्य को आनंद के आलोक तक पहुँचाना ही उसका लक्ष्य रहा है। हम यह कह सकते हैं कि सांख्य दार्शनिक भी इसके अपवाद नहीं हैं। अतः उन्होंने मानव जीवन को सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त करने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर पश्चिम में दर्शन का सम्बन्ध मानव जीवन से उतना अधिक नहीं है। इन दार्शनिकों ने इस जगत् की वस्तुगत रूप से व्याख्या करने में ही सन्तोष का अनुभव किया। अतः डेकार्ट के दर्शन का उद्देश्य हमें उतना व्यावहारिक नहीं लगता है। यह दर्शन केवल हमारे बौद्धिक पक्ष को ही सन्तुष्ट करता है।

दोनों दार्शनिकों के विचारों में भिन्नता का एक अन्य कारण दोनों देशों में पाया जाने वाला सांस्कृतिक भेद भी कहा जा सकता है। पूर्व तथा पश्चिम में मनुष्य की आकांक्षायें भिन्न-भिन्न हैं। पाश्चात्य दार्शनिक सामान्यतः द्रष्टा की दृष्टि से विचार करते हैं। वे इस विश्व के वस्तुगत ज्ञान को ही महत्त्व देते हैं तथा उसे प्राप्त करने के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर देते हैं। डेकार्ट भी इस विचारधारा से अछूता नहीं रह सका। दूसरी ओर पूर्व के दार्शनिक कर्ता की दृष्टि से विचार करते हैं। वे यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे में विश्वास करते हैं। यहाँ मानव जीवन का लक्ष्य आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना है। पूर्व तथा पश्चिम की भिन्न विचारधाराओं का यह प्रभाव सांख्य तथा डेकार्ट के दर्शन पर भी पड़ा है।

इसलिए सांख्य दर्शन में ज्ञान का सम्बन्ध पुरुष के बन्धन तथा मोक्ष से है जबकि डेकार्ट के ज्ञान के सिद्धान्त में इस प्रकार के विचारों का अभाव है।

यदि दोनों दार्शनिकों के द्वैतवाद की परीक्षा की जाय तो यह कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन का द्वैतवाद डेकार्ट के द्वैतवाद की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र तथा तर्क-संगत प्रतीत होता है। पुरुष तथा प्रकृति दोनों तत्त्व स्वतन्त्र हैं तथा किसी तिसरी सत्ता के अधीन नहीं है। जबकि डेकार्ट के दर्शन में मनस् तथा पुद्गल अपनी सत्ता के लिए ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करते हैं। डेकार्ट के दर्शन में मनस् तथा पुद्गल आत्म निर्भर नहीं हैं। वह बिना ईश्वर की सहायता के केवल इन दो तत्त्वों के द्वारा विश्व की व्याख्या करने में असमर्थ होता है जबकि सांख्य दार्शनिक केवल पुरुष तथा प्रकृति के द्वारा ही विश्व की व्याख्या करते हैं।

डेकार्ट अपने समय की प्रचलित धार्मिक मान्यताओं से स्वयं को मुक्त नहीं कर सका तथा दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए धार्मिक मान्यताओं का आश्रय लेता है। डेकार्ट के दर्शन में अनेक असंगतियाँ भी प्रतीत होती हैं। वह एक स्थान पर कहता है कि वह प्रत्येक विषय पर सन्देह करता है किन्तु अन्य स्थान पर हम देखते हैं कि वह आप्त वचनों की प्रामाणिकता को बिना सन्देह करे ही मान लेता है।[२५] हम कम-से-कम सांख्य दर्शन के मौलिक ग्रन्थों में इस प्रकार की असंगतियाँ नहीं देखते हैं। यदि वे द्वैतवादी दृष्टिकोण रखते हैं तो अन्त तक द्वैतवादी ही रहते हैं और स्वयं को निरीश्वरवादी कहते हैं तो अन्त तक निरीश्वर-वाद का ही प्रतिपादन करते हैं। यहाँ हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि सांख्य दर्शन में कुछ भी असंगतियाँ नहीं हैं अपितु वे एक ही स्थान पर विरोधी बातों को कहने के अभ्यस्त नहीं हैं। किसी भी दार्शनिक विचारधारा में इस प्रकार के गुण होना उसके लिए गौरव का विषय है।

– निरुपमा श्रीवास्तव

दर्शन विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ (उ. प्र)

टिप्पणियाँ

१. डॉ. राधा कृष्णन्, **इण्डियन फिलासफी**, भाग २, पृ. २९४–२९५.
२. डॉ. जे. एन्. सिन्हा, **इण्डियन साइकालाजी : परसेप्सन**
३. **फिलासाफिकल वर्क्स आफ डेकार्ट**, भाग १, पृ. २३२.

४. सांख्य कारिका–४.
५. डॉ. राधा कृष्णन्, इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ. २९७.
६. सांख्य प्रवचन भाष्य, पृ. ५१.
७. फिलासाफिकल वर्क्स आफ डेकार्ट, भाग १, पृ. १३३.
८. सांख्य प्रवचन भाष्य १–१४९, सांख्य कारिका–१८.
९. फिलासाफिकल वर्क्स आफ डेकार्ट, भाग १, पृ. १४१.
१०. सांख्य प्रवचन भाष्य, १–१४६.
११. सांख्य प्रवचन भाष्य, १–७६.
१२. सांख्य कारिका, ८.
१३. थिली, हिस्ट्री आफ फिलासफी, पृ. ३०८.
१४. सांख्य प्रवचन भाष्य, २–१२.
१५. फिलासाफिकल वर्क्स आफ डेकार्ट, भाग १, पृ. २५९.
१६. डॉ. राधा कृष्णन्, इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ. २७७.
१७. फिलासाफिकल वर्क्स आफ डेकार्ट, भाग १, पृ. २४२.
१८. सांख्य कारिका, १.
१९. फिलासाफिकल वर्क्स आफ डेकार्ट, भाग १, पृ. २४१.
२०. वहीं, भाग १, पृ. ३४७.
२१. सांख्य प्रवचन भाष्य; १–६१.
२२. वहीं, १–९२–९५.
२३. डेकार्ट–मेडीटेशन, III तथा V.
२४. सांख्य कारिका, २१.
२५. फिलासाफिकल वर्क्स आफ डेकार्ट, भाग १, पृ. ८.

कालिदास की दार्शनिक दृष्टि

महर्षि अरविन्द का कथन है कि वाल्मीकि, व्यास और कालिदास भारतीय इतिहास की अन्तरात्मा के प्रतिनिधि हैं और सब कुछ नष्ट हो जाने के बाद भी इनकी कृतियो में हमारी संस्कृति के प्राणतत्त्व सुरक्षित रहेंगे ।[1] कालिदास ने भारतीय अध्यात्म के सत्यं और शिवम् को सुन्दरम् की अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसे ही यदि साहित्यिक शब्दावली में कहा जाये तो कह सकते हैं कि शब्द एवं अर्थ प्रधान वाणी को उन्होंने रस का संश्रय प्रदान किया किंवा प्रभुसम्मित एवं सुहृद् सम्मित उपदेश को कान्तासम्मित मनोज्ञता में रूपान्तरित कर दिया । ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है – "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्"[2] यहाँ स्वर्ण बाह्य सौंदर्य का प्रतीक है और उस सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर जब मनुष्य उसकी ओर बढ़ेगा और उसका अनावरण करेगा तो सौन्दर्य से आच्छादित सत्य का उसे भान होगा । कालिदास का काव्य भी इन्हीं आदर्शों से अनुप्रेरित है। प्रकट रूप में जहाँ उनके काव्यों में श्रृंगार और यौवन का उद्दाम विलास है वहीं प्रच्छन्न रूप से शिवात्मक चैतन्य की प्राप्ति का संकेत भी है । उन्होंने तो सर्वत्र लौकिक प्रेयस् का उपभोग करते हुए श्रेयस् की ओर अग्रसर होने के लिये प्रेरित किया है । उन्होंने स्थूल भोगप्रधान जीवन और सूक्ष्म अध्यात्म साधन इन दोनों अभिप्रायों का साथ-साथ उल्लेख किया है ।

कालिदास के पूर्व अश्वघोष ने अपने महाकाव्यों में निवृत्ति मार्ग का स्तवन किया है–

> इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः
> श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता ।
> यन्मोक्षात् कृतमन्यदात्र हि मया तत् काव्य धर्मात् कृतं,
> पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥[3]

किन्तु सम्भवतः कालिदास की दृष्टि में यह निवृत्तिपरक मार्ग लोकहित के अभ्युदय के लिये अशिव मूलक है इसलिये इन्होंने वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा की

और अपने काव्यों में सर्वत्र इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि जीवन की आसक्तियों का उपभोग करते हुए अन्त में अनासक्त भाव से इस आवागमन के चक्र से मुक्ति-प्राप्ति हेतु अनुशासित होना है– " ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः" [४] यदि प्रारम्भ से ही व्यक्ति निवृत्ति पथ पर ही चलेगा तो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाएगी तथा धर्मशास्त्र में जिन पितृऋण, देवऋण, गुरु या अतिथि ऋण से मुक्ति की बात कही गयी है उससे व्यक्ति कभी उन्ऋण नहीं हो सकेगा—

ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।
अनृणत्वमुपेयिवान् बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः ॥ [५]

कालिदास ने अपनी कृतियों में आध्यात्मिक भावों को ही कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। भारतीय तत्त्व दर्शन की यह महनीय मान्यता है कि एक ही आत्मतत्त्व का स्पन्दन सम्पूर्ण सृष्टि में स्पन्दायमान हो रहा है। कालिदास ने इसे ही सुरुचिपूर्ण ढंग से ग्राह्य बनाया है। मौलिक रूप से कालिदास शैव हैं, इस बात की पुष्टि उनके काव्यों में किये गये मंगलाचरण से होती है। **रघुवंशम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्रम्** का मंगलाचरण शिव के स्वरूप-ख्यापन से ही प्रारम्भ हुआ है।

कालिदास ने रघुवंश के आरम्भ में जगत् के माता और पिता तुल्य पार्वती और शिव के सम्पृक्त रूप की वाक् और अर्थ के साथ तुलना की है–

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ [६]

शिव और शक्ति का यह सम्पृक्त स्वरूप स्पष्टतः काश्मीर शैव दर्शन के शिवशक्त्याभेद की ओर इंगित करता है, जहाँ जिसे परमशिव कहा गया है उसे ही परमशक्ति भी माना गया है। शक्ति के बिना शिव इच्छाहीन, ज्ञानहीन, क्रियाहीन और स्पन्दन में असमर्थ शव मात्र होगा; यही कारण है कि कुछ लोगों की यह मान्यता है कि " शिव " में जो इकार है वह वस्तुतः शक्ति का ही सूचक है। यदि वह इकार हटा दिया जाये तो शिव = शव हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं कि शिव को ही शक्ति की अपेक्षा है अपितु शक्ति भी शिव के अभाव में आत्मप्रकाश में असमर्थ हो जायेगी। अस्तु। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दोनों ही चिद्रूप होने के कारण स्वरूपतः अभिन्न हैं एवं एक को छोड़कर दूसरा रह भी नहीं सकता। जैसा कि कहा भी गया है–

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते ।।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न शक्यते । [७]

इसी प्रकार **मालविकाग्निमित्रम्** में शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए जो कालिदास ने मंगलाचरण किया है– स्पष्टतः उसमें काश्मीर शैव दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है–

एकैश्वर्येस्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः,
कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद् यतीनाम् ।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः,
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु सवस्तामसीं वृत्तिमीशः ।। [८]

अर्थात् अपने भक्तों को मनचाहा फल देने का बेजोड़ भण्डार अपने पास होते हुए भी जो केवल हाथी की खाल ओढ़कर ही अपना काम चला लेते हैं, अपने आधे शरीर में अपनी पत्नी को बैठाये रहने पर भी जो संसार के भागों से अपना मन दूर हटाये रहते हैं और अपने आठों रूपों से सारे संसार का पालन करते हुए भी जो अभिमान को पास नहीं फटकने देते हैं, ऐसे संसार के स्वामी शिवजी, पाप की ओर लै जाने वाली हमारी बुद्धि को ऐसा मिटा दें कि हमारा मन अच्छे काम करने में लगे ।

यहाँ पर कालिदास ने एक साथ शिव की अनेक विशेषताओं पर प्रकाश डाल दिया है । शिव के 'कृत्तिवासत्व' से ऐश्वर्य में भी विरागभाव, 'कान्तासंमिश्र-देहत्व' से शिव-शक्ति का अभेद स्वरूप तथा विषयों के मध्य भी विषय पराङ्मुखता तथा उनकी निरहंकारता का वर्णन करके भक्त शिव से पाप बुद्धि को हटाने की प्रार्थना करके वस्तुतः ऊर्ध्वमुखी वृत्तियों में अग्रसर होने की ही प्रार्थना कर रहा है, जो कि स्वयं उसे भी अपने आराध्य के समान जीवन्मुक्तित्व प्रदान कर सके । यहाँ यह ध्यातव्य है कि भक्त शिव से मुक्ति की कामना नहीं कर रहा है अपितु तामसी वृत्तियों के प्रशमन की प्रार्थना इसलिये कर रहा है की उसकी प्रवृत्ति अच्छे कामों की ओर हो । यह काश्मीर शैव दर्शन के प्रवृत्ति मार्ग का ही तो द्योतक है, जहाँ जगत् से विरत होकर ईश्वरोपासना की दीक्षा नहीं है अपितु जगत् में रहकर उस परमसत्ता की लीला में भाग लेने की, सत्कर्म करने की बात है । वस्तुतः तात्त्विक दृष्टि से जगत् शिव से भिन्न है किन्तु शिव अपनी शक्ति द्वारा सदैव जगत् के साथ अद्वैत भाव से रहता है । इस प्रकार शिव अपनी शक्ति द्वारा जगत् में अन्तर्भूत माना जाता है ।[९] यही कारण है कि काश्मीर शैव

दर्शन में जगत्‌का निषेध नहीं है अपितु अज्ञान के कारण उद्‌भूत आसक्ति, राग, द्वेष, अहंकार, स्वार्थ आदि पञ्चकंचुकों से निवृत्ति बतलायी गयी है, संसार में रहकर इनसे निवृत्त रहकर प्रवृत्ति मार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया गया है।

इसी प्रकार **विक्रमोर्वशीयम्** के मंगलाचरण में कालिदास ने सभी देवों का समाहार "शिव" में ही कर दिया है।[१०] इसी प्रकार **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** के मङ्गलाचरण से तथा **कुमारसम्भव** में ख्यापित शिव के अष्टमूर्ति स्वरूप से यह स्पष्ट हो गया कि कालिदास के मतानुसार इस सम्पूर्ण जगत् में एकमात्र तत्त्व परम शिव है। न तो कोई पदार्थ उनसे रहित है न इतर। यह सम्पूर्ण सृष्टि उन्हीं का आत्मप्रसार है। इसीलिये उपनिषदों में उसके स्वरूप का ख्यापन करते हुये कहा गया है "रूपं रूपं प्रतिरूपं बबूव"[११]

मेघदूत में यद्यपि कवि ने मंगलाचरण में शिव का नाम नहीं लिया है किन्तु सम्पूर्ण काव्य में शिव के स्वरूप का सन्निवेश कर दिया है। जो मेघ निर्विन्ध्यादि नायिकाओं के साथ अनेक विलास करता है वही अन्त में मणितट पर शिव और पार्वती के आरोहण में सहायक होता है। जीवन के नाना संक्षोभों का वर्णन करते हुये कवि का परम लक्ष्य मेघ को अलका के उस लोक में पहुँचना है जहाँ शिव का परमनिवास है और इतने से ही उसे संतोष नहीं होता, वह तो सोपान के रूप में पूर्ण समर्पण के भाव से उपस्थित होना चाहता है। मेघ का मार्ग रामगिरि से अलका गमन का है-एक जगह भोग है दूसरी जगह संयम, एक मर्त्य है और दूसरा स्वर्ग्य-दोनों मार्गों का समन्वय ही उत्तम पथ है।[१२]

कुमारसम्भव यह काव्य शिव पार्वती के विवाह और कुमार के जन्म की कथा कहता है। इसलिये यह समष्टि प्रेम का काव्य है। शिव कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि विश्वमूर्ति है। पार्वती निखिल भूत में व्याप्त ल्हादिनी शक्ति है। इसलिए कवि ने इसके मंगलाचरण में केवल एक ही शब्द का प्रयोग किया है जो प्रथम श्लोक के आरम्भ में आया है- "अस्ति" अर्थात् "है"। **अभिज्ञानशाकुन्तल** के साथ तुलना करने पर यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। वहाँ अष्टमूर्ति शिव को वंदना है, अर्थात् जो शिव अपने आपको बहुधा विभक्त करके संसार में व्याप्त है उनसे कल्याण प्राप्त करने की प्रार्थना की गयी है। वह व्यक्ति-प्रेम का काव्य है जबकि **कुमारसम्भव** समष्टि प्रेम का काव्य है। इसलिये कवि ने केवल "अस्ति" शब्द का प्रयोग करके इंगित से यह बताने का प्रयत्न किया है कि शिव और पार्वती का प्रेम सत्ता मात्र है। वह है प्रत्येक पिण्ड के भीतर, मनुष्य लोक से देवलोक व्याप्त महाशक्ति की प्रेम-लीला है।[१३]

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव ज्ञान रूप है और शक्ति क्रिया रूपिणी। इसीलिए शक्ति के लिये क्रिया, स्पन्द, विमर्श आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। बिना शक्ति के शिव क्रियाहीन है अतः शक्ति की उन्मुखता ही शिव की सृष्टि करने की प्रवृत्ति है। यह सम्पूर्ण सृष्टि शिव शक्ति के स्पन्द का परिणाम है।[१४] इसलिये शिव और शक्ति का प्रेम समष्टि प्रेम है-व्यष्टि नहीं। **कुमारसम्भव** में हम देखते हैं कि सती के भस्म हो जाने पर शिव समाधि लगा लेते हैं, यह समाधि निश्चेष्टता की स्थिति है-यह तथ्य इस बात की ओर संकेत करता है कि शिव शक्ति के बिना क्रियाहीन है। यतः शिव की क्रिया-शक्ति शक्ति में ही निहित है अतः जब शक्ति नहीं तो फिर क्रिया कैसी ? शिव में उसी क्रिया का स्फुरण कराने के लिए ही तो पार्वती का आश्रय लेकर कामदेव ने बाण फेंका। ऐसा करने का एक मात्र उद्देश्य शिव और पार्वती का समागम करवाना है, जिससे शिव के वीर्य से उत्पन्न हुये पुत्र से तारकासुर का वध हो सके-क्योंकि ब्रह्मा का कथन है कि बिना शिव के पुत्र के उसका कोई संहार नहीं कर सकता। उस दारुण आसुरी शक्ति के प्रतीक स्वरूप तारकासुर को पराजित करने के लिये तपःपूत महिमशालिनी दैवी शक्ति की अपेक्षा है जो एक मात्र शिव में है। क्योंकि शिव साधारण देव नहीं अपितु तम के उस पार रहने वाले परम ज्योति स्वरूप हैं जिसे अविद्या स्पर्श नहीं कर सकती

स हि देवः परं ज्योतिस्तमः पारे व्यवस्थितम्।[१५]

कामदेव ने धर्म को पराभूत करके काम की प्रतिष्ठा करनी चाही थी। किन्तु "जगत् के कल्याण, आत्यन्तिक मंङ्गल का नाम शंकर है। विश्व कल्याण वंदन की उपासना में नहीं प्रत्युत उसके धर्म विरोधी रूप के दबाने में है। काम अपनी प्रभुता चाहता है। शिव कल्याण पर अपना बाण छोड़ता है। शंकर अपना तृतीय नेत्र खोलते हैं। तृतीय नेत्र ज्ञान नेत्र है। वह प्रत्येक मनुष्य के भ्रूमध्य में विद्यमान है। परन्तु सुप्त होने से हमें उसके अस्तित्व का पता नहीं चलता। शंकर का वह नेत्र जाग्रत है। इसी ज्ञान की ज्वाला में मदन का दहन होता है। धर्म से विरोध करने वाला काम भस्म की राशि बन जाता है।[१६]

गीता में भी भगवान् कृष्ण ने कहा है कि- "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" जिसको कि आगे चलकर **कुमारसम्भव** में प्रतिष्ठा मिली है। बिना तप के हृदयस्थित दुर्वासनाओं का शमन नहीं हो सकता। इसीलिए पार्वती जिसे रूप से वशीभूत करने में असमर्थ हुई उसे तप से वशीभूत करती हैं। तभी तो वे "तथाविधं प्रेम"- जिस प्रेम से वशीभूत हो शिव ने उन्हें अपना आधा अंग ही बना लिया (अर्धनारीश्वर) और "पतिश्च तादृशः"[१७] उस प्रकार का पति

अर्थात् जो मृत्युञ्जय है-कालातीत है उसे प्राप्त कर सकीं। पार्वती की तपस्या भी साधारण कोटि की तपस्या तो थी नहीं। काश्मीर शैव दर्शन में जिसे 'आणवोपाय' कहा गया है और योग की दृष्टि से जिसे 'हठयोग' कहा जा सकता है जिसमें यम, नियम, प्राणायाम आदि क्रियाओं का निरूपण है- सर्वप्रथम पार्वती ने उसे अपनाया। किन्तु अपनी इस तपस्या से उन्हें संतोष नहीं हुआ।[१८] शाक्तोपाय, जिसमें मानसिक क्रियाएँ-ध्यान, मनन, भावना आदि का प्राधान्य होता है, उन्हें तो पार्वतीजी ने प्रारम्भ से ही अपना लिया था क्योंकि ब्रह्मचारी से उनकी तपस्या के कारण का वर्णन करते समय सखियों ने इसका निर्देश किया है।[१९] स्वप्न में भी जिसका मन शिव से इतर नहीं है तो फिर जाग्रत की तो बात ही क्या? और जिसे शाम्भवोपाय कहा गया है, जिसमें योग की आध्यात्मिक साधनाओं के द्वारा पूर्णोहम् से एकाकार होने की दशा कही गयी है, उसे तो पार्वती ने प्राप्त ही कर लिया था।

"ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते।"[२०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव की समाधि की अवस्था जो कि अपने आप में महान् योगी की अवस्था है किन्तु वह कालिदास को स्तुत्य नहीं, क्योंकि वह नितान्त निवृत्ति की अवस्था है और हिमालय के घर से प्रथम बार शिव का वरण करने के लिए प्रवृत्त हुई रूपगर्वसम्पन्ना पार्वती नितान्त प्रवृत्ति की प्रतीक हैं। किन्तु कवि को तो प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का समन्वित रूप इष्ट है। इसीलिए उन्होंने त्याग के साथ ऐश्वर्य का, तपस्या के साथ प्रेम का मिलन कराके ऐसे शौर्य (कुमार) को जन्म दिया है जो समस्त आसुरी दुर्धर्ष प्रवृत्तियों पर विजय शाश्वत रूप से प्राप्त करेगा। शारीरिक सौन्दर्य पर आश्रित प्रेम क्षणभंगुर है इसी से एक क्षण को पार्वती के रूप पर आसक्त होकर शिव अन्तर्धान हो जाते हैं। इतना ही नहीं जब तक रूप तपस्या की अग्नि में दग्ध नहीं होता तब तक बन्ध्य ही रह जाता है (तपोपरान्त ही कुमार की उत्पत्ति होती है)। पार्वती का जीवन तपस्या और प्रेम का सामंजस्य है, शिव का भोग और वैराग्य का। **ईशावास्योपनिषद्** में भी कहा गया है-

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततोभूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तदवेदो भयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥[२१]

काश्मीर शैव दर्शन में कहा गया है कि शिव का स्पन्द ही सृष्टि क्रिया है। इसी को प्रतीकात्मक भाषा में शिव का आनन्दनर्तन स्वीकार किया गया है। इसे

ही दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शिव अपने आनन्द में स्पन्दित होकर सृष्टि क्रिया के रूप में नाचता अथवा खेलता है। सृष्टि को शिव का स्पन्द इसलिए कहा गया है क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव के अलावा कोई दूसरा तत्त्व है नहीं–वही विश्व में व्याप्त है और विश्वातीत भी। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" की भावना यहाँ स्फुरित हुई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शिव विश्व का एकमात्र आधार है जिसका स्पन्दन समस्त प्रकार के भेदों का कारण है। यतः काश्मीर शैव दर्शन में विश्व के कारण के रूप में परमशिव की ही एकमात्र सत्ता मानी गई है अतः विश्वीय व्यक्तियों के द्वारा शिव अनिर्वचनीय सत्ता है। काश्मीर शैव दर्शन में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को भी लघु देव माना गया है जो सर्वोच्च सत्ता शिव द्वारा जगत् के विभिन्न कार्यों यथा सृष्टि, पालन और संहार के निमित्त नियत हैं। इस प्रकार ये भी शिव के प्रसर्ग हैं। अतः शिव सर्वोच्च ईश्वर है–ईश्वरों का भी ईश्वर, इसीलिए वह अनादि और अजन्मा है (जिसके न कुल का पता है न जन्म का)[२२]

यह सम्पूर्ण जगत् शिव का स्पन्द है या शिव की सिसृक्षा का परिणाम है। वस्तुतः ब्रह्म ही अभेदावस्था से भेदावस्था को प्राप्त होकर इस विश्व ब्रह्माण्ड में स्त्री पुरुष रूप दो भागों में विभक्त है।

"स्त्री पुंसौ आत्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।" [२३]

"एक ही केवलात्मा का द्विधा विभक्त होकर परस्पर आकृष्ट करने का जो सिलसिला किसी समय आरम्भ हुआ था वही विश्व ब्रह्मांड के प्रत्येक पिण्ड में आज भी चल रही है।" [२४] स्पष्ट है कि विधाता ने शिव और शक्ति के रूप में द्विधा विभक्त हो जिस लीला को प्रवर्तित किया था वही समष्टि में शिव और शक्ति हैं तथा व्यष्टि में स्त्री और पुरुष। सृष्टि में पूर्व जो केवल चैतन्यमात्र स्वरूप होता है वही सिसृक्षा से तीन गुणों– सत्व, रज, तम रूपों में बँट जाने के लिए स्वयं भेद को प्राप्त होता है। उस परमब्रह्म का स्वपन ही महाप्रलय की स्थिति है क्योंकि वह क्रियाहीन या स्पन्दहीन दशा है और जागरण से ही संसार की सृष्टि होती है।

इन समस्त विरोधाभासों का समाधान एकमात्र काश्मीर शैव दर्शन के परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है, जहाँ पर एक मात्र शिव की ही सत्ता है और यह सम्पूर्ण जगत् शिव का ही स्वरूप माना गया है। इसी से उक्त वर्णन में शिव को प्रमाता और ज्ञेय दोनों कहा गया है। वह अनुभवकर्ता भी हैं और स्वयं अनुभूत पदार्थ भी, क्योंकि अनुभव करने वाली आत्मा और अनुभूत होने वाला जगत् दोनों वही है। सृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए वह किसी अन्य वस्तु की

अपेक्षा भी नहीं कर सकता क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य का सर्वथा अभाव है। ऊपर देवताओं की स्तुति का जो वर्णन किया गया है उससे एक बात यह भी ध्वनित हो रही है कि परमतत्त्व को इन्होंने जैसा कहा है वह तो वैसा है, किन्तु वे स्वयं वैसे नहीं है। यदि वैसे ही होते तो फिर विशेषता बतलाने की आवश्यकता ही क्या पड़ती ? ठीक यही दृष्टिकोण जगत् के सम्बन्ध में काश्मीर शैव दर्शन का भी है। यह तो सत्य है कि जगत् शिवमय है किन्तु इसे "शिव" ही नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि शिव तो सत्य है; यदि जगत् को भी शिव के समान ही सत्य माना जाये तो शिव के समान जगत् की स्वतंत्र सत्ता माननी होगी, फलत: अद्वैत भंग हो जायेगा। इसलिये जगत् को शिव का आभास माना जाता है जो तात्त्विक दृष्टि से शिव ही है किन्तु सत्ता की दृष्टि से शिव का आभास है।

काश्मीर शैव दर्शन में वासना के जिस उदात्तीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, वह कालिदास के ग्रन्थों में अभिव्यक्त हुआ है। तंत्रों की यह मान्यता है कि जैसे भौतिक शक्ति मरती नहीं केवल रूपान्तरित होती है, उसी प्रकार वासनारूप चैतन्य शक्ति भी मरती नहीं केवल रूपान्तरित होती है, यथा काम शक्ति ही रूपान्तरित होकर प्रेम, भक्ति आदि उदात्त रूपों में प्रकाशित होती है। कालिदास ने विरह या तपोसाधना के परिणाम में वासनाओं के उदात्तीकरण का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कालिदास के काव्यों में भारतीय संस्कृति के चिरन्तन आदर्श अनवद्य रूप में ध्वनित हुये हैं। कालिदास का प्रेम केवल आनन्द एवं उपभोग की खोज नहीं करता, प्रत्युत वह शिष्टता सुघड़ता तथा पवित्रता की भावना से ओत प्रोत हो मर्यादित कलेवर में समुपस्थित हुआ है। क्योंकि जब तक काम का प्रेम के रूप में उदात्तीकरण नहीं हो जाता तब तक संसार के साथ अपने अद्वैत का भाव नहीं आ सकता है। और बिना इस अद्वैत सिद्धि के मुक्ति सम्भव नहीं है। काम व्यष्टि का प्रतीक है और प्रेम समष्टि का। इसलिये काम अज्ञान रूप है और प्रेम ज्ञान रूप, और अज्ञान ही तो बन्धन है

"अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैक कारणम्" ।[९५]
द्वैतवाद ही अज्ञान है
"द्वैतप्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद् बन्ध उच्यते" ।[९६]

वासनाओं के उदात्तीकरण के फलस्वरूप ही व्यक्ति अद्वैत की ओर अग्रसर हो सकता है। वस्तुत: असंयत प्रकृति का नाम ही विकृति है और संयत प्रकृति का नाम संस्कृति। वासनायें विकृति की द्योतक हैं और उदात्तीकरण

संस्कृतता का। यही कारण है कि हम देखते हैं कि **कुमारसम्भव** एवं **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** दोनों में ही अनाहूत रूपासक्ति निरावृत होती है और तपस्या की ज्योति से विशुद्ध प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होने पर वही शीर्षस्थ सम्मान की अधिकारिणी भी बनती है। रूपासक्ति का प्रथम स्वरूप काम है और तपस्या द्वारा शोधित उसकी निर्मल कान्ति-प्रेम है। इस प्रेम की अवाप्ति जिसे हो गयी वही सुभग या सौभाग्यशालिनी है।

यही कारण है कि कालिदास ने अपने काव्यों में तप को प्रधानता दी है। क्योंकि तपस्या के द्वारा ही प्रकृति का संस्कृतिकरण किंवा उदात्तीकरण हो सकता है। इस उदात्तीकरण की प्रक्रिया में कालिदास ने जो आदर्श स्थापित किया है वह निश्चित रूप से अनुकरणीय है। **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** में वर्णित दोनों तपोवनों के सन्दर्भ में आचार्य द्विवेदी का कथन है कि– "यह मानना होगा कि पहला तपोवन मर्त्यलोक का है और दूसरा अमृत लोक का। अर्थात् पहला वह है जैसा "होता है"। दूसरा वह है जैसा "होना चाहिए"। इसी "होना चाहिए" का अनुकरण "होता है" करता रहता है। इसी दिशा में चलकर वह अपने आपको संशोधित करता है, पूर्ण करता है। "होता है" ही सती है, अर्थात् सत्य है, और "होना चाहिये" शिव है अर्थात् मंगल है। कामना का क्षय करके तपस्या के बीच सती और शिव का मिलन होता है। शकुन्तला के जीवन में भी "होता है" तपस्या द्वारा "होना चाहिये" तक पहुँचता है। दुःख के भीतर होकर मर्त्य अन्त में स्वर्ग की सीमा तक पहुँचता है।[२७]

अन्ततः काश्मीर शैव दर्शन में भी मर्त्य को स्वर्ग की सीमा तक पहुँचाने के लिये ही तो वासनाओं के उदात्तीकरण का विधान है।

कालिदास पर कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि इन्होंने रतिविलास का बहुत वर्णन किया है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो यह भी साधना का एक अंग है। कौल दर्शन में मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन इन पञ्च मकारों की साधना का निर्देश किया गया है[२८] जिसका उद्देश्य अपनी वासनाओं का उदात्तीकरण है। काम को यतः शक्ति रूप (काम शक्ति) माना जाता है अतः काम की भी साधना इसलिये निर्दिष्ट है कि शक्ति कहीं निरुद्ध न की जाये बल्कि उसका उदात्तीकरण किया जाये।

वस्तुतः भारतीय मनीषा उस विद्या को विद्या नहीं मानती जिसमें मुक्ति का संदेश न हो, जो मनुष्य को कर्मबन्धन से छुटकारा न दिला दे। जगत् में दृश्यमान समस्त विषमताओं का समाधान कर्म सिद्धान्त है। पूर्वजन्म में जिसने जैसा कर्म किया है उसका फल उसे भोगना ही पड़ेगा, वह उन्हें भोगने को तैयार हो या

नहीं। समस्त शास्त्र अपना अन्तिम लक्ष्य जन्म कर्म के बन्धन से छुटकारा पाने को कहते हैं। कालिदास की वाणी में भारतीय तत्त्वचिन्तन मुखरित हुआ है, इसलिये हमने पूर्व में ही यह निर्दिष्ट किया है कि कालिदास की वाणी कान्ता-सम्मित कलेवर धारण की हुयी है अर्थात् हृद्य तो है किन्तु गम्भीर भी। इस वाणी ने इस देश को अपूर्व मनीषा और महान् जीवन आदर्शों को प्राणपण से प्रतिष्ठापित किया है, यही कारण है कि समस्त तत्त्व-चिन्तन जो कि उपदेश के रूप में निबद्ध था उसे उन्होंने अपने पात्रों में रूपायित कर दिया। कालिदास पर काश्मीर शैव दर्शन का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है, यही कारण है कि उनका जीवनादर्श प्रवृत्ति परक है। यहाँ भक्ति एवं मुक्ति का समन्वय है। भोग को भी लीला का एक अंग माना गया है। जीवन्मुक्त के लिये भोग बन्धन का कारक नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में आत्मा वासनाओं से रहित होकर भोग करता है।[२९] वासना से प्रेरित भोग ही बन्धन का कारक है। वस्तुतः जीवन्मुक्ति उस दशा को कहते हैं जब कि देहादि के भास्यमान रहने पर भी चित् एवं आत्मा को दृढ प्रतीत हो जाती है।

"चिदानन्दलाभे देहादिषु चेतमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्ति दार्ढ्यं जीवन्मुक्ति (प्र. हृ. १६)

जैसा कि स्पन्दशास्त्र में भी कहा गया है

इति वा सस्यसंवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलम् जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥

अर्थात् जो निखिल विश्व को खेल जैसा मानता है और जो सदैव योग साधना में विरत रहता है वह निःसंदेह अपने जीवन काल में ही मुक्त हो जाता है।[३०]

इस निष्काम कर्म योग का वर्णन यत्र-तत्र कालिदास के काव्यों में बिखरा पड़ा है। यथा रघु के लिए वे कहते हैं– वे लोभ छोड़कर संसार के सुख भोगते थे।

अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखन्वभूत।
ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तो त्यागे श्लाघाविपर्ययः।
गुणागुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥
अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः।
तस्य धर्मरतेसारो वृद्धत्वं जरसा विना ॥[३१]

अतः स्पष्ट है कि उन्होंने अपना जीवन भोग छोड़कर धर्म की ओर प्रवृत्त कर लिया था। किन्तु निष्काम प्रवृत्ति परक मार्ग का इससे भी अच्छा क्या

उदाहरण मिलेगा कि यह समझकर कि वंश चलाना भी मनुष्य का धर्म है, इसलिये सन्तान उत्पन्न करके वंश चलाने की इच्छा से उन्होंने विवाह किया था किसी भोग विलास की लालसा में नहीं।[३२]

भोग और संन्यास का, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का युगपत् सामरस्य जैसा कालिदास में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वन गमन के लिये उद्यत राम के प्रति यह उक्ति है कि यह देखकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि राम के मुँह का भाव जैसा राज्याभिषेक के रेशमी वस्त्र पहनते समय था ठीक वैसा ही वन जाने के लिये पेड़ की छाल के वस्त्र पहनते समय भी था।[३३] यह मनोभूमि वहीं हो सकती है जहाँ संसार के समस्तद्वन्द्व समाप्त हो गये हों, सबको ईश्वर की लीला के रूप में व्यक्ति स्वीकार करने लग गया हो। ठीक यही बात तो गीता में भी श्रीकृष्ण ने कही है

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।"[३४]

किन्तु वहाँ वह उपदेश रूप में है उसे कालिदास ने चरित रूप में अवतीर्ण किया है।

काश्मीर शैव दर्शन में "पूर्णोहम्" की स्थिति को प्राप्त करने के लिये जिन- आणवोपाय, शाक्तोपाय शाम्भवोपाय का निर्देश किया है ठीक यही प्रक्रिया तो रघु के स्वरूप में लक्षित हो रही है। आणवोपाय में व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का निग्रह करता है, शाक्तोपाय में द्वैतज्ञान से अद्वैतज्ञान की ओर अग्रसर होने का प्रयास करता है, शाम्भवोपाय में पूर्णोहम् से एकाकार हुआ जाता है जहाँ पर अन्य किसी विकल्प के लिये अवकाश नहीं रह जाता "निर्विकल्पे परामर्शे शाम्भवोपायनामिनि।[३५]

स्पष्ट है कि रघु क्रमशः इन्हीं सोपानों पर चढ़ते हुये अविनाशी आत्मा में लीन हो गये।

इसीप्रकार राजा अतिथि के सन्दर्भ में कवि ने जो यह कहा है कि राजा अतिथि ने यह सोचकर कि बाहरी शत्रु तो सदा होते नहीं और होते भी हैं तो दूर रहते हैं, इसलिये उन्होंने शरीर के भीतर रहने वाले कामादि छओं शत्रुओं को पहले जीत लिया। यही तो जीवन्मुक्तता है जिसमें बाह्य संसार के प्रति कोई आसक्ति नहीं है- जो आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया के प्रति अग्रसर ही उठा है वही तो शिव को प्राप्त कर सकेगा।

प्रत्यभिज्ञा काश्मीर शैव दर्शन का अन्त्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। शिव के अभेद का अज्ञान ही आणवमल है और यही बन्ध का कारण भी- "यावत्

अनात्मनि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एवं ।[३६]

प्रत्यभिज्ञा ही वह साधन है जिसके द्वारा हम इस संसार से मुक्ति लाभ कर सकते हैं। यह साधन सभी प्रकार की सीमाओं तथा द्वैत भाव से परे है–

यत्तु ज्ञेयस्य तत्त्वस्य ज्ञानं सर्वात्मनोज्झितम् ।
अवच्छेदैर्न तत्क्वाप्यज्ञानं सत्यमुक्तिदम् ॥[३७]

यहाँ प्रत्यभिज्ञा और स्मृति में यह भेद समझ लेना समीचीन होगा कि स्मृति में बिना वस्तु को देखे भी उसका मानसिक अध्याहार कर लिया जाता है किन्तु प्रत्यभिज्ञा के लिये किसी भी स्मृति दिलाने वाली वस्तु का सन्मुख उपस्थित होना अनिवार्य होता है। यह प्रत्यभिज्ञा भी दो प्रकार की होती है बौद्ध एवं पौरुष । बौद्ध अज्ञान तो गुरूपदेश से दूर हो जाता है किन्तु इतने से ही शिवरूप की अवाप्ति नहीं होती, जब तक कि आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप मलों के नष्ट हो जाने से पौरुष ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती हैं। इसप्रकार प्रत्यभिज्ञा अणु रूप से शिव रूप में रूपान्तरण है : अज्ञान के कारण जो आत्मा अपने को सीमित अनुभव करती थी वह अज्ञान के दूर हो जाने पर "सर्वोपमायं विभवः" के रूप में स्वयं को असीम शिव रूप समझने लगती है। अतः स्पष्ट हैं कि संकुचित ज्ञान को विकसित करना प्रत्यभिज्ञा का उद्देश्य हैं।

इस प्रत्यभिज्ञा दर्शन की कालिदास के ग्रन्थों में अत्यधिक झलक दिखायी पड़ती है । **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** का तो नामकरण ही मानों प्रत्यभिज्ञा को ही आधार बना कर रखा है। फिर दुष्यन्त के प्रेम में लीन शकुन्तला को शाप भी दिलवाया तो दुर्वासा से।

शाप कवि किसी और से भी दिलवा सकता था, किन्तु दुर्वासा को लाना सोद्देश्य है। दुर्वासा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आद्याचार्य माने जाते हैं, अतः उनसे शाप दिलवाकर उस परम्परा का स्मरण किया गया है। दैवी विडम्बना देखिए– शकुन्तला को शाप का भी पता नहीं चलता है, प्रियंवदा जब महर्षि से बहुत अनुनय विनय करती है तो वे कहते हैं– "ततो मे वचनमन्यथाभवितुं नार्हति, किंत्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निर्वर्तिष्यत इति मन्त्रयन् स्वयन्तर्हितः।"[३८]

यहाँ पर "अभिज्ञानभरण दर्शन" प्रत्यभिज्ञा की ओर ही तो संकेतित कर रहा है। शकुन्तला पतिगृह जाती है और दुष्यन्त अंगूठी के अभाव में उसे पहचान नहीं पाता है और इसप्रकार प्रत्याख्यान से अपमानित शकुन्तला को दैवीशक्ति स्वर्ग की ओर ले जाती है जहाँ कश्यप ऋषि का आश्रम है। कण्व ऋषि के आश्रम

से आयी हुई शकुन्तला को देखकर राजा को "अबोधपूर्वा" स्मृति जागृत हो उठी और वह बड़े ही दुविधा की स्थिति में हैं–

"न च खलु परिभोक्तुं नापि शक्नोमि मोक्तुम"।[३९] और उसका आलोडित हृदय अन्त में कह ही उठता है–

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत् तु दूयमानं प्रत्याययतीव में हृदयम्॥[४०]

धीवर से अंगूठी पाकर उन्हें सारी घटनायें याद आ जाती हैं और हृदय पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसने लगता है।[४१] यही बोद्धज्ञान कहा जा सकता है, क्योंकि राजा को पूर्णतः शकुन्तला के प्रणय की सुध हो गई है–

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम्॥[४२]

उसके हृदय में अब कोई इच्छा शेष है तो शकुन्तला से मिलन की। वह यह सोच नहीं पा रहा है कि शकुन्तला उसके समक्ष आई और वह कैसे उसे पहचान न सका। वह यह निश्चय नहीं कर पा रहा है कि शकुन्तला का यह मिलन स्वप्न था, जादू था, भ्रम था या किसी ऐसे पुण्य का फल था जिसका भोग पूरा हो चला था।[४३]

दुष्यन्त के समस्त पश्चात्ताप को काश्मीर शैव दर्शन की शब्दावली में म्लानोपाय की अवस्था कह सकते हैं। क्योंकि जब वह बार-बार स्वयं को धिक्कारता है तो सानुमती कहती है–

"सति खलु दोषे व्यवधानदोषेषि: अन्धकारदोषमनुभवति"[४४]

अर्थात् जैसे दीपक के रहते हुए भी बीच में ओट पड़ जाने से अन्धेरा हो जाता है वैसे ही इस राजा को भी मोह हो गया है। जब कश्यप ऋषि के आश्रम वह शकुन्तला को देखता है तो सारे अहंकार का चोला उतार कर उसके पैरों पर गिर पड़ता है– "मैंने तुम्हारा जो निरादर किया था उसकी कसक तुम अपने मन से निकाल डालो, क्योंकि उस समय न जाने कहाँ से मेरे मन में अज्ञान का अन्धेरा आकर छा गया था। सचमुच जो तमोगुणी होते हैं वे अच्छे कामों में भी ऐसी भूल कर जाते है, क्योंकि अन्धे के गले में कोई माला भी पहनावे तो वह उसे साँप समझकर झटके से उतार फेंकता है।[४५] उसे स्वयं अपने पूर्वकृत्यों पर विश्वास नहीं होता और अपने अनुताप को मिटाने के लिए वह मारीच ऋषि से पूछता है कि– यह विस्मरण मुझे बड़ा विचित्र जान पड़ता है। मुझे अपनी यह

भूल ठीक वैसी ही लग रही है जसे आँखों के सामने से चले जाते हुए हाथी को देखकर मन में यह संदेह हो कि यह हाथी है या नहीं और फिर उसके निकट जाने पर उसके पैरों की छाप देखकर यह विश्वास किया जाए कि हाँ यह सचमुच में हाथी ही था।[४६] मारीच ऋषि उन दोनों को शाप की बात से अवगत कराते हैं और शकुन्तला को समझाते हैं कि अब तुम अपने पति पर क्रोध न करना। जैसे दर्पण पर धूल पड़ी रहने से उसमें ठीक छाया नहीं दिखायी देती और वही जब पोंछ दिया जाता है तब छाया बड़ी सरलता से दिखलायी पड़ने लगती है. वैसे ही शाप के कारण स्मृति धुँधली पड़ जाने से उन्होंने तुम्हें छोड़ दिया था पर अब शाप छूट जाने से उन्होंने तुम्हें भली-भाँति पहचान लिया है–

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोध रुक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा॥[५७]

मारीच ऋषि के कथन से ही इस बात की पुष्टि होती है कि प्रत्यभिज्ञा आत्मा का शुद्धीकरण है। दुष्यन्त की इच्छायें अब निःशेष हो गयी हैं। इसी से जब मारीच ऋषि कहते हैं कि कोई इच्छा हो तो बताओ, तब वह कहता है कि–

अतः परमपि प्रियमस्ति। यदि हे भगवान् प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हि इदमस्तु—

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः।
पुनर्भवं परिगत शक्तिरात्मभूः॥[४८]

जीवन्मुक्तता की स्थिति को वह प्राप्त हो चुका है अब उसे मोक्ष की–तदाकार होने की कामना है।

केवल अभिज्ञानशाकुन्तलम् में ही नहीं अपितु उनके अन्य ग्रन्थों में भी इस प्रत्यभिज्ञादर्शन की अस्फुट झलक परिलक्षित होता है। **विक्रमोर्वशीयम्** में भी पुरूरवा के प्रेम में मग्न उर्वशी को पुरुषोत्तम से ध्यान विचलित करने के कारण भरत मुनि से शाप मिलता है और वह मर्त्य लोक में आ जाती है। अभी तक जो अमर्त्य लोक में विचरण करती थी उसे अपने कर्मों के फलस्वरूप मर्त्य लोक में अवतरित होना पड़ता है। किन्तु उसे इससे दुःख नहीं होता है क्योंकि औरों की दृष्टि में जो शाप था वह उसके लिए वरदान ही सिद्ध हुआ, वह अपने प्रिय पुरूरवा का संसर्ग प्राप्त कर सकी। किन्तु अभी यह प्रेम भावैक रस नहीं रह सका था और हमने प्रारम्भ में ही कहा है कि कालिदास उच्छृंखल प्रेम की उपासना नहीं करते; और वह मान में प्रिय के मनाने पर भी कार्तिकेय वन में प्रविष्ट हो जाती है।

शापवश पुनः उसका पतन हो जाता है और वह लता बन जाती है। उसके विरह में पुरूरवा की विक्षिप्त की सी दशा हो जाती है और वह चराचर जगत् में अपनी प्रिया का अन्वेषण करता है। इसी बीच उसे पत्थरों के मध्य चमकता हुआ कोई पत्थर दिखायी पड़ता है, जिसे वह एक बार उठाता है किन्तु फिर उसे छोड़कर आगे बढ़ जाता है। किन्तु तभी उसे यह सुनायी पड़ता है–

> "वत्स ! गृह्यतां गृह्यताम् !
> सङ्गमनीयो मणिमिह शैलसुता चरणरागयोनिरियम्।
> आवहति धार्यमाणः सङ्गमचिरात् प्रियजनेन ॥[४९]

वह अचम्भित हो जाता है कि अरे यह कौन मुझे इस प्रकार आज्ञा दे रहा है। पुनः देखकर-लगता है किसी मुनि ने मुझ पर कृपा की है। भगवान् ! आपके इस उपदेश के लिए मैं आपका आभारी हूँ और मणि अब उठा लेता है। गुरूपदेश से संगमनीय मणि को उठाना बौद्ध प्रत्यभिज्ञा ही तो कही जायेगी। मणि को लेते हुए समीपस्थ लता का स्पर्श करता है तो उसे उर्वशी के गात्र के समान सुख की अनुभूति होती है, किन्तु उसे विश्वास नहीं होता है क्योंकि जिसे वह अपनी प्रिया समझता था वही क्षण भर में बदल जाती थी। वह निश्चय करता है कि आँख खोलेगा ही नहीं। किन्तु थोड़ी देर बाद जब वह थोडी सी आँख खोलता है तो कहता है– " कथं सत्यमेव प्रियतमा "[५०] और मूर्छित हो जाता है। पुनः मूर्छा से उठकर कहता है कि– तुम्हारे वियोग के अन्धेरे में डूबते हुए मैंने भाग्यवश तुम्हें उसी प्रकार पा लिया है जैसे मरे हुए को प्राण मिल जाते हैं।[५१] उर्वशी जब क्षमा माँगती है तब वह कहता है– " कल्याणि ! न तावदहं प्रसादयितव्यः। त्वद्दर्शनादेव प्रसन्न बाह्यान्तःकरणोऽन्तरात्मा। तत् कथय कथमियन्तं कालोवस्थिता मया विना भवती। "[५२] आन्तरिक एवं बाह्य सभी इन्द्रियों की प्रसन्नता ही तो पूर्णानन्द की स्थिति है। " इतने " दिनों तुम मेरे बिना रही कैसे ? इस कथन से यह स्पष्ट ध्वनित हो रहा है कि जब हम दोनों की आत्मायें एक हो चुकी हैं तब तुम कैसे इतने दिन विरह दुःख सह सकी ?

ठीक इसी प्रकार **कुमारसम्भव** में शिव की पूर्वपत्नी दक्षकन्या परमसाध्वी सती ने योग बल से अपना शरीर छोड़ दिया और दूसरा जन्म लेने के लिये वे हिमालय की वधु मेना की कोख में आ बसीं।[५३] इधर जब से सती ने अपने पिता दक्ष के हाथों शिव जी का अपमान होने पर क्रोध करके यज्ञ की अग्नि में अपना शरीर छोड़ दिया तभी से शिव जी ने भी समस्त भोगविलास त्याग दिये और दूसरा विवाह भी नहीं किया।[५४] सब तपस्याओं का स्वयं फल देने वाले अष्टमूर्ति ने अपनी दूसरी मूर्ति अग्नि की समिधा से जगाकर,

" स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार ।"
न जाने किस फल की इच्छा से तप करने लगे ।

एक दिन हिमालय के पास बैठी हुयी कन्या को देखकर नारद जी ने भविष्यवाणी की कि यह कन्या अपने प्रेम से शिव जी के आधे शरीर की स्वामिनी और उनकी अकेली पत्नी बनकर रहेगी ।

" समादिदेशैकवधू भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्या ।"[५६]

मानों नारद जी की यह भविष्यवाणी ही पार्वती के लिये बौद्ध प्रत्यभिज्ञा सिद्ध हुयी और उन्होंने अपनी समस्त साधना का लक्ष्य शिव की अवाप्ति को बनाया । और तब तक तप करती रह गयीं जब तक " भावैक रस "[५७] नहीं हो गयीं । यही तो चरमसिद्धि है ।

इसीप्रकार मेघदूत में काम की असंयत प्रकृतता को प्राप्त यक्ष शाप का भागी हो अपनी कान्ता से विमुक्त होता है । किन्तु शनैः शनैः उसकी इन्द्रियाँ अपने विषयों से विनिवृत्त हो जाती है । उसके अनुभवों के बहिःकेन्द्र रसशून्य हो जाते हैं और समस्त रस हृदय में संचित हो जाते हैं । इस निर्मल स्थिति को प्राप्त मनुष्य में स्थूल भोगों के प्रति ईप्सा नहीं होती है और यह मेघ से प्रेम का संदेश भेजवाते हुये कहता है– जब चाही हुयी वस्तुयें नहीं मिलती तभी उन्हें पाने के लिये प्यास बढ़ जाती है और ढ़ेर का ढ़ेर प्रेम आकर इकठ्ठा हो जाता है

स्नेहानाहुः किमपि विरहेध्वंसिनस्ते त्वभोगादिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ।।[५८]

कालिदास की दृष्टि में " कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु "[५९] कामार्त हुआ वह यक्ष चेतन और अचेतन के भेद को बिल्कुल विस्मृत कर उठा है । किन्तु यक्ष के इस भेदीकरण में और हम सामान्य जनों की भेद दृष्टि में अन्तर है । हम चेतन को ही अचेतनवत् समझ रहे हैं । यही तो हमारा अज्ञान है । किन्तु यक्ष इस अज्ञान मोह के बन्ध से ऊपर उठ चुका है । वह अचेतन में भी चेतन को देख रहा है, उसी विश्वात्मा की झलक उसे सर्वत्र दृष्टियत हो रही है । तभी तो वह मेघ से भी संदेश प्रेषण में समर्थ हो सका है । चित्त का सीमाबद्ध होना ही दुःख है और चित्त का असीमित विस्तार ही परम आनन्द है । ठीक यही लक्ष्य काश्मीर शैव का भी प्रतिपाद्य है–

" सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पनां प्रसरेऽपि महेशता ।।[६०]

अर्थात् जो व्यक्ति सम्यक् रूपेण यह समझ लेता है कि यह समस्त वैभव मेरा ही है, वह नाना विकल्पों के फैले रहने पर भी अपनी आत्मा के सभी पदार्थों से तादात्म्य के कारण माहेश्वर्य की स्थिति प्राप्त कर लेता है। यतः जगत् शिव का ही लीलाभास माना गया है अतः जगत् की प्रत्येक वस्तु के प्रति श्रद्धा का भाव यहाँ प्रदर्शित किया गया है। यह भावना इस मूल में है कि सभी शिवरूप है। इसकी स्पष्ट झलक कालिदास में दृष्टिगत होती है। उनके काव्य में कोई भी उपेक्षणीय नहीं, जड़, चेतन समस्त प्रकृति उपास्य हो उठी है। जब चेतन अचेतन के ज्ञान का बोध होकर हम सभी को चेतन जानने लगते हैं, तभी हम उपनिषद् में प्रतिपादित प्रेम अथवा आनन्द के रहस्य को समझकर ईप्सित स्थान में मनोदूत भेजने को विकल हो उठते हैं। वह रहस्य क्या है, " न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियोभवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति, न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति " अर्थात् पति को स्थूल देह या प्रियतमा की स्थूल देह के लिये पति और पत्नी प्रिय नहीं लगते, वे तो आत्मा के लिये लगते हैं क्योंकि प्रेम और उससे जनित आनन्द का केन्द्र आत्मा है। उसके साथ शापवश हमारा वियोग हुआ है। उसके समीप अपनी जोगी हुयी चेतना के मनोदूत भेजने में ही कल्याण है।"[६१]

इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि शिव और आत्म का तादात्म्य और योग द्वारा उस परमशिव का आत्मसाक्षात्कार करना ही कालिदास की प्रच्छन्न दार्शनिक दृष्टि रही है। वस्तुतः शिव के वास्तविक स्वरूप को कोई जल्दी जान ही नहीं सकता " न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः।"[६२] कालिदास के अनुसार योग के द्वारा परमात्मसंज्ञक परमज्योति का दर्शन करना ही जीवन की चरम सिद्धि है

" भोगोत्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपाहराम।"[६३]

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि कालिदास का जीवन दर्शन " शिवस्वरूपाभिज्ञान " की प्रेरणा से ओतप्रोत है। यह तथ्य उनके समस्त काव्यों में " शब्दार्थ " की तरह अनुस्यूत है।

– विभारानी दुबे

८२, साकेत नगर
संकटमोचन
वाराणसी २२१००५

टिप्पणियाँ

१. *The Harmony of Virtues*, Vol. 3, p. 217, Sri Aurobindo Birth Centenary Library–Pondicherry, 1972
२. ईशावास्योपनिषद्–मन्त्र १५.
३. सौन्दरानन्द,
४. कभिज्ञानशाकुन्तलम्, ८-३५
५. रघुवंशम्, ८-३०
६. रघुवंशम्, १-१
७. सोमानन्द, शिवदृष्टि, ३-२-३
८. मालविकाग्निमित्रम्, १-१
९. इसीलिये तो प्रत्यभिराहृदयम् में कहा गया है कि वह इस नाना उपकरणमय विश्व का अपनी इच्छा से तथा अपनी ही भित्ति पर उन्मोलन करती हैं– "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मोलयत्ति", प्र. हृ. सूत्र २
१०. विक्रमोर्वशीयम्, १-१
११. कठोपनिषद् १-२-१
१२. मेघदूतम्, १-६०
१३. हजारीप्रसाद द्विवेदी; कालिदास की लालित्य योजना, पृ. २२
१४. एक परम शिव है और उसी से शिव से लेकर धरणीपर्यन्त तत्वों का स्फुरण परम शिव से अभिन्न रूप में हुआ करता है–"श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णोविश्वात्मकः......, शिवादिधरण्यन्तमखिलं अभेदेनैव स्फुरितं। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, अड्यार लाइब्रेरी, पृ. २९
१५. कुमारसम्भवम्, २-५८
१६. पं. बलदेव उपाध्याय, "कालिदास का संदेश", कालिदास ग्रन्थावली–सम्पादक–श्री सीताराम चतुर्वेदी, पृ. २१
१७. कुमारसम्भवम्, ५-२
१८. वहीं, ५-१८-२९
१९. वहीं, ५-६७
२०. वहीं, ५-८२
२१. ईशावास्योपनिषद्, ९-११

२२. वहीं, २-६
२३. कुमारसम्भवम्, २-७
२४. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य योजना, पृ. ६४
२५. तन्त्रालोक, १-२२
२६. वहीं, १-३०
२७. कालिदास की लालित्य योजना, पृ. १३०
२८. मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ।
मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम् ॥
२९. सर्वशोषी यथा सूर्यः सर्वभोगी यथाऽनलः ।
योगी भुक्त्वाखिलान्भोगान् तथा पापैर्न लिप्यते ॥
कुलार्णव तन्त्र, ९-७६
३०. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ. १२४-२६
३१. रघुवंशम्, १-२१-२३
३२. रघुवंशम्, १-२५
३३. वहीं, १२=८
३४. श्रीमद्भगवद्गीता, २-३८
३५. तंत्रालोक, ३-२७४
३६. शिवसूत्र विमर्शिनी, पृ. १३
३७. तन्त्रालोक, १-७२
३८. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ. ४७९
३९. वहीं, ५-१९
४०. वहीं, ५-३१
४१. वहीं, ६-५
४२. वहीं. ६-७
४३. वहीं, ६-१०
४४. वहीं, पृ ५३६
४५. वहीं, ७-२४
४६. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ७-३१
४७. वहीं, से-३२
४८. वहीं, ७-३५
४९. विक्रमोर्वशीयम्, ४-३७
५०. वहीं, पृ. ४०४

५१. **विक्रमोर्वशीयम्** पृ. ४-४१
५२. वहीं, पृ. ४०५
५३. **कुमारसम्भवम्**. १-१
५४. कहीं, १-५३
५५. वहीं, १-५७
५६. वहीं, १-५०
५७. **कुमारसम्भवम्**, ५-८५
५८. **मेघदूतम्**. २-४९
५९ वहीं, १-५
६०. **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, पृ. ११६
६१. डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, **मेघदूत**, पृ. १२९
६२. **कुमारसम्भवम्**. ५-७७
६३. वहीं, ३-५८

विचारों में स्वराज

आज हम राजनीतिक संदर्भ में स्वराज अथवा आत्म-निर्णय की बात करते हैं। मनुष्य का मनुष्य के ऊपर आधिपत्य राजनीति के क्षेत्र में ही सबसे अधिक महसूस होता है। किन्तु आधिपत्य का एक सूक्ष्मतर रूप भी होता है जो विचारों के क्षेत्र में एक संस्कृति द्वारा दूसरी संस्कृति पर हावी होने में दिखाई देता है। यह आधिपत्य अन्ततः अधिक चिन्ताजनक होता है क्योंकि साधारणतः इसे लोग महसूस ही नहीं करते। राजनीतिक दासता का मूल अर्थ होता है किसी राष्ट्र के बाह्य जीवन पर नियन्त्रण। यद्यपि इस नियन्त्रण की प्रवृत्ति शनैः शनैः आन्तरिक जीवन में उतरने की होती है तथापि नियन्त्रण के प्रति सजगता इस प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्य करती है। जब तक व्यक्ति किसी बन्धन के प्रति सचेत है तब तक उसके द्वारा उसका प्रतिरोध भी संभव है। उसे एक अपरिहार्य बुराई के रूप में सहते हुए भी आत्मा में वह स्वतन्त्र रहा जा सकता है। दासता तब प्रारंभ होती है जब व्यक्ति बुराई को महसूस करना ही बन्द कर देता है। जब अशुभ को शुभ के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो वह दासता और गहन-गंभीर हो जाती है। सांस्कृतिक पराधीनता साधारणतः अचेतन प्रकार की होती है और उसमें दासता प्रारंभ से ही निहित होती है। जब मैं सांस्कृतिक पराधीनता की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय किसी विदेशी संस्कृति को मात्र अपना लेने से नहीं होता। इस प्रकार का अपना लेना अवांछनीय ही हो यह आवश्यक नहीं है। एक स्वस्थ विकास के लिए यह कभी-कभी ज़रूरी भी हो सकता है। किसी भी परि-स्थिति में उसका अर्थ स्वाधीनता की हानि नहीं होता और नहीं होना भी चाहिए। सांस्कृतिक पराभव केवल तब होता है जब व्यक्ति के अपने परम्परागत विचारों और भावनाओं को बिना तुलनात्मक मूल्यांकन के ही एक विदेशी संस्कृति के विचार और भावनाएँ उखाड़ फेंकते हैं और वह विदेशी संस्कृति व्यक्ति को एक प्रेत या भूत की तरह अपने वश में कर लेती है। इस प्रकार की पराधीनता आत्मा की दासता है। जब व्यक्ति अपने आप को उससे मुक्त कर लेता है तो उसे लगता

है जैसे उसकी आँखें खुल गई। उसे एक नये जन्म की अनुभूति होती है। इसे ही मैं विचारों का स्वराज कहता हूँ।

इन दिनों जब हमारा राजनीतिक भाग्य अनिश्चित अवस्था में है, एक ऐसे सन्देह को शब्द देने की इच्छा होती है जिसे अभी तक अस्पष्टतः ही महसूस किया गया है और अभद्र कह कर उसे दबा दिया गया है। हमने किस सीमा तक अपनी पश्चिमी शिक्षा को सामान्यतः आत्मसात् किया है और कहाँ तक उसने एक सम्मोहन की तरह काम किया है? निश्चय ही कम-से-कम कुछ लोगों ने उसे किसी अर्थ में आत्मसात् किया है, किन्तु उनके बारे में भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उन्होंने इस बाहरी संस्कृति को अपनी इस देशज संस्कृति के साथ पूरे और सजग संघर्ष का मौका देने के बाद उसे स्वीकार किया है? आज उस बात को स्वीकार किया जा रहा है जिसे पश्चिमी शिक्षा के प्रारंभिक दिनों में यथेष्ट मान्यता नहीं दी जाती थी–कि हमारे पास भी एक अत्यन्त समृद्ध संस्कृति थी जिसका तुलनात्मक मूल्य अभी तक पूरी तरह सुनिश्चित नहीं हुआ है। वर्तमान व्यवस्था में सामान्यतः पहले हमें पश्चिमी संस्कृति दी जाती है और फिर हम कभी कभी अपनी प्राचीन संस्कृति में इस तरह झाँकने की कोशिश करते हैं मानों वह कोई कौतुक की बात हो। हमारी दृष्टि विदेशी प्राच्यविदों की दृष्टि ही होती है और फिर भी हम कहते हैं कि हमारी यह प्राचीन संस्कृति कोई अजूबा नहीं है। हमारे अनेक शिक्षित लोग अपने इस देशज रूप को न जानते हैं और न जानना भी चाहते हैं। जब वे उसे खोजते भी हैं तो यह महसूस करके नहीं कि वे अपनी ही आत्मा को खोज रहे हैं, जैसा उन्हें करना चाहिए।

इस बात से कोई असहमत नहीं हो सकता कि ये पश्चिमी संस्कृति–विचारों और भावनाओं का एक पूरा तन्त्र–हमारे ऊपर आरोपित की गई है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अनिच्छुक लोगों पर लादी गई है : हमने स्वयं ही इस शिक्षा की माँग की थी और यह मानना शायद उचित ही है कि कई मामलों में यह वरदान सिद्ध हुई है। मेरा इतना ही मन्तव्य है कि इस शिक्षा को हमारे प्राचीन भारतीय मन के साथ सजगतापूर्वक नहीं जोड़ा गया है। वह भारतीय मन अधिकांश शिक्षित लोगों में निष्क्रिय हो चुका है और संस्कृति के सचेतन स्तर के नीचे चला गया है। वह उनके पारिवारिक जीवन के चले आ रहे कामों और कुछ सामाजिक और धार्मिक कृत्यों में अभी भी सक्रिय है, किन्तु इनका इन शिक्षित लोगों के लिए कोई अर्थ नहीं रह गया है। यह मन नई शिक्षा से प्राप्त होने वाले विचारों का न स्वागत करता है, न विरोध। वह सांस्कृतिक क्षेत्र में दख़लन्दाज़ी करने का साहस ही नहीं करता।

इन परिस्थितियों में एक आरोपित संस्कृति का सार्थक या जीवन्त आत्मीयीकरण हो ही नहीं सकता। और फिर भी नये विचारों को एक प्रकार से अपनाया ही जा रहा है। कुछ लोग उन्हें समझ लेते हैं और कल्पना की सहायता से उनका मर्म जान लेते हैं। ये विचार भाषा तथा कुछ आरोपित संस्थाओं में स्थापित हो चुके हैं। इस भाषा और उन संस्थाओं के लगातार अभ्यास से कुछ ऐसी निष्प्राण विचारणा की आदतें पैदा होती हैं जो सच्ची विचारणा जैसी लगती हैं। पश्चिम के समृद्ध और सशक्त जीवन से उत्पन्न हुए ये विचार हम में एक ऐसे छाया-मन को जन्म देते हैं जो सच्ची सर्जनात्मकता के अतिरिक्त अन्य मामलों में एक वास्तविक मन की तरह काम करता है। इन प्राण फूँकने वाले पश्चिमी विचारों के साथ सौ वर्ष के सम्पर्क के बाद कोई भी यह अपेक्षा करेगा कि आधुनिक विश्व-संस्कृति और विचारों को एक विशिष्ट भारतीय शैली में एक सशक्त भारतीय योगदान मिलेगा, विशेष कर इतिहास, दर्शन और साहित्य जैसे मानविकी विषयों को–एक ऐसा योगदान जो एक ओर तो उन भारतीयों को आनन्दित कर सके जिनमें अभी सच्चा भारतीय मन मर नहीं गया है और दूसरी ओर जिसे अन्य लोग भारत की अपनी आत्मा का दर्पण मान सकें। कुछ विलक्षण प्रतिमाओं को छोड़कर-और विलक्षण प्रतिमाएँ काल-मुक्त होती हैं-हमारे शिक्षित लोगों के ऐसे सर्जनात्मक योगदान का विशेष प्रमाण कहीं दिखाई नहीं देता।

सर्जनात्मकता के सरलतर रूपों की बात भी की जा सकती है–उस प्रकार की सर्जनात्मकता जो हमारे दैनिक जीवन में दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, विश्व में हमारी वास्तविक स्थिति के विषय में निर्णयों की रचना में। हम विश्व आन्दोलनों के बारे में बात करते हैं और पश्चिमी जीवन और विचारों के तत्त्वों और ब्योरे के साथ हमारा अच्छा परिचय है। फिर भी हम सदैव यह ठीक तरह से नहीं समझ पाते कि हम आज वास्तव में कहाँ खड़े हैं और अपने किताबी सिद्धान्तों को जीवन में अपनी स्थिति पर कैसे लागू करें। हम या तो पश्चिमी संस्कृति द्वारा दिये गये निर्णयों को बिना सोच समझ के स्वीकार कर लेते हैं या उन्हें दोहराते हैं, या उनका नपुंसक विरोध करते हैं। अपनी स्थिति के आन्तरिक ज्ञान पर आधारित अपने विषय में कोई अनुमान हम फिर भी नहीं लगा पाते।

राजनीति के क्षेत्र में, उदाहरण के लिए, हम अभी यह समझना शुरु ही कर रहे हैं कि हम बहुत समय से व्यर्थ ही उन सिद्धान्तों पर निर्भर करते आ रहे हैं जिनकी सार्थकता केवल स्वतन्त्र और सुस्थापित देशों में ही हो सकती है। 'शक्ति' नामक उस अल्पज्ञात वस्तु की हमें यथेष्ट समझ नहीं है जो किसी भी तर्क या राजनीतिक विद्वत्ता से अधिक वास्तविक है। समाजसुधार के क्षेत्र में

हमने अपनी परम्परागत सामाजिक संरचना के अन्तर्मुखी स्वरूप को समझने का प्रयास कभी नहीं किया और न यह प्रश्न उठाया कि पश्चिम के सामाजिक सिद्धान्त व्यवहार में कहाँ तक सार्वभौमिक बन सकते हैं। हम या तो एक अविवेचित रूढ़िवाद को अपना रहे हैं या उस काल्पनिक प्रगतिशीलता को जो वस्तुतः पश्चिम की निर्हेतुक नकल मात्र है।

फिर, शिक्षा के क्षेत्र में हममें से कितने व्यक्तियों ने पश्चिमी संस्कृति और चिन्तन को विशिष्ट भारतीय दृष्टि से परखा है? एक विदेशी के लिये किसी अन्य देश के साहित्य का रसास्वादन करना संभव तो है किन्तु यह अपेक्षा करना स्वाभाविक ही नहीं वरना उचित ही होगा कि उसका मन एक मूलनिवासी के मन से भिन्न तरह से प्रतिक्रिया करेगा। उदाहरण के लिये एक फ्रांसीसी शेक्सपियर को एक अंग्रेज़ की तरह नहीं समझ सकेगा। हमारी शिक्षा मुख्यतः अंग्रेज़ी साहित्य के माध्यम से किया हुआ आयात है। परम्परा और इतिहास की दृष्टि से भारतीय मन अंग्रेज़ी साहित्य की आत्मा से फ्रांसीसी या जरमन मन की अपेक्षा कहीं अधिक दूर है और फिर भी जहाँ तक मैं जानता हूँ किसी भारतीय ने अंग्रेज़ी साहित्य का ऐसा मूल्यांकन नहीं किया है जिसमें उसकी भारतीय मानसिकता झलकती हो।

उसके निर्णय वास्तव में किसी अंग्रेज़ आलोचक के निर्णयों से भिन्न नहीं होते और इससे यह सन्देह पैदा होता है कि ये उसके अपने निर्णय हैं भी या नहीं, या ये पश्चिमी शिक्षा द्वारा प्रभावित मन की यन्त्रवत् विचारणा है।

किसी आधुनिक शिक्षा-प्राप्त भारतीय के दार्शनिक लेखन में यह संकेत नहीं मिलता कि उसने भारतीय और पश्चिमी चिन्तन का संश्लेषण करने में सफलता पाई है। भारतीय दर्शन के दृष्टिकोण से पश्चिमी दार्शनिक तन्त्रों पर कोई निर्णय दिखाई नहीं देते। यद्यपि भारतीय दर्शन का पश्चिमी दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने के प्रयास हुए हैं तथापि अभी तक यह स्वीकार नहीं किया गया है कि दोनों दार्शनिक परम्पराओं के आधारभूत तत्त्वों की समीक्षा किसी सार्थक तुलनात्मक मूल्यांकन के पहले आवश्यक है। दर्शन में ही पूर्वी और पश्चिमी विचारों के प्रभावी सम्पर्क की संभावना है। विश्व संस्कृति को प्राचीन भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान दर्शन के क्षेत्र में ही है। यदि आधुनिक भारतीय मन को प्रयोजनपूर्ण दार्शनिक निर्माण करना है तो उसे पूर्वी और पश्चिमी विचारों का एक दूसरे से सामना कराना होगा और, यदि संभव हो तो, उनका संश्लेषण अथवा तर्क-सम्मत अस्वीकरण करना होगा। आधुनिक भारत को भारतीय आत्मा की खोज यदि कहीं करना आवश्यक है तो दर्शन में। यहीं हम, यदि संभव है तो,

अपने पुरातन और वर्तमान मन के बीच सातत्य प्राप्त करना है और भारत का कोई लक्ष्य है तो उसे सिद्ध करना है। कला में भारतीय आत्मा के अनावरण का कार्य तो एक विलक्षण प्रतिभा कर सकती है किन्तु उसे विधिवत् खोजने का प्रयास दर्शन में ही संभव है।

हमारी शिक्षा ने अब तक हमें अपने आप को– अपने अतीत के महत्त्व को, अपने वर्तमान की वास्तविकताओं को तथा भविष्य के लक्ष्य को समझने में कोई सहायता नहीं दी है। उसने हमारे वास्तविक मन को अचेतन में धकेलने और उसके स्थान पर एक ऐसे छाया-मन को ही बैठाने का कार्य किया है जिसकी जड़ें हमारे अतीत तथा वर्तमान की वास्तविकताओं में नहीं हैं। हमारे पुरातन मन को पूरी तरह भूमिगत होने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता और उसका आरोपित स्थानापन्न कभी प्रभावी एवं सर्जनात्मक नहीं बन सकता। फलत: इन दोनों मनों के बीच अस्पष्टता की स्थिति है और वैचारिक जगत् में एक ऐसी निराशजनक स्थिति बन गई है जिसमें कोई किसी की बात नहीं समझ पा रहा है। हमारा चिन्तन पूर्णत: संकर बन चुका है और एक अनिवार्य परिणाम के रूप में वन्ध्या भी। दासता हमारी आत्मा में प्रविष्ट हो चुकी है।

विचारों की यह संकरता मातृभाषा और अंग्रेज़ी की उस खिचड़ी भाषा में परिलक्षित होती है जिसे अधिकांश शिक्षित लोग आज बोल रहे हैं। सांस्कृतिक धारणाओं को अपनी भाषा में व्यक्त करने में हमें विशेष कठिनाई होती है। उदाहरण के लिये, आज का प्रवचन मुझे यदि बँगला में देना पड़ता तो बहुत अधिक श्रम करना पड़ता। अपनी भाषा में गंभीर बातचीत की एक स्तुत्य प्रवृत्ति इन दिनों दिखाई पड़ रही है, किन्तु उसमें सदा सफलता नहीं मिलती। संक्रमण-काल में शायद यह स्वाभाविक ही है। भाषा की इस कठिनाई पर विजय विचारों में स्वराज की दिशा में एक बड़ा कदम होगा।

हमारी शिक्षा तथा हमारे दैनिक जीवन पर पश्चिमी राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं के प्रभाव ने वैचारिक संकरता उत्पन्न की है वह आज की परिस्थिति का एक अत्यन्त क्लेशकर पक्ष है। वह अप्राकृतिक है और उसके साथ वही सलूक होना चाहिये जो एक परम्परावादी हिन्दू वर्ण-संकर के साथ करता है। इसका अर्थ बौद्धिक जगत् में अव्यवस्था मात्र नहीं है। सभी महत्त्वपूर्ण विचारों में आदर्श निहित होते हैं। उनमें एक पूरा सिद्धान्त और एक जीवन-दृष्टि समाहित रहती है। चिन्तन या तर्कबुद्धि सार्वभौमिक हो सकते हैं, किन्तु भिन्न भिन्न संस्कृतियाँ अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार प्रत्ययों का निर्माण करती हैं। एक

सांस्कृतिक भाषा के किसी प्रत्यय का शुद्ध अनुवाद दूसरी सांस्कृतिक भाषा में नहीं हो सकता। प्रत्येक संस्कृति का एक अपना 'आकृति विज्ञान' होता है जो उसके प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विचार और आदर्श में प्रतिबिम्बित होता है।

विभिन्न संस्कृतियों से प्राप्त विचारों की थिगली या पैबन्द पण्डितोचित बुद्धि को उसी प्रकार अप्रिय लगेंगे जिस प्रकार आध्यात्मिक चेतना को आदर्शों की खिचड़ी लगती है। विभिन्न संस्कृतियों और सांस्कृतिक आदर्शों की सीमाओं के अन्तर्गत रहकर भी समन्वय तथा संश्लेषण के लिए स्थान अवश्य होता है। बदलते समय और आदर्शों के साथ अनुकूलन ही जीवन है। किन्तु अनुकूलन की विधि के विषय में हम सदैव स्पष्ट नहीं रह पाते। चूंकि हमें जीवित रहना है इसलिये हमें तथ्यों को स्वीकार करना पड़ता है और अपने धर्मेतर जीवन और विचारों को समय के अनुकूल बनाना पड़ता है। परिस्थिति के अनुसार अपने आपको बदलना भी पड़ता है। इसके विपरीत आध्यात्मिक जीवन के समक्ष समयानुसार आदर्शों के साथ समझौता करने की कोई मजबूरी नहीं होती। यहाँ तो यदि संभव हो और जहाँ तक हमारी सामर्थ्य में हो, समय को ही अपने जीवन के अनुकूल बनाया जाता है, जीवन को समय के साथ नहीं।

विश्व हमारा सामना आक्रामक हितों से ही नहीं आक्रामक आदर्शों से भी कराता है। इन थोपे हुए आदर्शों को हमारे परम्परागत आदर्श क्या प्रत्युत्तर दें? नये आदर्शों को स्वीकार किये बिना हम उनका सम्मान कर सकते हैं, हम समझौता किये बिना संश्लेषण करने का प्रयास कर सकते हैं या उन्हें हम अपने ही आदर्शों की परिपूर्णता मानकर स्वीकार कर सकते हैं। भिन्न-भिन्न आदर्शों के लिये भिन्न-भिन्न प्रत्युत्तरों की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु किसी भी अवस्था में एक अनुकूलन-हीन अथवा यान्त्रिक अनुकूलन द्वारा बनी हुई वैचारिक खिचड़ी को आत्मतोष में समाधान के रूप में स्वीकार करना अवांछनीय होगा, क्योंकि इसमें सम्मिलित किसी भी आदर्श को आत्मा की पूरी निष्ठा प्राप्त नहीं हो सकेगी। जहाँ विभिन्न आदर्श इस आशा में स्वीकार कर लिये जाते हैं कि कालान्तर से कोई संश्लेषण जन्म ले लेगा वहाँ इस 'खिचड़ी' से समाधान नहीं माना जाता है और उसका अवांछनीय होना आवश्यक नहीं है।

हम पश्चिमी विचारों और आदर्शों की अपने परम्परागत विचारों और आदर्शों के साथ टकराहट की बात– शायद अत्यधिक वाक्चपलता के साथ– करते हैं। अनेक बार तो यह टकराहट न होकर मात्र वैचारिक अव्यवस्था होती है और वास्तविक समस्या इस अव्यवस्था को दूर कर पहले उसे एक निश्चित टकराहट का रूप देने की होती है। खतरा इस अव्यवस्था को इतमीनान के साथ

चुपचाप स्वीकार कर लेने में है। आदर्शों के द्वन्द्व को पहचान सकना तो आत्मा की गहराई में वृद्धि का द्योतक है। द्वन्द्व या टकराहट होती ही तब है जब व्यक्ति आदर्शों के प्रति वास्तव में गंभीर होता है, जब वह प्रत्येक आदर्श को जीवन-मरण का प्रश्न मानता है। हम कभी-कभी किसी भी आदर्श के विषय में वास्तव में गंभीर होने से पहले ही भावुकता में द्वन्द्व की सोचने लगते हैं।

इसी प्रकार हम पूर्वी तथा पश्चिमी आदर्शों के संश्लेषण की माँग के बारे में बोलने की भी जल्दी में रहते हैं। संश्लेषण प्राप्त करने का प्रयास हर मामले में आवश्यक नहीं है। किसी समुदाय के आदर्शों का जन्म उसके पूर्व इतिहास तथा धरती से होता है। वे सार्वभौमिक रूप से सार्थक हों, यह आवश्यक नहीं है और वे अन्य समुदायों को सदा स्वयं प्रकाशित लगते भी नहीं हैं। कुछ ऐसे पश्चिमी आदर्श हैं जिनका हम दूर से आदर तो कर सकते हैं किन्तु जिनके प्रति हमें कोई आकर्षण महसूस नहीं होता। फिर ऐसे आदर्श भी हैं जो एक सीमा तक हमें आकृष्ट करते हैं क्योंकि वे विदेशी होते हुए भी हमारे अपने आदर्शों के निकट होते हैं। ऐसे आदर्शों द्वारा जो कुछ निर्दिष्ट होता है उसे हमें अपनी ही तरह मानना चाहिये। आदर्श को व्यवहार में कैसे उतारा जाय यह हमें अपने समुदाय की प्रकृति के अनुसार तय करना होगा। अपने आदर्शों के साथ संश्लेषण करने की माँग वास्तव में की भी नहीं जाती। जहाँ की जाती है वहाँ विदेशी आदर्श को अपने आदर्श में मिलाना होगा, अपने आदर्श को विदेशी आदर्श में नहीं। किसी भी परिस्थिति में यह माँग कोई नहीं करता कि हम स्वत्व को ही त्याग दें: स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावहः।

ऐसे लोग भी हैं जो किसी इतिहास-जन्य समुदाय के विशिष्टत्व को इस तरह महत्त्व देना अतिवाद मानते हैं। उन्हें यह राष्ट्रीय, साम्प्रदायिक या जातिवादी दम्भ की अभिव्यक्ति और एक विकृत ज्ञान-विरोध को उचित ठहराना प्रतीत होता है। उनका विश्वास पूरी मानवता के लिये स्वयं-प्रकाशित अमूर्त आदर्शों तथा मात्र एक सार्वभौमिक धर्म तथा तर्कबुद्धि में है।

सार्वभौमिक दृष्टिकोण के पक्ष में भी कुछ कहा जा सकता है। किसी समुदाय और मानवता की प्रगति में आदर्शों का क्रमिक साधारणीकरण और एकीकरण निहित होता है। यह तर्कानुकूलन की दिशा में, एक सामान्य तर्कबुद्धि के विकास की ओर, प्रगति है। बुद्धिवाद के दो रूपों और इस साधारणीकरण की प्रक्रिया की दो दिशाओं के बीच अन्तर करना फिर भी आवश्यक है। एक में तर्कबुद्धि आत्मा की प्रसव-वेदना के बाद जन्म लेती है: यहाँ बुद्धिवाद पारम्परिक संस्थाओं में उस निष्ठा का बहिःस्राव है जिसके माध्यम से ही प्रथागत भावनाएँ

पारदर्शी आदर्शों के रूप में गहरी होती हैं। बुद्धिवाद के अधिक प्रचलित दूसरे रूप में, आदर्शों का साधारणीकरण और सामान्यीकरण आध्यात्मिकताहीन प्रज्ञा द्वारा परिहार्य और अपरिहार्य को यान्त्रिक विधि से अलग करके किया जाता है। अपरिहार्यता का निर्णय यहाँ निर्णायक की पसन्द और नापसन्द के आधार पर होता है, निष्ठा अथवा गहन अध्यात्मिक दृष्टि द्वारा नहीं। युगों से चली आ रही प्रथाओं और संस्थाओं को (तर्क के नाम पर) निरर्थक और मृत कहकर ठुकरा दिया जाता है और विनयशील होकर उनका मर्म समझने का कोई कल्पनाशील प्रयास नहीं किया जाता। क्या अपरिहार्य है और क्या नहीं इस बात का निर्णय करना ही होता है क्योंकि समय ठहरता नहीं है, मात्र ऐतिहासिक भावुकता से काम नहीं चलता। व्यावहारिक जीवन में आदर्शों के स्पष्टीकरण से पहले ही कदम उठाने पड़ सकते हैं; फिर भी आदर्शों के क्षेत्र में अनुकूलन के लिये विनयशीलता और धीरज के महत्त्व को स्वीकार करना पड़ेगा। आदर्शों के जगत् में व्यवस्था असीम धीरज तथा विनय द्वारा ही संभव होती है। सही प्रकार का बुद्धिवाद यही है। आदर्शों के क्षेत्र में तर्कबुद्धि के नाम पर अक्खड़ व्यावहारिक निर्णय गलत और असौम्य बुद्धिवाद में लिये जाते हैं।

इस प्रकार बुद्धिवाद का एक वैध एवं बाह्यकर रूप भी है। किसी आदर्श को सरलतर और अपने ही आदर्शों की एक गहनतर अभिव्यक्ति महसूस करते हुए भी उसे केवल इसीलिए अस्वीकार कर देना अनुचित होगा कि वह विदेशी है। ऐसे आदर्श को ठुकराना 'विशिष्टत्व के लिये विशिष्टत्व' पर अड़े रहना और राष्टीय दम्भ तथा ज्ञान-विरोध का एक रूप होगा। उसे अपनाना अपने विशिष्टत्व का बलिदान नहीं है। इस विदेशी देवता को पूजना अपने ही देवता को पूजना है। यह विदेशी आदर्श हमारा अपना आदर्श है। एक सच्चे गुरु को तो यह स्वीकार करना ही होगा, चाहे वह कहीं का हो। किन्तु प्रत्येक विदेशी आदर्श को हम अपने आदर्श का मर्म नहीं मान सकते। कुछ विदेशी आदर्श हमारे आदर्शों के निकट हैं और वस्तुतः उनके ही एक विदेशी मुवाहिरे में वैकल्पिक रूप हैं; कुछ ऐसे हैं जिनकी हमारे परिवेश में कोई सार्थकता नहीं है।

सार्वभौमिक दृष्टिकोण के प्रतिपादक यह भूल जाते हैं कि तर्कबुद्धि तथा धर्म का तथाकथित सार्वभौमिक रूप अभी बन रहा है और उसे एक स्थापित हो चुकी सार्वभौमिक नियमसंहिता के रूप में मानना संभव नहीं है। सार्वभौमिक यदि कुछ है तो अन्य आदर्शों के प्रति खुलापन, यह निश्चय कि यदि वे हमारे आदर्शों के अन्तर्गत हैं तो उन्हें ठुकराना नहीं है और तब तक उन्हें स्वीकार नहीं करना है जब तक इस बात का निर्णय न हो जाय। एक नये आदर्शों के मूल्यांकन

का एक ही तरीका है– अपने वास्तविक आदर्शों के माध्यम से उसे परखना। नयी निष्ठा पाने के लिये पुरानी निष्ठा को अधिक गहरा करना होगा। आध्यात्मिक जगत् में प्रगति निर्लिप्त तर्कबुद्धि द्वारा पुराने तथा नये देवता के बीच चुनाव करने से नहीं होती। तथ्यों को जानने की विधि से मूल्यों का ज्ञान संभव नहीं है।

भारतीय चिन्तन और आत्मा की विशिष्टता तथा भारतीय समाज के युगों लम्बे ऐतिहासिक जीवन द्वारा विकसित मूल्यों की संरक्षा पर मेरे द्वारा बलाघात के विरुद्ध सार्वभौमिक दृष्टि के नाम पर उठाई गई आपत्ति के विषय में इतना काफी है। पाठकों को अमूर्त तर्कों द्वारा थकाने का खतरा मोल लेकर भी मैंने सार्वभौमिक दृष्टि का थोड़ा विशद परीक्षण आवश्यक समझा क्योंकि मेरी समझ में यह दृष्टि ही सबसे बड़ा खतरा है। यह हमारी 'जड़-हीन' शिक्षा का अनिवार्य परिणाम है और जिसे मैं विचारों में स्वराज कहता हूँ उसके मार्ग में यही सबसे बड़ी रुकावट है।

हमारी परिस्थिति में राष्ट्रीय दम्भ तथा अपनी संस्कृति में हर बात का प्रशस्तिगान और अन्य संस्कृतियों की हर चीज़ की निन्दा के दूसरे खतरे पर अधिक ज़ोर देने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा नहीं है कि अमूर्त रूप में यह कम गंभीर खतरा है वरन् इतना ही कि हमारे शिक्षित लोग अति-आत्मविश्वास से नहीं अति-आत्मसंशय से, विशिष्टतावाद से नहीं 'मूलविहीन' सार्वभौमवाद से पीड़ित हैं। दूसरों द्वारा अपने ऊपर दिये गये निर्णयों से क्षुब्ध न होकर हम उन्हें स्वीकार करने को हमेशा तय्यार रहते हैं। जो कुछ हमें पढ़ाया जाय उसे पवित्र मानने की हमारी आदत बहुत पुरानी है। यह आदत आसानी से बदलने वाली नहीं है, चाहे हमें जो पढ़ाया जा रहा है वह मात्र औरों के मत ही क्यों न हों–ऐसे लोगों के मत जो हमारे विषय में कुछ नहीं जानते या जिनकी हमारे प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। हमारे बारे में औरों द्वारा अच्छा या बुरा इतना अधिक लिखा जा रहा है और हमें उपदेश दिये जा रहे हैं कि यह प्रश्न उठाना उचित ही होगा कि क्या इन लेखकों-उपदेशकों को हमारे आन्तरिक जीवन का यथेष्ट ज्ञान भी है? प्रत्यक्षतः किसी भी विदेशी के लिए उस समुदाय के मन को समझना अत्यन्त कठिन होगा जिससे वह परम्परा और इतिहास की दृष्टि से बहुत दूर है तथा जिसके जीवन में वह घुल-मिल नहीं गया है। यह स्वाभाविक ही होगा कि वह समुदाय अपने विषय में ऐसे व्यक्ति के निर्णयों के प्रति मानसिक रूप से साशंक रहे। यदि विदेशी स्पष्टतः अभद्र या अज्ञानी नहीं है तो उसके निर्णय आत्म-निरीक्षण के लिये तो प्रेरित कर सकते हैं किन्तु उन्हें बिना प्रश्न उठाये स्वीकार कर लेने के लिये कोई नहीं कह सकता।

शिक्षा के नाम पर हमें जो कुछ पढ़ाया जा रहा है– इतिहास, दर्शन, नैतिक उपदेश–उसमें ऐसा बहुत कुछ है जो अचेतन या चेतन रूप से विकृत अर्थ वाला या कोरा प्रचार मात्र है। उसमें विदेशी दृष्टिकोण से हमारा, हमारे विगत इतिहास का और हमारी वर्तमान परिस्थिति का मूल्यांकन निहित होता है। उसके प्रति हमारा रुख समीक्षात्मक संशय का होना चाहिये, विनयपूर्वक स्वीकरण का नहीं। इस समीक्षात्मक दृष्टि की हमारे विदेशी शिक्षक, और हमारे अपने शिक्षित लोग भी, असंस्कृत कहकर निन्दा करते हैं, मानों वह उतना ही अक्षम्य अज्ञान हो जैसा ज्यामिति के किसी सत्य को स्वीकार न करने में दिखाई देता है। जहाँ किसी राष्ट्र की शिक्षा विदेशियों के हाथ में होगी वहाँ यह होगा ही। इस हालात में विदेशी मूल्यांकनों का विद्यार्थी पर थोपा जाना और आलोचनात्मक दृष्टि का अवरोध अनिवार्य ही है।

ज्ञान की कुछ शाखाओं, जैसे गणित और प्राकृतिक विज्ञान, के संदर्भ में ऐसे आरोपण का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि उनकी कोई राष्ट्रीयता नहीं होती और न उनमें मूल्यांकन किया जाता है। जहाँ भी मूल्यांकन होगा वहीं निर्णायक की विशिष्टतावादी दृष्टि–राष्ट्रीय, सामुदायिक या जातिवादी के हावी होने का संदेह होगा। एक विदेशी जब अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से हमारी संस्कृति का मूल्यांकन करता है तो वह समीक्षात्मक परीक्षण का विषय होता है, तत्काल स्वीकार कर लेने का नहीं। वह एक उत्तेजना है जिसे हमारी प्रतिक्रिया की आवश्यकता है। इस संदर्भ में मुझे सर जॉन वुडरफ़ की एक बात याद आ रही है। यह स्वाभाविक ही है कि आत्मरक्षात्मक आक्रोश हमारी पहली प्रतिक्रिया हो–इसमें राष्ट्रीय दम्भ निहित हो यह आवश्यक नहीं है। बिना समीक्षा के विनम्र स्वीकरण तो दासता होगी।

आदर्शों के मूल्यांकन के लिये समीक्षात्मक रुख की सबसे अधिक आवश्यकता है। मात्र स्वीकरण यहाँ न केवल अव्यवस्थित ज्ञान उत्पन्न करेगा, वह नैतिक दृष्टि से भी अवांछनीय होगा। वैज्ञानिक सम्प्रत्ययों को छोड़कर–और यहाँ भी संदेह को स्थान है–सभी सम्प्रत्ययों और विचारों पर उन्हें जन्म देनेवाली संस्कृति की स्पष्ट छाप होती है। ऐसे सांस्कृतिक विचारों के प्रति हमारा क्या रुख होना चाहिये ? उन्हें स्वीकार तो करना होगा, किन्तु केवल लक्षणा और प्रतीकों के रूप में जिनका रूपान्तरण हमारे अपने सम्प्रत्ययों में होना है। एक विदेशी भाषा में निबद्ध विचारों की पूरी समझ तभी संभव है जब हम उन्हें अपनी तरह व्यक्त कर सकें। अपनाने या ठुकराने से पहले विदेशी विचारों का अपने निजी विचारों

में एक प्रामाणिक अनुवाद मैं आवश्यक मानता हूँ। हमें सदा अपने ही सम्प्रत्ययों में सोचने का दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए। अपने आप सफल चिन्तन करना हमारे लिये तभी संभव होगा।

राजनीति में तथ्यों ने हमारे शिक्षित लोगों को यह जानने को बाध्य कर दिया है कि जब तक वे जनता को साथ लेकर नहीं चलेंगे तब तक उनके पास भले काम करने की कोई सामर्थ्य नहीं होगी, बूरे काम करने के लिए भले हो हो। अन्य क्षेत्रों में अभी इसका पूरी तरह अहसास नहीं हुआ है। उदाहरण के लियें, सामाजिक क्षेत्र में अनेक लोग अभी भी यह मानते हैं कि वे बाहर से उपदेश देकर प्रस्ताव पास करके या कानून बना कर जनता पर सुधार थोप सकते हैं। विचारों के क्षेत्र में, इस बात का अहसास नहीं के बराबर हैं कि हम प्रभावी ढंग से तभी सोच सकेंगे जब हम इस भूमि पर जन्मे उन विचारों में सोचेंगे जो जनता के जीवन और मन में धड़क रहे हैं। हम अपने देश की वर्ण-व्यवस्था की भर्त्सना तो करते हैं किन्तु हम इस तथ्य की अनदेखी कर जाते हैं कि हम पश्चिमी शिक्षा प्राप्त लोगों का एक ऐसा वर्ग बन चुका है जो पारम्परिक वर्णों से अधिक आभिजात्य और असहिष्णु है। हमें दृढ़ निश्चय के साथ इस नये वर्ण की दीवारों को तोड़ना होगा। हमें वास्तविक भारतीय जन के सांस्कृतिक स्तर की ओर लौटना होगा और उनके साथ मिलकर एक ऐसी संस्कृति विकसित करनी होगी जो हमारे समय तथा जन्मजात प्रतिभा के अनुरूप हो। यही विचारों में स्वराज प्राप्त करना होगा।

—स्व. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

स्वनामधन्य आचार्य, दर्शनशास्त्र
तथा भूतपूर्व प्राचार्य
हुगली कॉलेज, कलकत्ता

—प्रतापचन्द्र
(भाषान्तर)

दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर (म. प्र.)

टिप्पणी : यह व्याख्यान हुगली कॉलेज के विद्यार्थियों के समक्ष दिया गया था जहाँ स्व. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य १९२८–३० में प्रिन्सिपल के पद पर थे। यह निबन्ध उनकी अप्रकाशित कृतियों में प्राप्त हुआ था और **विश्वभारती क्वार्टरली** खण्ड २०, १९५४, पृ. १०३-११४ में इसे अंग्रेजी में प्रकाशित किया गया था। उसका भाषान्तर महात्मा गांधी की पुस्तक *Hind Swaraj* के प्रथम प्रकाशन को ७५ वर्ष पूर्ण होने के सुअवसर पर प्रोफेसर कृष्णचन्द्र भट्टाचार्यजी के सुपुत्र स्व. प्रोफेसर कालिदास भट्टाचार्यजी की अनुमति से प्रकाशित कर रहे हैं। अच्छा होता अगर स्व. कालिदास भट्टाचार्यजी को उनके माननीय पिताजी के निबंध का हिन्दी भाषान्तर देखने को मिला होता। उनके दुःखद निधन पर हृदयपूर्वक शोक प्रदर्शित करते हुए पाठकों से हमारा विनम्र अनुरोध है कि **परामर्श** (हिन्दी) के माध्यम से स्व. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य जी के निबंध पर चर्चा हो और ऐसी चर्चा के द्वारा स्वतंत्र भारत में हम वैचारिक स्वराज प्रस्थापित करने की ओर अग्रसर हों। यही स्व. महात्मा जी, स्व. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्यजी तथा उनके निबन्ध का भाषान्तर प्रकाशित करने की अनुमति देनेवाले उनके सुपुत्र स्व. कालिदास भट्टाचार्य जी को उचित श्रद्धांजलि होगी।

– **कार्यकारी सम्पादक**

'होना' क्रिया का अस्तित्वबोधक अर्थ

—१—

प्रस्तुत लेख में 'होना' क्रिया के अस्तित्वबोधक अर्थ को भाषिक प्रयोग के आधार पर सामान्य दृष्टिकोण से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। सामान्य दृष्टिकोण से अभिप्राय अदार्शनिक और असैद्धांतिक दृष्टिकोण से है। अस्तित्वबोधक क्रिया 'होना' या उसके पर्यायों पर दार्शनिक दृष्टि से जो विचार हुआ है (मूर, १९६५) वह सामान्य दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता है और न भाषिक प्रयोग के अनुरूप ही है (ग्रैहम, १९६५)।

आधुनिक सांकेतिक तर्कशास्त्र में अस्तित्वबोधक क्रियापद को अस्तित्वबोधक क्वांतर (क्वैन्टिफायर) माना जाता है जो पदार्थ और उसके लक्षणों के बीच संबंध स्थापित करता है (अरुत्यूनोवा १९७६, पृ. २०५ लायोन्ज् १९७९, पृ. १५०)। ऐसा समझा जाता है कि अस्तित्वबोधक क्वान्तर प्रतिज्ञप्ति में विधेय नहीं हो सकता है (बेर्का १९६१, पृ. १६४-१६५), वह चिन्ह मात्र है।

अस्तित्वबोधक क्रिया 'होना' की ऐसी व्याख्या सामान्य दृष्टिकोण से बहुत भिन्न है और साथ ही जटिल भी है।

—२—

अस्तित्वबोधक अर्थ में प्रयुक्त होने पर 'होना' क्रिया किसी सत्ता की वास्तविकता का प्रतिपादन करती है (काचरू १९६८, पृ. ३६, ४४)। उदाहरण-स्वरूप

१) ईश्वर है।

इस वाक्य में 'है' क्रियापद- 'होना' क्रिया के सामान्य वर्तमान काल के रूप के द्वारा ईश्वर नामक सत्ता की वास्तविकता का प्रतिपादन किया गया है। व्याकरण की दृष्टि से क्रियापद 'है' यहां विधेय का कार्य कर रहा है। भाषिक प्रयोग सत्ता-ईश्वर-के अस्तित्व की अभिव्यक्ति तक ही सीमित है। स्वयम् सत्ता का अस्तित्व भाषा के अध्ययन का विषय नहीं है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ५, अङ्क ४, सितम्बर, १९८४

भाषिक प्रयोग के आधार पर सामान्य दृष्टि से 'होना' की यही व्याख्या सम्भव प्रतीत होती है।

—३—

हिन्दी में अस्तित्व की अभिव्यक्ति 'है' क्रियापद के अतिरिक्त कृदन्त 'होता' के द्वारा भी होती है जिसके साथ सहायक क्रिया के रूप में 'है' का प्रयोग होता है। उदाहरणस्वरूप

२) ईश्वर होता है।

इसके अतिरिक्त जब 'होना' क्रिया अस्तित्वबोधक अर्थ में प्रयुक्त होती है तब सत्तावाचक शब्द के साथ 'अस्तित्व' संज्ञा का प्रयोग भी हो सकता है। उदाहरणस्वरूप

३) ईश्वर का अस्तित्व है।

४) ईश्वरका अस्तित्व होता है।

प्रस्तुतः इन वाक्यों में 'होना' क्रिया से व्यक्त अस्तित्वबोधक अर्थ की 'अस्तित्व' शब्द के द्वारा पुनरुक्ति हो रही है। अर्थ की पुनरुक्ति होने से क्रिया का अर्थ अधिक प्रबल हो गया है। इन दोनों वाक्यों में 'होना' क्रिया ही विधेय है-वाक्य-३ में 'है' के रूप में तथा वाक्य-४ में 'होता है' के रूप में।

अस्तित्व की अभिव्यक्ति के इन तीन साधनों का अंतर पृथक् अध्ययन का विषय है।

—४—

अस्तित्व का निषेध भी अस्तित्वबोधक अर्थ के अंतर्गत आता है। इसके लिये अस्तित्वबोधक क्रिया के साथ नकरात्मक निपात 'नहीं' का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिये

५) ईश्वर नहीं है। (१)*

(६) ईश्वर नहीं होता है। (२)

(७) ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। (३)

(८) ईश्वर का अस्तित्व नहीं होता है। (४)

—५—

अस्तित्वबोधक अर्थ में 'होना' क्रिया का प्रयोग हर प्रकार की सत्ता की वास्तविकता के प्रतिपादन के लिये नहीं किया जाता है। जो प्रत्यक्ष या सुस्पष्ट होता है उसके अस्तित्व की अभिव्यक्ति की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिये 'होना' क्रिया के अस्तित्वबोधक अर्थ में इस प्रकार के वाक्य सम्भव नहीं है

(९) * जीवन है।
(१०) * पानी है।
(११) * धरती है।
(१२) * थकान है।

हमें इस प्रकार की सत्ता की वास्तविकता का प्रतिपादन या निषेध करने की आवश्यकता पड़ती है जो प्रत्यक्ष या स्वत: स्पष्ट नहीं होती है। 'भूत' 'सत्य', 'न्याय', स्वर्ग', 'नरक' जैसी सत्ताओं की वास्तविकता का प्रतिपादन करने के लिये 'होना' क्रिया अस्तित्वबोधक अर्थ में प्रयुक्त होती है। उदाहरणार्थ

(१३) भूत होता है।
(१४) सत्य होता है।
(१५) प्रेम होता है।
(१६) भूत होते है।
(१७) स्वर्ग होता है।

चूंकि सत्ता के अस्तित्व की अभिव्यक्ति सत्ता की स्पष्टता-अस्पष्टता तथा प्रत्यक्षता-अप्रत्यक्षता से जुड़ी है, इसलिये जब 'होना का अस्तित्वबोधक अर्थ में प्रयोग होता है तब उसके साथ 'वास्तव में', 'वस्तुत:' 'सचमुच' जैसे वृत्तिबोधक शब्द भी प्राय: प्रयुक्त होते है। जैसे

(१८) ईश्वर वास्तव में है।(१)
(१९) ईश्वर वास्तव में नहीं है। (५)
(२०) भूत सचमुच होते हैं।

इस प्रकार के वृत्तिबोधक शब्द वक्ता का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। इसलिये सत्ता के अस्तित्व पर केन्द्रित प्रश्न में इनका प्रयोग और भी अधिक होता है। जैसे--

(२२) क्या ईश्वर वास्तव में है ? (१८)
(२२) क्या भूत सचमुच होते है ? (२०)
(२३) क्या स्वर्ग वास्तव में होता है ? (१७)

अस्तित्व पर केन्द्रित इस प्रकार के प्रश्न वृत्तिबोधक शब्दों के बिना भी वैसे ही रहते हैं, केवल वक्ता का दृष्टिकोण उनमें उतना व्यक्त नहीं होता है। जैसे

(२४) क्या ईश्वर है ? (१)
(२५) क्या भूत होते हैं (१६)
(२६) क्या स्वर्ग है ? (१७)
(२७) क्या संवेदना का अस्तित्व है ?

—६—

सत्ता के अस्तित्व से अभिप्राय उसके निरपेक्ष अस्तित्व से है अर्थात् सत्ता का अस्तित्व स्थान (देश), काल, गुण, संख्या आदि की दृष्टि से सापेक्ष नहीं होता (च्वनी १९७५, पृ. ५६) ऊपर के समस्त उदाहरण इसका प्रमाण हैं।

स्थान, काल गुण, संख्या आदि के वाचक शब्दों को हम व्यापक अर्थ में गुणवाचक कहना चाहेंगे। (ओ. न. सेलिव्यीर्स्तोवा ने इसी प्रकार के अर्थ में देश (रूसी में 'प्रोस्त्रान्स्त्वो') शब्द का प्रयोग किया है, सेलिव्योर्स्तोवा, १९८३)। गुणवाचकों के दो प्रकार किए जा सकते हैं– सार्वत्रिक गुणवाचक और सीमित गुणवाचक (पांडे, १९८३ पृ. २७४)।

सार्वत्रिक गुणवाचक सत्ता के अस्तित्व को स्थान, काल, गुण, संख्या आदि की दृष्टि से सीमित नहीं करते हैं। जब 'होना' क्रिया अस्तित्वबोधक अर्थ में प्रयुक्त होती है तब उसके साथ सार्वत्रिक गुणवाचकों का प्रयोग संभव है। उदाहरणस्वरूप–

२८) ईश्वर सर्वत्र है। (१)
२९) धरती में न्याय है।
३०) संसार में न्याय नहीं है।

इन वाक्यों में प्रयुक्त शब्द 'सर्वत्र', 'धरती में', और 'संसार में' सार्वत्रिक गुणवाचक हैं जो सत्ता के अस्तित्व को वास्तव में निरपेक्ष रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, न कि देश-सापेक्ष रूप में।

इसी तरह निम्नलिखित वाक्यों में आए 'कहीं' और 'कुछ' शब्द भी सार्वत्रिक गुणवाचक हैं–

३१) ईश्वर कहीं नहीं है। (५)
३२) ईश्वर कुछ नहीं है। (५)
३३) स्वर्ग कहीं नहीं है।
३४) क्या ईश्वर कहीं है? (२४)
३५) क्या स्वर्ग कुछ होता है? (२६)

सीमित गुणवाचक सत्ता को स्थान, काल, गुण, संख्या आदि की दृष्टि से सीमित करते हैं। इसलिये इनका प्रयोग ऐसी सत्ता के संदर्भ में होता है जिसका अस्तित्व प्रत्यक्ष या स्वतः होता है। जैसा–

३६) मंगल ग्रह पर जीवन है। (दे. ९)
३७) चंद्रमा पर पानी नहीं है (दे. १०)

इन वाक्यों में सत्ता– जीवन; पानी– को एक सीमित स्थान के संदर्भ में अर्थात् देश-सापेक्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्वयम् सत्ता का अस्तित्व पूर्वमान्य है। 'होना' क्रिया के इस अर्थ पर पृथक् रूप से विचार करने की आवश्यकता है।

–७–

'होना' क्रिया के अस्तित्वबोधक अर्थ पर विचार करने के बाद हम उसे इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं– 'होना' सत्ता की वास्तविकता प्रतिपादन करने वाली क्रिया है। इसके विपरीत शब्दकोशों में 'होना' के अस्तित्वबोधक अर्थ को स्वयम् 'अस्तित्व' शब्द के द्वारा व्यक्त किया जाता है और 'अस्तित्व' शब्द के अर्थ को 'होना क्रिया के द्वारा। उदाहरण के लिये, संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर में 'होना' का एक अर्थ इस प्रकार दिया गया है– "प्रधान सत्तार्थक क्रिया। अस्तित्व रखना", और 'अस्तित्व' का अर्थ इस प्रकार दिया गया है– "सत्ता का भाव। विद्यमानता। होना।" इस तरह 'होना' और 'अस्तित्व' अर्थ की दृष्टि से एक दूसरे पर आश्रित हैं। ऊपर हमारे द्वारा दी गई 'होना' क्रिया की परिभाषा 'अस्तित्व' शब्द का आश्रय लिए बिना दी गई है और इसी आधार पर उसकी व्याख्या भी की गई है।

अस्तित्वबोधक 'होना' क्रिया के साथ सार्वत्रिक गुणवाचकों का प्रयोग हो सकता है।

'होना' क्रिया के अन्य अर्थों पर पृथक् रूप से विचार करने की आवश्यकता है।

–हेमचन्द्र पांडे

रूसी अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली– ११००६७

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

* कोष्ठक में उस वाक्य की संख्या दी गयी है जिसका रूपान्तरण प्रस्तुत वाक्य में हुआ है।

१) अरुत्यूनोवा, नी. द. : प्रेल़ोद्ज़ेनिये ई येवो स्मिस्ल (वाक्य और उसका आशय), मास्को, १९७६.

२) काचरू, यमुना : 'द कोपुला इन हिन्दी', द वर्ब 'बी' ऐण्ड इट्स

सिनोनिम्स, सप्लीमैन्टरी सीरीज, ६, भाग २, सम्पा. जान व. म. फेर्हार, दोर्दरेख्त, १९६९, पृ. सं. ३५-५९.

३) ग्रैहम, अ. स. : 'बीइङ्ग इन लिंग्विस्टिक्स ऐण्ड फिलासफी: अ प्रेलिमिनरी इन्क्वायरी, फाउण्डेशन्स आफ़ लैंग्वेज, ।, १९६५ पृ. सं. २२३-२३१ पुनर्मुद्रित : जान व. म. फेर्हार (सम्पा) : द वर्ब 'बी' ऐण्ड इट्स सिनौनिम्स, सप्लीमैन्टरी सीरीज, खण्ड १४, भाग ५, दोर्दरेख्त, पृ. सं २२५-२३३.

४) च्वानी, कैथरीन व. : आन द सिन्टैक्स आफ़ बी-सेन्टेन्सेज इन रशियन, कैम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स, १९७५.

५) पाँडे, हेमचन्द्र : 'क् सेमान्तिके ग्लागोला सुश्शेस्त्वोवात' ('सुश्शेस्त्वोवात (अस्तित्व, होना) क्रिया का अर्थ') रशियन लिंग्विस्टिक्स, खण्ड ७ अंक ३, १९८३ पृ. २७१-२७६.

६) बेर्का, कारेल : 'फून्क्त्सी ग्लागोला' 'बित' 'स् तोश्कि च्येनियाव्र सोव्रेम्येन्नोइ फोर्माएनोइ लोगिकि' (आधुनिक रूपात्मक तर्कशास्त्र की दृष्टि से 'होना' क्रिया के प्रकार्य), लोगिकोग्राम्मातीचेस्किये ओचेर्कि (तर्कशास्त्रीय-व्याकरणिक निबन्ध), मास्को, १९६१, पृ. सं. १६०-१८०.

७) मूर, ग. ई. : 'इज़ एग्जिस्टेन्स अ प्रेडिकेट' फिलौसोफ़िकल पेपर्स, १९६९; दूसरा संस्करण १९६३, पृ. सं. ११५-१२६.

८) लायोन्ज, जान : सेमान्टिक्स, भाग १, १९७७; पुनर्मुद्रित १९७९.

९) वर्मा, रामचंद्र : संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर, काशी, १९३३; षष्ठ संस्करण १९५८

१०) सेलिव्योस्तोंवा, ओ. नि 'पोन्यातिया "म्नोझेस्त्वो" ई "प्रोस्त्रान्स्त्वो" व् सेमान्तिके सीन्ताक्सिसा' (वाक्य के अर्थ में "समुच्चय" और "देश" की संकल्पनाओं का स्थान), स्येरिया लितेरातूरि ई याज़िका, खण्ड ४२, संख्या २, १९८३, पृ. सं. १४२-१५०.

परामर्श (हिन्दी) : खण्ड ५ के योगदाता

अंक १ : दिसम्बर, १९८३

योहन फाईस	—धर्मान्तरण का वह विवादास्पद प्रश्न
राजदेव दुबे	—स्मृतिकार याज्ञवल्क्य और दर्शन
छाया राय	—देवात्मा का नीतिदर्शन
विनोदकुमार कटारे	—हेराक्लाइटस की 'बिकमिंग' की अवधारणा का समालोचनात्मक अध्ययन
अतुलकुमार सिन्हा	—'शुभ' की अवधारणा तथा मानव-स्वभाव के साथ उसके अन्तःसंबंधों की विवेचना
राजकुमार छाबडा	—सत् का लक्षण : अर्थक्रियाकारित्व
राममूर्ति त्रिपाठी	—आचार्य अभिनवगुप्तपाद : साहित्य सिद्धान्त
जगदीश शर्मा	—साहित्य और इतिहास

अंक २ : मार्च, १९८४

यशदेव शल्य	—सत्ता और पर्याप्तता
सुरेन्द्रकुमार	—दर्शन और कविता
मो. प्र. मराठे	—धर्मान्तरण और डॉ. फाईस
छाया शर्मा	—ज्ञान का स्वरूप एवं प्रामाण्य : जैन मत
गोविन्द प्रसाद	—अनुभव-प्रक्रिया का वास्तविक स्वरूप

अंक ३ : जून, १९८४

यशदेव शल्य	—प्राकृतिक जगत्
रामदास पाण्डेय 'गंभीर'	—अस्तित्ववाद : उद्भव, परिभाषा एवं विशेषताएँ
के. एल्. शर्मा	—मीमांसा का अर्थवाद और कुछ दार्शनिक समस्याएँ
स्वयम्प्रकाश पाण्डेय	—स्याद्वाद की प्रतिरक्षा
नरेशप्रसाद तिवारी	—चार्वाक दर्शन का उत्स—वेद और उपनिषद्

अंक ४ : सितम्बर, १९८४